सम्पत्ति-शास्त्र ।

प्रणेता

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

१९१६

[तृतीयावृत्ति] [मूल्य २॥)

समर्पण ।

अशेष-गुण-सम्पन्न, विविध-विद्यानुरागी, प्रजारञ्जक,
सज्जनस्नेही

झालावाड़-नरेश श्रीमन्महाराजाधिराज

राजराना श्रीभवानीसिंह महोदय,
के० सी० एस० आई० ।

के

कर-कमल में सादर
समर्पित ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

सूचीपत्र ।

चौथा भाग—सम्पत्ति का विनिमय ।

—:o:—

पाँचवाँ भाग—सम्पत्ति का वितरण ।

—:o:—

छठा भाग—सम्पत्ति का उपभोग ।

—:o:—

सातवाँ भाग—देशों की आर्थिक अवस्था की तुलना ।

—:o:—

परिच्छेद	विषय	पृष्ठ

उत्तरार्द्ध

पहला भाग—व्यावसायिक बातें।

—:०:—

दूसरा भाग—साख, बैंकिंग् और बीमा।

—:०:—

तीसरा भाग—व्यापार।

—:०:—

भूमिका ।

—:०:—

हिन्दुस्तान सम्पत्तिहीन देश है। यहाँ सम्पत्ति की बहुत कमी है। जिधर आप देखेंगे उधर ही आपको दरिद्र-देवता का अभिनय, किसी न किसी रूप में, अवश्य ही देख पड़ेगा। परन्तु इस दुर्दमनीय दारिद्र को देख कर भी कितने आदमी ऐसे हैं जिन को उसका कारण जानने की उत्कण्ठा होती हो? यथेष्ट भोजन-वस्त्र न मिलने से करोड़ों आदमी जो अनेक प्रकार के कष्ट पा रहे हैं उनका दूर किया जाना क्या किसी तरह सम्भव नहीं? गली-कूचों में, सब कहीं, धनाभाव के कारण जो कारुणिक क्रन्दन सुनाई पड़ता है उसके बन्द करने का क्या कोई इलाज नहीं? हर गाँव और हर शहर में जो अस्थि-चर्म्मावशिष्ट मनुष्यों के समूह के समूह आते जाते देख पड़ते हैं उनकी अवस्था उन्नत करने का क्या कोई साधन नहीं? बताइए तो सही, कितने आदमी ऐसे हैं जिनके मन में इस तरह के प्रश्न उत्पन्न होते हों? उत्तर यही मिलेगा कि बहुत कम आदमियों के मन में। यदि कुछ लोगों को ये बातें खटकती भी हैं तो उनमें से बहुत कम यह जानते हैं कि इस सारे दुख-दर्द का कारण क्या है। बिना सम्पत्तिशास्त्रीय ज्ञान के इसका यथार्थ कारण जानना बहुत कठिन है, और, सम्पत्तिशास्त्र किस चिड़िया का नाम है, यह भी हम लोग नहीं जानते। जानते सिर्फ़ वही मुट्ठी भर लोग हैं जिन्हों ने कालेजों में अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा पाई है। पर तीस करोड़ भारतवासियों के सामने उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोगों की संख्या दाल में नमक के बराबर भी तो नहीं। अतएव सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रचार की यहाँ बहुत बड़ी ज़रूरत है।

सम्पत्ति-शास्त्र पढ़ने, और उसपर विचार करके उसके सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करने, से यहाँ की दरिद्रता थोड़ी बहुत ज़रूर दूर हो सकती

है । अच्छी तरह शिक्षा न मिलने और सम्पत्तिशास्त्र का ज्ञान न होने से हम लोग अपनी कमज़ोरियों को नहीं जान सकते; और देश की दशा क्यों ख़राब हो रही है, इसके कारणों को नहीं समझ सकते । बिना निदान का ज्ञान हुए किसी रोग की चिकित्सा नहीं हो सकती । इतिहास इस बात की गवाही दे रहा है कि जिन देशों या जिन जातियों ने अपनी आर्थिक बातों का विचार नहीं किया—अपने देश के कला-कौशल और उद्योग-धन्धे की उन्नति के उपाय नहीं सोचे—उनकी दुर्दशा हुए बिना नहीं रही । अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारना ही इस समय हम लोगों का प्रधान कर्तव्य है । अनेक रोगों से पीड़ित और अभिभूत इस हिन्दुस्तान के लिए इस समय यही सबसे बड़ी ओषधि है । यदि यह ओषधि उपयोग में न लाई गई तो हमारी और भी अधिक दुर्दशा होने में कोई संदेह नहीं । अतएव भारतवासियों को यदि दुनिया की अन्यान्य जातियों में अपना नाम बना रखने की ज़रा भी इच्छा हो तो उन्हें चाहिए कि वे सम्पत्तिशास्त्र का अध्ययन करें, और सोचें कि कौन बातें ऐसी हैं जो हमारी उन्नति में बाधा डाल रही हैं । इँगलेंड में छोटे छोटे बच्चों तक को भी सम्पत्तिशास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्त सिखलाये जाते हैं । वहाँ के विद्वानों की राय है कि अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध किसी को भी सम्पत्तिशास्त्रीय ज्ञान से वञ्चित रखना बुद्धिमानी का काम नहीं । क्यों न, फिर, इँगलेंड दुनिया भर में सबसे अधिक सम्पत्तिमान् हो ?

जितने शास्त्र हैं सब की रचना धीरे धीरे हुई है । कोई शास्त्र एक दम ही नहीं बना । दुनिया में अनेक प्रकार के व्यवहार होते हैं । जिसको जो व्यवहार अच्छा लगता है वह उसे ही करता है । प्रत्येक व्यवहार का भला या बुरा जैसा परिणाम होता है तदनुसार ही लोग उसका अनुगमन या त्याग करते हैं । लाभदायक व्यवहारों को वे स्वीकार कर लेते हैं और हानिकारक व्यवहारों को छोड़ देते हैं । हर आदमी अपने तजरुबे से लाभ उठाता है । धीरे धीरे इन्हीं तजरुबों की मदद से शास्त्र बनते हैं । पहले मनुष्यों के अनुभव के अनुसार साधारण नियम निश्चित होते हैं; फिर, कुछ समय बाद, उन्हीं नियमों के एकीकरण से शास्त्र की उत्पत्ति होती है । वैद्यकशास्त्र, भाषाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, कृषिशास्त्र, सम्पत्तिशास्त्र आदि शास्त्र सब इसी तरह बने हैं ।

प्रति दिन के व्यवहार में हम लोग जो बातें करते हैं उनका सम्पत्ति-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि बिना सम्पत्तिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किये वे सब बातें नहीं हो सकतीं। हो ज़रूर सकती हैं, पर उनमें भूलें होने का डर रहता है। शास्त्रीय ज्ञान की बदौलत भूलें नहीं होतीं और होती भी हैं तो बहुत कम। शास्त्रज्ञान होने से सारे व्यावहारिक काम, चाहे वे राजकीय हों चाहे सम्पत्तिविषयक, अच्छी तरह हो सकते हैं। उनसे हानि की संभावना कम रहती है। चाहे जो काम हो, वह निर्भ्रान्त तभी हो सकेगा जब उसका कार्य्य-कारण-भाव और उत्पत्ति अच्छी तरह समझ में आ जायगा। इसी से शास्त्र का अध्ययन आवश्यक समझा जाता है।

अनेक प्रकार के व्यवहारों से जो अनुभव हुए हैं—जो तजरुबे हुए हैं—उन्हीं के आधार पर सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं। शास्त्र की दृष्टि से ये सिद्धान्त सब सच हैं। तथापि, विशेष प्रसङ्ग आने पर, किसी विशेष स्थिति का विचार जब इन सिद्धान्तों के अनुसार करना होता है तब और भी अनेक बातों की तरफ़ ध्यान देना पड़ता है। देश-स्थिति, समाज-स्थिति, राज्य-प्रणाली आदि का विचार करके सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त प्रयोग में लाये जाते हैं। दूर तक विचार किये बिना इस शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रयोग से कभी कभी भूलें होने की संभावना रहती है। परन्तु ऐसी भूलों से शास्त्रीय नियम भ्रान्तिपूर्ण नहीं माने जा सकते। व्यवहार में नियमों के अनुसार अनुभव न होने के कारण उपस्थित हो जाते हैं। उनका पता लगाने से मालूम हो जाता है कि क्यों नियमानुसार अनुभव नहीं हुआ? कहाँ कौन सी भूल हुई? अतएव शास्त्र की अखण्डनीयता में बाधा नहीं आती। शास्त्र का काम केवल सत्य-विवेचन है। उसमें यदि अन्तर आ जाय तो शास्त्र को दोष न देकर उस अन्तर का कारण ढूँढ़ना चाहिए। फिर सम्पत्तिशास्त्र एक नया शास्त्र है। उसकी उत्पत्ति हुए अभी दो ही तीन सौ वर्ष हुए। अभी उसे परिपक्व अवस्था नहीं प्राप्त हुई। जैसे जैसे व्यावहारिक अनुभव बढ़ता जाता है तैसे तैसे इसके सिद्धान्तों में परिवर्तन होता जाता है। इस के किसी सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई बात होती न देख पड़े तो

आश्चर्य्य न करना चाहिए। ऐसे उदाहरणों से इसके शास्त्रत्व में शङ्का करना उचित नहीं।

सांसारिक व्यवहार में सम्पत्तिशास्त्र का उपयोग पद पद पर होता है। प्रत्येक राजकीय, सामाजिक, व्यावहारिक और व्यापारविषयक बात का विवेचन करने में इस शास्त्र की थोड़ी बहुत ज़रूरत ज़रूर ही पड़ती है। कुछ समय से इस देश में उद्योग-धन्धे, कला-कौशल और राजनीति आदि विषयों की चर्चा पहले की अपेक्षा अधिक होने लगी है। अतएव ऐसे समय में इस शास्त्र के सिद्धान्तों का जानना तो बहुत ही आवश्यक है। बिना इसके तत्त्वों को समझे जो लोग इन विषयों की चर्चा करते हैं उनसे कभी कभी बड़ी ही हास्यजनक भूलें हो जाती हैं। यह शास्त्र यद्यपि कठिन और नीरस है, तथापि है बड़े महत्त्व का। देश की साम्पत्तिक दशा सुधारने और उससे सम्बन्ध रखनेवाले विषयों का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसका अध्ययन सबसे अधिक प्रयोजनीय है।

इन्हीं बातों के ख़याल से हमने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया है। पहले हमने सम्पत्तिशास्त्र-सम्बन्धी कई लेख "सरस्वती" में प्रकाशित किये। हमारा पहला लेख फ़रवरी ०७ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ। उसके बाद आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की पत्रिका की जनवरी और एप्रिल ०७ की संख्याओं में "अर्थशास्त्र" नामक छोटे छोटे कई "पाठ" प्रकाशित हुए। ये संख्यायें यद्यपि जनवरी और एप्रिल की थीं, तथापि प्रकाशित आगस्ट ०७ में हुईं। इसी से इन पाठों को हमने अपनी लेखमाला के बाद का माना है। इसके अनन्तर पण्डित गणेशदत्त पाठक की "अर्थशास्त्र-प्रवेशिका" नामक एक छोटी सी पुस्तक इंडियन प्रेस, प्रयाग, से प्रकाशित हुई। बीच में हमने एक और अर्थशास्त्रविषयक पुस्तक का विज्ञापन अजमेर के "राजस्थान-समाचार" में पढ़ा था। उसमें लिखा था कि यह पुस्तक शीघ्र ही छपकर प्रकाशित होगी। इस पर हमने प्रकाशक महाशय को लिखा कि जैसे ही यह पुस्तक तैयार हो, इसकी एक कापी हमें वी० पी० द्वारा भेज दी जाय। परन्तु न यह पुस्तक हमारे पास आई और न यही मालूम हुआ कि वह छपी या नहीं। इन बातों के लिखने से हमारा एक मतलब है। इनसे

सूचित होता है कि सम्पत्तिशास्त्र-विषयक पुस्तकों के प्रकाशित किये जाने की लोगों को ज़रूरत मालूम होने लगी है। इस ज़रूरत को पूरा करने—इस अभाव को दूर करने—की, जहाँ तक हम जानते हैं, सब से पहले पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए०, ने चेष्टा की। हिन्दी में अर्थशास्त्र-सम्बन्धी एक पुस्तक लिखे आपको बहुत दिन हुए। परन्तु पुस्तक आपके मन की न होने के कारण उसे प्रकाशित करना आपने उचित नहीं समझा। आपकी राय है कि अर्थशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसमें इस देश की साम्पत्तिक अवस्था का विचार विशेष प्रकार से किया गया हो। यहाँ की स्थिति के अनुसार सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग करके उनके फलाफल का विचार जिस पुस्तक में न किया जायगा वह, आपकी सम्मति में, यथेष्ट उपयोगी न होगी। आपका कहना बहुत ठीक है। आपको जब हमने लिखा कि सम्पत्तिशास्त्र पर हम एक पुस्तक लिखने का इरादा रखते हैं तब आपने प्रसन्नता प्रकट की और अपनी हस्तलिखित पुस्तक हमें भेज दी। उससे हमने बहुत लाभ उठाया है। एतदर्थ हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं।

सम्पत्तिशास्त्र को अँगरेज़ी में "पोलिटिकल इकानमी" कहते हैं। इस देश में किसी किसी ने इसका नाम अर्थशास्त्र रक्खा है। परन्तु यह नाम इस शास्त्र का ठीक वाचक नहीं जान पड़ता। क्योंकि "अर्थ" शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। केवल हिन्दी जानने वालों के मन में "सम्पत्ति" या "धन" शब्दों के सुनने से तत्काल जो भाव उदित हो सकता है वह "अर्थ" शब्द के सुनने से नहीं हो सकता। "धनविज्ञान" "सम्पत्तिविज्ञान", या "सम्पत्तिशास्त्र" यदि इस शास्त्र का नाम रक्खा जाय तो वह इस शास्त्र के उद्देश का विशेष बोधक हो, और साधारण आदमियों की भी समझ में उसका मतलब झट आ जाय। "अर्थशास्त्र" कहने से यह बात नहीं हो सकती। इसी से हमने इस पुस्तक का नाम "सम्पत्तिशास्त्र" रखना उचित समझा।

जिन पुस्तकों के अध्ययन, अवलोकन और साहाय्य से हम इस पुस्तक के लिखने में समर्थ हुए हैं उनके लिखनेवालों के हम बहुत ऋणी हैं। उनके नाम आदि हम नीचे देकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं:—

नंबर	नाम	भाषा	लेखक
१	प्रिंसिपल्स आव् पोलिटिकल इकानमी	अँगरेज़ी	जान स्टुअर्ट मिल
२	प्रिंसिपल्स आव् इकनामिक्स ..	,,	ए० मार्शल
३	पोलिटिकल इकानमी . .	,,	एफ़० ए० वाकर
४	पोलिटिकल इकानमी फ़ार बिगिनर्स	,,	एम० जी० फ़ासेट (स्त्री)
५	लैंड रेविन्यू पालिसी आव् गवर्नमेंट	,,	गवर्नमेंट आव् इंडिया
६	इन्डस्ट्रियल इंडिया	,,	जी० बारलो
७	इकनामिक हिस्ट्री आव् ब्रिटिश इंडिया	,,	आर० सी० दत्त
८	इंडिया इन दि विक्टोरियन एज	,,	,, ,,
९	इसेज़ आन इंडियन इकनामिक्स...	,,	महादेव गोविन्द रानडे
१०	धनविज्ञान	बँगला	श्रीगिरीन्द्रकुमार सेन
११	वाणिज्य	,,	,, ,, ,,
१२	इल्मुलइक्तसाद	उर्दू	शेख़ महम्मद इक़बाल
१३	कीमियाय-दौलत	,,	मौलवी महम्मद ज़काउल्ला
१४	अर्थशास्त्र	मराठी	विट्ठल लक्ष्मण कवठेकर
१५	अर्थशास्त्राचीं मूलतत्वें	,,	गणेश जनार्दन आगाशे
१६	अर्थशास्त्रनी वातो	गुजराती	मदनभाई खल्लूभाई मुन्सिफ़
१७	अर्थशास्त्र	,,	अंबालाल साकरलाल देसाई

इसके सिवा, अनेक समाचारपत्रों और मासिक पुस्तकों में, समय समय पर, सम्पत्तिशास्त्र-विषयक जो लेख निकले हैं और हमारे देखने में आये हैं उनसे भी हमने सहायता ली है। व्यापार आदि से सम्बन्ध रखने वाली गवर्नमेंट की कितनी ही रिपोर्टों से भी हमने सामग्री एकत्र की है।

यद्यपि हमने पूर्वोक्त पुस्तकों और समाचारपत्रादिकों का मन्थन करके यह पुस्तक लिखी है, तथापि इसमें जिन बातों का विचार हमने किया है और जो सिद्धान्त हमने निकाले हैं उनकी ज़िम्मेदारी सर्वथा हमारे ही ऊपर है। क्योंकि हमने और ग्रन्थकारों की सिर्फ़ वही बातें ग्रहण की हैं जिन्हें हमने निर्भ्रान्त समझा है, अथवा जो इस देश की साम्पत्तिक अवस्था पर घटित हो सकती हैं। हिन्दुस्थान की स्थिति बहुत विचित्र है। उसकी साम्पत्तिक अवस्था

में कई तरह का अनोखापन है। पाश्चात्य सम्पत्तिशास्त्र के कितने ही नियम ऐसे हैं जिनका अनुसरण करने से पश्चिमी देशों का तो लाभ है, पर हिन्दुस्तान की सर्वथा हानि है। ऐसे नियमों को हमने त्याज्य समझा है और पाश्चात्य सम्पत्तिशास्त्र का वहीं तक अनुसरण किया है जहाँ तक हमने, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार, इस देश का लाभ देखा है। जहाँ हमने पाश्चात्य सिद्धान्तों के प्रयोग से इस देश का हितविरोध देखा है वहाँ, जो कुछ हमने लिखा है, सब अपनी तरफ़ से लिखा है। कई एक परिच्छेद तो हमने अपनी निज की कल्पना से बिलकुल ही नये लिखे हैं। सम्पत्तिशास्त्र का आधार व्यवहार है। प्रत्येक देश के व्यवहार में अन्तर होता है। इस शास्त्र के कितने ही नियम ऐसे हैं जिन्हें इँगलेंड के सम्पत्तिशास्त्री मानते हैं, पर फ्रांस के नहीं मानते। कितने ही नियमों को फ्रांस वाले मानते हैं, पर जर्मनी वाले नहीं मानते। जिन कितने ही सिद्धान्तों को योरप वाले ग्राह्य समझते हैं, उन्हीं को अमेरिका वाले त्याज्य समझते हैं। जब पाश्चात्य देशों ही का यह हाल है तब उनके निश्चित किये हुए नियमों का सम्पूर्ण अनुसरण हिन्दुस्तान के लिए कदापि लाभकारी नहीं हो सकता। इस बात को हमने हमेशा ध्यान में रक्खा है और जो सिद्धान्त इस देश के लिए लाभ-जनक नहीं मालूम हुए उनको हमने नहीं स्वीकार किया। हम नहीं कह सकते कि इसमें हम कहाँ तक कृतकार्य्य हुए हैं। हाँ इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि पुस्तक को इस देश की दशा के अनुरूप बनाने में हमने कोई बात उठा नहीं रक्खी। यहाँ के प्रतिष्ठित विद्वानों की राय है कि इस देश के लिए सम्पत्तिशास्त्र-विषयक वही पुस्तक उपयोगी होगी जो देश की आर्थिक अवस्था को ध्यान में रख कर लिखी जायगी। कुछ समय हुआ हमने कहीं पढ़ा था कि कलकत्ते में जो इंडियन कौंसिल आव् इजुकेशन नाम की एतद्देशीय-शिक्षा-सम्बन्धिनी समिति स्थापित हुई है वह ऐसी ही एक पुस्तक लिखाने की फ़िक्र में है। मालूम नहीं, पुस्तक लिखी गई या नहीं।

इस पुस्तक को पहले हमने पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध नामक दो खण्डों में विभक्त किया है। फिर प्रत्येक खण्ड को विषयानुसार कई भागों में बाँटकर, एक एक विषयांश का विवेचन अलग अलग परिच्छेदों में किया है। पूर्वार्द्ध

के सात भाग किये हैं, उत्तरार्द्ध के पाँच। पूर्वार्द्ध में सत्ताईस परिच्छेद हैं, उत्तरार्द्ध में बीस। इस प्रकार समग्र पुस्तक बारह भागों और सैंतालीस परिच्छेदों में समाप्त हुई है। प्रथमार्द्ध में सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि, विनिमय और वितरण आदि का विवेचन करके सम्पत्ति के उपभोग और देशों की आर्थिक अवस्था की तुलना की है। पुस्तकारम्भ में इस बात का भी विचार किया है कि इस देश में सम्पत्तिशास्त्र के अभाव का कारण क्या है, और इस शास्त्र को शास्त्रत्व की पदवी दी जा सकती है या नहीं। द्वितीयार्द्ध में साख, बैंकिंग, बीमा, व्यापार, कर और देशान्तरगमन का विचार करके सम्भूय-समुत्थान, हड़ताल और द्वारावरोध आदि पर भी एक एक परिच्छेद लिखा है। व्यापार-विषय को हमने अधिक विस्तार के साथ लिखना आवश्यक समझा है; क्योंकि यह विषय बड़े महत्त्व का है। इसे सात परिच्छेदों में बाँट कर व्यापार-विषयक प्रायः सभी आवश्यक बातों पर विचार किया है। गवर्नमेंट की व्यापार-व्यवसाय-विषयक नीति और बन्धनरहित तथा बन्धन-विहित व्यापार पर एक एक परिच्छेद अलग लिखा है। इस पुस्तक में कहीं कहीं पहले कही गई बातों की पुनरुक्ति देख पड़ेगी। इसका कारण यह है कि इस शास्त्र के कितने ही प्रकरण एक दूसरे से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इससे कभी कभी एक प्रकरण की बातों को और प्रकरणों में फिर फिर से दोहराना पड़ा है।

सम्पत्तिशास्त्र का विषय बहुत ही गहन और कठोर है। वादग्रस्त बातें भी इसमें अनेक हैं। अँगरेज़ी में इस विषय की जो मुख्य मुख्य पुस्तकें हैं उनके लिखनेवालों के मत में कहीं कहीं भिन्नता है। कोई किसी सिद्धान्त को नहीं मानता, कोई किसी को। किसी किसी ग्रन्थ में इस मतभिन्नत्व का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। सम्पत्तिशास्त्र के ज्ञाताओं में अब तक परस्पर शास्त्रार्थ जारी है। हमारा पहले यह इरादा था कि वादग्रस्त विषयों का भी इस पुस्तक में उल्लेख किया जाय, और यह दिखलाया जाय कि किस ग्रन्थ-कार का किस विषय में क्या मत है। परन्तु ऐसा करने से पुस्तक का विस्तार बहुत बढ़ जाता; पुस्तक विशेष जटिल और क्लिष्ट भी हो जाती। इससे हमने इस विचार को रहित कर दिया।

इस शास्त्र की यूरप और अमेरिका में बड़ी महिमा है। पर यहाँ कालेजों में जो लोग शिक्षा पाते हैं विशेष करके उन्हीं को इस शास्त्र के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त होता है। केवल स्वदेशी भाषायें जाननेवालों के लिए इस शास्त्र का अच्छा ज्ञान होना प्रायः दुर्लभ है। सन्तोष की बात है, कुछ दिनों से लोगों का ध्यान इस शास्त्र की शिक्षा की ओर जाने लगा है। बम्बई के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने इस शास्त्र की कुछ पुस्तकों का अनुवाद मराठी में कराया है। पूना की दक्षिणा प्राइज़ कमिटी ने भी एक आध अँगरेज़ी पुस्तक का अनुवाद मराठी में कराकर अनुवादक को इनाम भी दिया है। पर और प्रान्तों में सम्पत्तिशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें इस देश की भाषाओं में लिखाने के लिए अधिकारियों, अथवा अन्य समर्थ आदमियों, अथवा सभा-समाजों ने विशेष चेष्टा नहीं की। तिस पर भी उर्दू, बँगला और गुजराती भाषाओं में इस विषय की कई पुस्तकें प्रकाशित हो गई हैं। रही बेचारी हिन्दी, सो उसकी उन्नति की तरफ़ तो हमारे प्रान्तवासी बिलकुल ही उदासीन से हो रहे हैं। फिर उसमें सम्पत्तिशास्त्र-विषयक पुस्तकें लिखने और लिखाने की चेष्टा कैसे हो।

सम्पत्तिशास्त्र इतने महत्त्व का है कि इस पर पुस्तकें लिखना सब का काम नहीं। जिन्होंने इस शास्त्र का अच्छी तरह अँगरेज़ी में अध्ययन किया है, और जिन्होंने देश की साम्पत्तिक अवस्था पर अच्छी तरह विचार भी किया है, वही इस काम के योग्य समझे जा सकते हैं। हम इन गुणों से सर्वथा हीन हैं। इस विषय की पुस्तक लिखने की हममें कुछ भी योग्यता नहीं। यहाँ पर हमसे यह पूछा जा सकता है कि यदि यह बात है तो क्यों तुमने इस पुस्तक के लिखने की धृष्टता की? इसके उत्तर में हमारा यह निवेदन है कि हमारे इस चापल्य का कारण—"अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः"—लोकोक्ति में कहा गया सिद्धान्त है। जिनमें सम्पत्तिशास्त्र-विषयक अच्छी पुस्तक लिखने का सामर्थ्य है वे हिन्दी पढ़ना तक पाप समझते हैं, हिन्दी में पुस्तकें लिखने की बात तो दूर रही। इस दशा में हमारे सदृश अयोग्य जन भी यदि अपने सामर्थ्य के अनुसार इस शास्त्र के स्थूल सिद्धान्त हिन्दी में लिखकर उनके प्रचार का यत्न करें तो कोई दोष की बात नहीं। इसके लिए

यदि किसी को दोष दिया जा सकता है तो उन्हीं को दिया जा सकता है जो इस शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखकर भी उससे अपने देश-भाइयों को कुछ भी लाभ पहुँचाने का यत्न नहीं करते। जब योग्य जन अपने कर्तव्य का पालन करने लगेंगे तब अयोग्यों को उनके सामने कृलम उठाने का कभी साहस ही न होगा। जब तक हिन्दी का सौभाग्योदय न हो—जब तक हमारे उच्च शिक्षा प्राप्त सज्जन हिन्दी को अनादर की दृष्टि से देखना बन्द न करें—तब तक अल्पज्ञ, अयोग्य, अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित लोग, किसी प्रकार का कहीं से अत्यल्प उत्साह न पाकर भी, यदि हिन्दी में सम्पत्तिशास्त्र की तरह के गहन शास्त्रीय विषयों पर लेख लिखने की ढिठाई करें, तो उन पर खड्गपाणि होना न्याय्य नहीं।

हम जानते हैं—हमें विश्वास है, और पूरा विश्वास है—कि इस पुस्तक में हमसे अनेक त्रुटियाँ हुई होंगी; इसमें अनेक दोष रह गये होंगे; इसमें अनेक बातें हम कुछ की कुछ लिख गये होंगे। पर हम उनके लिए क्षमा नहीं माँगते। अपनी अयोग्यता को जान कर भी जब हमने ऐसे काम में हाथ डाला, तब क्षमा माँगने से मिल भी तो नहीं सकती। क्षमा न माँगने का एक कारण और भी है। वह यह कि हमारी त्रुटियों से हमारी प्यारी हिन्दी को कुछ लाभ पहुँचने की आशा है। संभव है, उन्हें देख कर किसी योग्य विद्वान् को हिन्दी पर दया आवे, और उसके उदारहृदय में सम्पत्ति-शास्त्र पर एक निर्दोष, निर्भ्रान्त और निरुपम पुस्तक लिखने की इच्छा उत्पन्न हो। यदि हमारी यह संभावना, कभी किसी समय, फलीभूत हो जाय तो हम समझेंगे कि हमारी इस त्रुटिपरिपूर्ण पुस्तक ने बड़ा काम किया।

जुही, कानपुर
१५ दिसम्बर १९०७

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

सम्पत्ति-शास्त्र ।

(पूर्वार्द्ध)
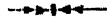
पहला भाग ।

विषय-प्रवेश ।
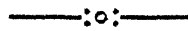
पहला परिच्छेद ।

भारतवर्ष में सम्पत्ति-शास्त्र के अभाव का कारण ।

पहुँचे हुए महात्माओं और योगियों को छोड़कर, कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसे सम्पत्तिमान् होने की इच्छा न हो? जो सम्पत्ति को कुछ नहीं समझते, जिनकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला और अकबरी अशरफ़ी तुल्य हैं; ऐसे लोग, इस ज़माने में, शायद लाख में कहीं एक हों। संसार में रहकर सम्पत्ति का पचड़ा सब के पीछे लगा हुआ है। बिना थोड़ी बहुत सम्पत्ति के संसार में रह कर कालक्षेप करना बिलकुल ही असम्भव है। जो सम्पत्ति इतनी महत्त्वमयी है और जिसकी कृपा बिना बड़े बड़े विद्वानों, बड़े बड़े विज्ञानियों, बड़े बड़े पण्डितों को भी सम्पत्तिमानों का आश्रय लेना पड़ता है, उसका शास्त्रीय विचार संस्कृत-साहित्य में न देख कर आश्चर्य्य होता है। भारतवर्ष के जिन प्राचीन ग्रन्थकारों ने गहन से भी गहन और क्लिष्ट से भी क्लिष्ट विषयों के विवेचन से भरे हुए ग्रन्थ लिख डाले उन्होंने सम्पत्ति-सम्बन्धी इस इतने बड़े महत्त्वपूर्ण विषय पर एक सतर तक न लिखी! आश्चर्य्य की बात ही है। परन्तु सम्पत्ति की महिमा भारतवर्ष के निवासियों की दृष्टि में अभी बहुत पुरानी नहीं। इस देश के तत्त्वदर्शी पण्डित सम्पत्ति को कोई चीज़ ही नहीं

समझते थे। लक्ष्मी को उन्होंने हमेशा तुच्छ दृष्टि से देखा है। यदि एक ने उसे स्पृहणीय कहा है तो दस ने त्याज्य। उसे तृणवत् मानने ही में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा समझी है। उसे अनेक अनर्थों का मूल बतलाने ही में उन्होंने संसार का भला सोचा है। फिर भला ऐसी अनर्थकरी सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के नियम वे क्यों बनाते ? क्यों ऐसे अनुचित काम में अपने बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करते ? क्यों सम्पत्ति-शास्त्र की रचना और प्रचार से अनेक आपदाओं की उत्पत्ति का बीज बोते ? जो सम्पदा, जो लक्ष्मी, ईश्वर-प्राप्ति में बाधा डालती है उस पर ग्रन्थ लिखने बैठना क्यों वे पसन्द करते ? इसी से सम्पत्ति-शास्त्र की रचना के बखेड़े में वे नहीं पड़े। अनुमान से यही मालूम होता है।

शासन, राजकीय व्यवस्था और व्यापार से सम्पत्ति-शास्त्र का गहरा सम्बन्ध है। यह वह शास्त्र है जो राज्य-शासन, सार्वजनिक उद्योग-धन्धा और व्यापार के तत्त्वों से लबालब भरा हुआ है। इस शास्त्र के नियमों का विचार करने में व्यवहार-सम्बन्धी प्रायः सभी बातों का विचार करना पड़ता है। शासन और व्यापार की बुनियाद व्यवहार ही है। अतएव व्यवहार की बातों को महत्त्व दिये बिना—उनके सिद्धान्त ढूँढ़ निकालने की फ़िक्र किये बिना—सम्पत्ति-शास्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसीसे मुसल्मानों की प्रभुता के ज़माने में भी, इस देश में, सम्पत्ति-शास्त्र की तरफ़ लोगों का ध्यान नहीं गया। मुसल्मान बादशाहों ने धार्म्मिक बातों ही को प्रधानता दी। जो समय लड़ने भिड़ने से बचा उसे उन्होंने सुख भोगने में ख़र्च कर दिया। कभी उन्होंने इस बात का विचार नहीं किया कि हमारे देश की सम्पत्ति का क्या हाल है ? वह घट रही है या बढ़ रही है ? यदि घट रही है तो उसे किस तरह बढ़ाना चाहिए ?

देश की सम्पत्ति कई कारणों से घटती है। उनमें तीन कारण प्रधान हैं:—प्राकृतिक, राजकीय और व्यापार-विषयक। (१) ज़मीन की उर्वरा-शक्ति के कम हो जाने से और खानों से सोना, चाँदी, लोहा आदि खनिज पदार्थों का निकलना कम या बिलकुल ही बन्द हो जाने से देश की सम्पत्ति घट जाती है। यह प्राकृतिक कारणों का एक उदाहरण है। अँगरेज़ी राज्य के

पहले ऐसे कारणों की उत्पत्ति बहुत करके हिन्दुस्तान में नहीं हुई। (२) जीते हुए देश की सम्पत्ति यदि कोई विजयी राजा धीरे धीरे अपने देश ले जाय और क्रम क्रम से विजित देश को निःसार करता रहे तो दूसरे, अर्थात् राजकीय, कारण की उत्पत्ति होती है। मुसल्मानी राज्य में यह बात भी नहीं हुई। यद्यपि बाहरी बादशाहों ने इस पर अनेक बार चढ़ाइयाँ कीं और असंख्य धन लूट ले गये; पर उससे देश की सम्पत्ति को विशेष धक्का नहीं पहुँचा। क्योंकि सोना, चाँदी, रत्न आदि जो वे लूट ले गये, एक मात्र उन्हीं की गिनती सम्पत्ति में नहीं। व्यवहार की सभी चीज़ें सम्पत्ति में शामिल हैं। उनकी आमदनी पूर्ववत् बनी रही। रत्नादि की प्राप्ति पृथ्वी के पेट से होती ही रही। पृथ्वी यथेष्ट अन्नदान भी बराबर करती रही। (३) रहा तीसरा कारण व्यापारविषयक, सो मुसल्मानी राज्य में इस देश के व्यापार का उत्कर्ष ही रहा। कभी अपकर्ष नहीं हुआ। कला-कौशल और व्यापार में यह देश हमेशा ही बढ़ा चढ़ा रहा। देश-देशान्तरों के बाज़ारों में यहाँ की चीज़ें पटी रहीं। किसी देश ने इसके साथ व्यापार में चढ़ा-ऊपरी करने का स्वप्न में भी ख़याल नहीं किया। और किया भी हो तो कामयाबी की आशा नहीं देखी। इसीसे कभी किसी ने व्यापार में इस देश से प्रतिस्पर्द्धा नहीं की। अतएव सम्पत्ति-ह्रास के जितने प्रधान कारण हैं, उनमें से एक का भी सामना हिन्दुस्तान को नहीं करना पड़ा। फिर भला सम्पत्ति-शास्त्र की उद्भावना करने, उसके सिद्धान्त ढूँढ़ निकालने और सम्पत्ति के प्रवाह को रोकने का प्रयत्न कोई क्यों करता? इन बातों का प्रेरक कोई कारण ही नहीं उपस्थित हुआ। और यह अखण्डनीय सिद्धान्त है कि बिना कारण के कोई कार्य्य नहीं होता।

यह मुसल्मानी राज्य के समय की बात हुई। उसके पहले, हिन्दू-साम्राज्य के समय में भी, सम्पत्तिशास्त्र की उत्पत्ति का उत्तेजक, इन कारणों में से एक भी कारण नहीं पैदा हुआ। विपरीत इसके, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विद्वान् पण्डितों के हृदय में सम्पत्ति की तुच्छता का भाव जागरूक था। वह इस शास्त्र की रचना के मार्ग का और भी अधिक अवरोधक हुआ।

इस देश में अँगरेज़ों के पधारते ही—उनकी सत्ता का सूत्रपात होते ही—यहाँ की स्थिति में फेरफार शुरू हो गया । जो बातें सम्पत्तिशास्त्र की उत्पत्ति का कारण मानी गई हैं वे उपस्थित होने लगीं । यहाँ की सम्पत्ति इँगलेंड गमन करने लगी । हुकूमत के बल पर इस देश के व्यापार की जड़ में कुठाराघात होने लगा । अमन चैन के कारण आबादी बढ़ने से ज़मीन पहले से अधिक होती जाने लगी । ज़मीन की पैदावार पर ही कोई ९० फ़ी सदी आदमियों की जीविका चलने लगी । अँगरेज़ी विद्या का प्रचार हुआ । सम्पत्ति-शास्त्र अँगरेज़ी स्कूलों में पढ़ाया जाने लगा । अँगरेज़ी में सम्पत्ति-शास्त्र की पुस्तकें लोगों ने देखीं । तब कुछ शिक्षित और दूरदर्शी लोगों का ध्यान इस शास्त्र की तरफ़ गया । कोई ६० वर्ष हुए जब पण्डित धर्म्म-नारायण ने, देहली-कालेज से सम्बन्ध रखनेवाली एक विज्ञानवर्द्धिनी सभा के लिए, इस शास्त्र की एक अँगरेज़ी किताब का उर्दू में अनुवाद किया । उसके प्रकाशित होने के कुछ वर्ष बाद उन्होंने सर सैयद अहमदख़ाँ की प्रेरणा से जान स्टुअर्ट मिल आदि की सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक पुस्तकों के आधार पर एक और भी पुस्तक उर्दू में लिखी । वह अलीगढ़ की सायंटिफ़िक सोसायटी के प्रबन्ध से छपी । उधर, दक्षिण में, राव साहब विश्वनाथ नारायण मण्डलीक और पण्डित कृष्णशास्त्री चिपलूणकर ने भी दो एक अँगरेज़ी पुस्तकों का अनुवाद मराठी में करके इस शास्त्र के प्रचार का प्रारम्भ किया । तब से हिन्दी को छोड़ कर और और भाषाओं में इस विषय की कितनी ही पुस्तकें प्रकाशित हुईं और बराबर प्रकाशित होती जाती हैं । पर ये सब पुस्तकें प्राय: अँगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद हैं । दो एक को छोड़ कर, जहाँ तक हम जानते हैं, इस विषय में किसी ने कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी । भारत की सम्पत्ति-सम्बन्धिनी अवस्था को ध्यान में रख कर किसी ने शास्त्ररीति से, विवेचनापूर्वक, सब बातों का विचार एक जगह नहीं किया । इस कमी को दूर करने का अब यत्र तत्र प्रयत्न हो रहा है ।

सम्पत्ति-शास्त्र का सम्बन्ध व्यापार और राज्य-व्यवस्था से बहुत अधिक है । पर इन दोनों बातों में यह देश पराधीन है । जिस तरह से विदेशियों ने इस देश के राजपाट को अपने अधीन कर लिया है उसी तरह व्यापार

को भी । जब सम्पत्ति-शास्त्र के उत्पादक कारण उपस्थित हुए तब स्वाधीनता जाती रही । और स्वाधीनता के बिना सम्पत्ति-वृद्धि के नियम बना कर तदनुकूल व्यवहार करना और सम्पत्ति को नष्ट होने से बचाना बहुत कठिन काम है । तथापि स्वदेशप्रेम का अङ्कुर लोगों के हृदय-क्षेत्र पर जैसे जैसे अङ्कुरित होता जाता है तैसे तैसे इस देश की सम्पत्ति के बढ़ाने और उसका निर्गमन रोकने की यथाशक्ति चेष्टा की जाने लगी है । यदि इस चेष्टा में सफलता न भी हो, तो भी सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों के आधार पर इस बात का विचार करने से कुछ न कुछ लाभ ज़रूर ही होगा, कि व्यापार और राज्यप्रबन्ध-विषयक कौन काम इस शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल हो रहा है और कौन प्रतिकूल ।

योरप और अमेरिका के प्रायः सभी देश स्वतन्त्र हैं । इससे, राज्य-व्यवस्था और व्यापार की बातों का विचार करने में, उन्हें अपने देश की सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि के उपाय सोचते रहने का हमेशा मौक़ा मिलता है । इसीसे उन देशों में सम्पत्ति-शास्त्र पर सैकड़ों ग्रन्थ बन गये हैं और बनते जाते हैं । क्योंकि बिना सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि के न राज्य ही का प्रबन्ध अच्छी तरह हो सकता है और न व्यापार ही की उन्नति हो सकती है । अस्तु ।

हमारी आज कल जो स्थिति है उसमें रह कर भी प्रत्येक देशहित-चिन्तक का कर्त्तव्य है कि वह सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करे, और यदि हो सके तो उस ज्ञान-प्राप्ति के साधन औरों के लिए भी सुलभ करने की चेष्टा करे ।

दूसरा परिच्छेद ।

शास्त्रत्व-विचार ।

यह शास्त्र इस देश के लिए तो नया है ही; योरप और अमेरिका में भी इसकी उत्पत्ति हुए अभी कोई दो ही ढाई सौ वर्ष हुए । इसी से अभी इसके सिद्धान्त निश्चित नहीं हुए । उनमें अभी तक स्थिरता नहीं आई । नये नये सिद्धान्त निकलते जाते हैं । पुराने सिद्धान्तों में से कितनेहीं परित्यक्त हो

गये, कितनेही परिवर्तित हो गये, कितनेही परिमार्जित होकर प्रायः एक नये ही रूप में स्वीकृत हो गये। इसी से कोई कोई विद्वान् इस विषय को शास्त्रत्व पदवी के लायक़ नहीं समझते। उनकी राय में यह कोई नया शास्त्र नहीं; यह कोई नई विद्या या विज्ञान नहीं। यह केवल व्यावहारिक बातों के विचार की खिचड़ी है। वे कहते हैं कि शास्त्रीय सिद्धान्त सदा अचल होते हैं। जो बातें अचल और निश्चित नहीं वे सिद्धान्तवत् नहीं मानी जातीं। आग का धर्म्म जलाना है। उसे चाहे जो छुवे, ज़रूर जल जायगा। अतएव यह एक सिद्धान्त हुआ कि आग में दाहिका शक्ति है। जिस विषय का आधार ऐसे सिद्धान्त हों, उसी की गिनती शास्त्र में हो सकती है। सम्पत्ति-सम्बन्धी बातें ऐसी नहीं। क्योंकि उसके सिद्धान्तों में अस्थिरता भी है और कहीं कहीं विरोध भी है। एक देश विदेशी माल पर कड़ा कर लगा कर उसकी आमदनी कम कर देता है, अथवा बिलकुलही बन्द कर देता है, और समझता है कि इससे उसकी सम्पत्ति की रक्षा या वृद्धि होगी। दूसरा देश ठीक इसका उलटा व्यवहार करता है। अतएव जिस विषय की यह दशा है उसे शास्त्रत्व पद नहीं प्राप्त हो सकता।

दूसरे पक्षवाले ऐसी दलीलों को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि जब किसी नये शास्त्र की उद्भावना होती है तब उसकी उत्पत्ति के साथ ही उसके सिद्धान्त अचल नहीं हो जाते। खोज, विचार, अध्ययन और परिशीलन होते होते पहले निश्चय किये गये सिद्धान्तों की अस्थिरता और भ्रान्ति जैसे जैसे मालूम होती जाती है वैसे वैसे उनका संशोधन होता जाता है। इसी तरह कुछ समय बाद सिद्धान्तगत सारे दोष दूर हो जाते हैं। क्या और शास्त्रों के सिद्धान्त शुरू ही में पक्के हो गये थे? नहीं, क्रम क्रम से उनके दोष दूर हुए हैं; सैकड़ों, हज़ारों, वर्ष बाद उन्हें वह रूप मिला है जिसमें हम आज कल उन्हें देखते हैं। अतएव यदि इस शास्त्र की चर्चा बनी रही, और विद्वान् इसके सिद्धान्तों का विचार मनोनिवेशपूर्वक करते गये, तो वो समय आवेगा जब सम्पत्ति का विषय शास्त्र ही नहीं, किन्तु बहुत बड़े महत्व का शास्त्र समझा जायगा।

यह वह शास्त्र है जिसमें मनुष्य-समाज या मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कुछ व्यापक व्यवहारों को आधार मान कर उनका शास्त्रीय विचार किया जाता है। इस तरह इस शास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्त स्थिर करके, फिर इस बात का विचार किया जाता है कि इस समय मनुष्य की जैसी स्थिति है उसके ख़याल से ये सिद्धान्त कहाँ तक सही हैं। उदाहरण के लिए सम्पत्ति-शास्त्र के मोटे मोटे दो सिद्धान्त लीजिए:—

(१) मनुष्यमात्र थोड़ी बहुत सम्पत्ति की इच्छा रखते हैं।

(२) जिनके पास पूँजी है वे उसे किसी लाभदायक रोज़गार में लगा कर उससे मुनाफ़ा उठाने का यत्न करते हैं।

यद्यपि ये सिद्धान्त सही हैं, तथापि जिस देश में ग़दर हो रहा है; जहाँ मार काट जारी है; जहाँ दिन-दोपहर आदमियों को चोर और डाकू लूट रहे हैं; जहाँ माल असबाब की तो बात ही दूर है, जान बचाना भी कठिन है, वहाँ क्यों कोई सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा करेगा और क्यों कोई रोज़-गार में रुपया लगा कर मुनाफ़ा उठाने की आशा रक्खेगा? चोरों के लिए कोई सम्पत्ति नहीं प्राप्त करता और न मुनाफ़े के लालच से जान बूझ कर घर की पूँजी ही कोई खोता है। परन्तु यह एक मुस्तसना बात हुई—इसे अप-वाद समझना चाहिए। इससे सम्पत्तिशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों को धक्का नहीं लग सकता। इस शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की व्यावहारिक बातों से है। यदि किसी देश के निवासियों के व्यवहार में कोई विशेषता आ जाय तो उस विशेषता को ध्यान में रख कर सम्पत्ति-विषयक सिद्धान्त निश्चित करने पड़ेंगे। दुनिया में न सब आदमियों के व्यवहार ही एक से हैं, न राज्य-प्रबन्ध ही एक सा है, और न समाज की व्यवस्था ही एक सी है। ये बातें सब कहीं अपनी अपनी स्थिति के अनुकूल हैं। फ़्रांसवालों के व्यवहार और राज्यप्रबन्ध की तुलना इँगलेंडवालों से नहीं हो सकती, और इँगलेंडवालों के व्यवहार और राज्यव्यवस्था की तुलना अमेरिकावालों से नहीं हो सकती। यही बात हिन्दुस्तान की भी है। यहाँ की व्यावहारिक और राजकीय व्यवस्था और देशों की व्यवस्था से नहीं मिलती। यही कारण है कि यद्यपि सम्पत्ति-शास्त्र के बहुत से प्राथमिक सिद्धान्त प्रायः निर्भ्रान्त और

निश्चित हैं, तथापि, प्रत्येक देश की व्यावहारिक स्थिति में कुछ न कुछ भेद होने के कारण, उनमें अन्तर आ जाता है । यदि ऐसा न होता तो इँगलेंड जिस अप्रतिबद्ध व्यापार के इस समय इतना अनुकूल है, अमेरिका और फ़्रांस उसी के प्रतिकूल न होते । हाँ, यदि, दुनिया भर की व्यावहारिक और राजकीय व्यवस्था एक सी होती तो सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त भी सबके एक ही से होते । परन्तु यह बात नहीं है; इसीसे जो सिद्धान्त एक के लिए लाभदायक हैं वही दूसरे के लिए कभी कभी हानिकारक हैं । यहां तक कि एक देश के सिद्धान्त भी हमेशा एक से नहीं रहते; समय पाकर उन में भी अन्तर हो जाता है । मतलब यह कि सम्पत्तिशास्त्र सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली व्यावहारिक बातों के सिद्धान्त निश्चित करता है । अतएव व्यवहारों ही के अनुसार उसके सिद्धान्तों को, प्रत्येक देश की व्यवस्था के ख़याल से, कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण करना पड़ता है । अथवा यही बात यदि दूसरी तरह से कही जाय तो इस तरह कही जा सकती है कि प्रत्येक देश का सम्पत्तिशास्त्र जुदा जुदा होता है ।

सम्पत्ति-शास्त्र के जो उद्देश हैं उनकी सिद्धि के लिए नीचे लिखी हुई बातों का विचार करना पड़ता है:—

(१) जिन बातों से मनुष्य, सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा कर सकता है उन्हें जानना ।

(२) सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा में जो प्राकृतिक कारण प्रधान हैं उन्हें ढूँढ़ निकालना ।

(३) जिन राजकीय, व्यावहारिक और औद्योगिक बातों का सम्बन्ध सम्पत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा से है उनका ज्ञान प्राप्त करना ।

(४) सम्पत्ति के सम्बन्ध में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति कैसी है ? नई नई ज़रूरतें पैदा होने से सम्पत्ति पर क्या असर पड़ता है ? ज़मीन का लगान, व्यापार की चीज़ों पर महसूल और अनेक प्रकार के कर लगाने के नियम क्या हैं ? इन, तथा और भी ऐसी ही सम्पत्ति-विषयक बातों का निर्णय करना ।

इन अनेक बातों का विचार करके सिद्धान्त निश्चित करने में सम्पत्ति-

शास्त्र के पण्डितों को कई शास्त्रों से सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि सम्पत्ति-शास्त्र में और शास्त्रों के सिद्धान्तों का भी मेल है। यह शास्त्र मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली व्यावहारिक बातों की जाँच करके उन्हीं के आधार पर व्यापक सिद्धान्त निश्चित करता है और यह दिखलाता है कि किस प्रकार के व्यवहार का क्या नतीजा होता है। मानवी व्यवहारों और घटनाओं से इन सिद्धान्तों का मुक़ाबला करना, इनकी सत्यता अथवा असत्यता की जाँच की कसौटी है। पर सब मनुष्यों के व्यवहार और जीवन-घटनाओं का पूरा पूरा ज्ञान एकदम होना संभव नहीं। इसी से इस शास्त्र के सिद्धान्तों में फेरफार की ज़रूरत होती है। नई नई बातों और घटनाओं के ज्ञान के साथ ही साथ इस शास्त्र के सिद्धान्तों की व्यापकता बढ़ती है।

सम्पत्ति-शास्त्र के विचार में, जैसा ऊपर कहा गया है, और शास्त्रों का भी काम पड़ता है। उनकी मदद से सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं। रसायन-शास्त्र, नीति-शास्त्र, जीवन-शास्त्र आदि की मदद लिये बिना इस शास्त्र के सिद्धान्त नहीं निश्चित हो सकते।

खेती के लिए रसायन-शास्त्र का ज्ञान बहुत ज़रूरी है। बिना इस शास्त्र के रहस्य जाने खेती की उन्नति नहीं हो सकती। खेती का आधार ज़मीन है। ज़मीन से जो चीज़ें पैदा होती हैं सब सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं। अतएव सम्पत्ति पैदा करने में जिस शास्त्र का इतना काम पड़ता है उसका ज्ञान, सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्त निश्चित करने के लिए, होना ही चाहिए। ज़मीन के लगान का विषय सम्पत्ति-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। पर किस ज़मीन में कितनी पैदावार हो सकती है, अथवा कौन ज़मीन किन जिन्सों के लिए अच्छी है, यह रसायन-शास्त्र का विषय है। अतएव रसायन-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार जब तक ज़मीन की उत्पादक शक्ति आदि का ज्ञान न होगा तब तक लगान-सम्बन्धी सिद्धान्त, जो सम्पत्ति-शास्त्र के अंश हैं, निश्चित न हो सकेंगे। इसी से सम्पत्ति-शास्त्र को रसायन-शास्त्र की मदद दरकार होती है।

मनुष्य के जीवन का उद्देश सिर्फ़ सम्पत्ति पैदा करना ही नहीं

जीवन की सार्थकता के जो प्रधान उद्देश हैं उनको पूरा करने ही के लिए सम्पत्ति की अपेक्षा होती है। जीवन-रक्षा के लिए खाने पीने की चीज़ों की, कपड़े-लत्ते की, घर-द्वार की ज़रूरत होती है। पर ये ज़रूरतें उन ज़रूरतों से कम महत्त्व की हैं जिनका सम्बन्ध सदाचार और सुनीति से है। सदाचार का दुर्लक्ष्य करके सम्पत्ति पैदा करना बहुत बड़ा दोष है। यदि सम्पत्ति के लोभ में आकर कोई सन्मार्ग, सदाचार और सद्व्यवहार से दूर जा पड़े तो दुनिया में उसकी बदनामी हुए बिना न रहे। और सम्भव है, उसे अनेक आपत्तियाँ भी झेलनी पड़ें। ऐसी सम्पत्ति किस काम की ? इसी से सम्पत्ति-शास्त्र की बातों का विचार करने में सुनीति, सुव्यवहार और सदाचार के सिद्धान्तों से भी मदद लेनी पड़ती है।

सम्पत्ति-शास्त्र का सम्बन्ध जन-संख्या से भी है। ऊपर ही ऊपर विचार करने से सम्पत्ति और आबादी बिलकुल जुदा जुदा बातें मालूम होती हैं। उनमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। पर ध्यानपूर्वक विचार करने से इन दोनों में भी सम्बन्ध पाया जाता है। मनुष्यों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जाती है। आबादी घटती नहीं, बढ़ती है। मनुष्यों की बाढ़ के साथ ही साथ व्यवहार की चीज़ों की ज़रूरत भी बढ़ती है। और इस तरह की जितनी चीज़ें हैं सब सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं। इसके सिवा, आबादी अधिक होने से, मेहनत मज़दूरी करके पेट पालनेवाले लोगों की मजदूरी के निर्ख़ पर भी कुछ न कुछ असर पड़ता है। यही नहीं, किन्तु जीविका-उपार्जन करने के जितने सर्व-साधारण मार्ग हैं, अथवा यों कहिए कि जितने सर्व-साधारण रोज़गार या उद्योग-धन्धे हैं, सब में थोड़ा बहुत फेर-फार हुए बिना नहीं रहता। अतएव ये सब बातें सम्पत्ति-शास्त्र की विचारसीमा के भीतर आजाती हैं। इन्हीं कारणों से इस शास्त्र के सिद्धान्तों का विचार करने में मनुष्य की वंश-वृद्धि के सिद्धान्तों से भी मदद लेनी पड़ती है।

मतलब यह कि सम्पत्ति-शास्त्र एक बहुत व्यापक शास्त्र है। उसे मिश्र-शास्त्र कहना चाहिए। क्योंकि उसकी विवेचना में कई शास्त्रों के सिद्धान्तों की मदद दरकार होती है।

तीसरा परिच्छेद ।

सम्पत्ति का स्वरूप ।

एक कवि कहता है:—

> नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
> घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥

अर्थात् थोड़े वैभव वाले बड़े बुद्धिमान् आदमी की भी बुद्धि नोन, तेल, घी, चावल, लकड़ी और कपड़े-लत्ते की फ़िक्र में हमेशा क्षीण हुआ करती है। यह बहुत ठीक है। बहुत कम आदमी ऐसे होंगे जिनकी बुद्धि ने इन चीज़ों की चिन्ता में कभी चक्कर न खाया हो। जिसके पास घी है वह तेल के लिए दूसरों का मुँह देखता है; जिसके पास चावल है वह कपड़े के लिए। इसी तरह प्रायः हर आदमी को, किसी न किसी चीज़ के लिए, औरों पर ज़रूर अवलम्ब करना पड़ता है। क्योंकि, मनुष्य को संसार में रहकर इतनी व्यावहारिक चीज़ें दरकार होती हैं कि वह उन सब को नहीं पैदा कर सकता। जो जुलाहा कपड़े तैयार करता है वह अपने मतलब भर के लिए कपड़े रखकर बाक़ी के बदले नमक, तेल, लकड़ी और अनाज आदि का संग्रह करता है। जो किसान गेहूँ, चना, जौ आदि पैदा करता है वह अपने खेत की पैदावार के बदले हल, फाल, नमक, तेल, मिर्च, मसाला और कपड़े प्राप्त करता है। इसी तरह हर आदमी को, व्यावहारिक चीज़ों का अभाव दूर करने के लिए, परस्पर एक दूसरे की सहायता दरकार होती है—एक दूसरे को अपनी अपनी चीज़ों का विनिमय अर्थात् बदला करना पड़ता है। इन्हीं विनिमय-साध्य वस्तुओं का नाम सम्पत्ति है। जिन चीज़ों के बदले कोई और चीज़ें नहीं मिलतीं उनकी गिनती सम्पत्ति में नहीं।

संसार में सम्पत्ति की बड़ी महिमा है। बिना सम्पत्ति के किसी का गुज़र नहीं। सायङ्काल, कानपुर में, ख़ास ख़ास सड़कों पर घूमने जाइए। आप देखिएगा अच्छे अच्छे कपड़े पहने हुए लोग घूम रहे हैं। फ़िटन, टमटम, ट्राम, मोटर और पैर-गाड़ियाँ दौड़ रही हैं। बड़ी बड़ी दुकानों और कोठियों में लाखों रुपये का माल भरा हुआ है। ऊँचे ऊँचे मकान

खड़े हैं । जगह जगह शिवालय और ठाकुरद्वारे बने हुए हैं । शहर के भीतर-बाहर कितने ही कल-कारख़ाने जारी हैं । जहाँ देखिए वहाँ सुख-समृद्धि के चिह्न दिखाई देते हैं । पर कानपुर के पास ही किसी गांव में जाइए । न गाड़ियाँ हैं, न घोड़े हैं, न कोई वैसी दुकानें हैं, न अच्छे मकान हैं । जहाँ देखिए उदासी सी छाई हुई है । इस अन्तर का कारण क्या है ? कारण इसका वही सम्पत्ति है; और कुछ नहीं । जहाँ सम्पत्ति है वहाँ समृद्धि और शोभा; जहाँ सम्पत्ति नहीं है वहाँ दरिद्र और उदासीनता ! विनिमय-साध्य व्यावहारिक चीज़ों ही का नाम सम्पत्ति है । इन्हीं की अधिकता से कानपुर समृद्धिशाली हो रहा है और इन्हीं की कमी ने गांवों को दरिद्रता में डुबो दिया है । अथवा यों कहिए कि इन्हीं चीज़ों की प्रचुरता से आदमी धनी हो जाता है और इन्हीं की कमी से कङ्गाल ।

विनिमय-साध्य व्यावहारिक चीज़ों का विशेष गुण मूल्यवान् होना है । यदि वे मूल्यवान् नहीं—यदि उनकी कुछ भी क़ीमत नहीं—तो वे विनिमय-साध्य नहीं । ऐसी चीज़ों के बदले दूसरी चीज़ें नहीं मिल सकतीं । जिन चीज़ों के प्राप्त करने में परिश्रम और प्रयास पड़ता है वही मूल्यवान् समझी जाती हैं । जो चीज़ें बिना प्रयास और बिना परिश्रम के यथेष्ट मिल सकती हैं उन्हें कोई क़ीमत देकर नहीं लेता । क्योंकि प्रचुर परिमाण में पड़ी मिलने के कारण वे बे-मोल हो जाती हैं । चीज़ों के मूल्यवान् होने से यह मतलब है कि उनमें एक विशेष गुण आ जाता है । इस गुण की बदौलत ऐसी चीज़ों के मालिक को यह अधिकार मिल जाता है कि यदि वह वे चीज़ें किसी और को दे, तो उससे उसके परिश्रम और प्रयास से प्राप्त हुई और चीज़ें ले सकता है, या उससे कोई परिश्रम का काम करा सकता है ।

इससे यह नतीजा निकला कि जो चीज़ें मूल्यवान् हैं, जो प्रचुर परिमाण में पड़ी हुई नहीं मिलतीं, जिनके प्राप्त करने में परिश्रम पड़ता है वही विनिमय-साध्य हैं । और विनिमय-साध्य होना ही सम्पत्ति का प्रधान लक्षण है ।

विनिमय-साध्यता को स्पष्ट करके समझाने की ज़रूरत है । कल्पना कीजिए, आपके पास दो मन गेहूँ हैं । उसके बदले, ज़रूरत होने पर,

आपको धोती का एक जोड़ा मिल सकता है। इसी तरह कपड़े के बदले अनाज, गाय-बैल के बदले घोड़ा, ताँबे-पीतल के बदले लोहा मिल सकता है। अतएव ये सब चीज़ें सम्पत्ति हैं। पर यदि आप नदी या तालाब से दो चार घड़े पानी भर कर किसी चीज़ से बदला करना चाहेंगे तो कोई बदला न करेगा। क्योंकि नदी या तालाब का पानी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। वह सब को सहज ही प्राप्त हो सकता है। उसे पाने के लिए परिश्रम और प्रयास नहीं पड़ते। अतएव ये चीज़ें सम्पत्ति नहीं। पर यही पानी यदि मारवार के किसी निर्जल स्थान में पहुँचाया जाय, या नहर के द्वारा सिँचाई के लिए सुलभ कर दिया जाय, या ईंट, गारा आदि बनाने के लिए किसी के माँगने पर लाया जाय, तो उसे तुरन्त ही सम्पत्ति का स्वरूप प्राप्त हो जायगा। क्योंकि परिश्रम ही से पदार्थों का मूल्य बढ़ता है। जब पानी के सदृश पतली चीज़ सम्पत्ति हो सकती है तब घर, द्वार, लकड़ी, कंडा, कोयला, पत्थर, वृक्ष, लता, पत्र आदि के सम्पत्ति होने में क्या सन्देह? तुच्छ से तुच्छ चीज़ सम्पत्ति हो सकती है; हाँ, उसके बदले दूसरी चीज़ मिलनी चाहिए। इस हिसाब से कूड़ा, कचरा, राख, गोबर, हड्डी तक की गिनती सम्पत्ति में हो सकती है; क्योंकि उनकी खाद बनती है और खाद के दाम आते हैं।

किसी किसी की समझ में रुपया-पैसा और सोना-चाँदी ही का नाम सम्पत्ति है। यह भ्रम है। सम्पत्ति का बदला करने—उसका विनिमय करने—में सुभीता हो, सिर्फ़ इतने ही के लिए रुपये पैसे की सृष्टि हुई है। क्योंकि यदि रुपया पैसा न होता तो विनिमय में बड़ा झंझट होता और लोगों को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती। मान लीजिए कि एक आदमी के पास अनाज है। उसके बदले में वह कपड़ा चाहता है। अब उसे कोई ऐसा आदमी तलाश करना पड़ेगा जिसके पास कपड़ा हो। कल्पना कीजिए, कि उसे ऐसा आदमी मिल गया; पर वह अपना कपड़ा देकर बदले में अनाज नहीं चाहता, बर्तन चाहता है। इससे उन दोनों को अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए और आदमी तलाश करने पड़ेंगे। इसी बखेड़े को दूर करने के लिए रुपये पैसे का चलन चला है। वह सम्पत्ति का चिह्न

मात्र है। वह सम्पत्ति के परिमाण का सूचक मात्र है। यदि रुपये पैसे का चलन न चलता और किसी की सम्पत्ति का अन्दाज़ करना होता तो एक सूई से लेकर उसके घर बाहर की सारी चीज़ों की फ़ेहरिस्त बनानी पड़ती। पर रुपये पैसे के जारी होने से उन सब चीज़ों का परिमाण रुपये में बतला दिया जाता है। इससे बड़ा सुभीता होता है। बहुत मेहनत बच जाती है। इसी से यह कहने की चाल पड़ गई है कि अमुक आदमी इतने हज़ार या इतने लाख का मालिक है। यह उसकी सम्पत्ति की सिर्फ़ माप हुई। इससे यह सूचित हुआ कि सम्पत्ति का वज़न या तौल बताने के लिए रुपया बाँट का काम देता है।

रुपया-पैसा सिर्फ़ सभ्य देशों की व्यावहारिक चीज़ है। असभ्य जंगली आदमी अब तक रुपये पैसे का व्यवहार नहीं जानते। अब भी वे चीज़ों का बदला करते हैं। अफ़रीका की कितनी ही असभ्य जातियाँ पक्षियों के पर, चमड़ा, मोम, गोंद आदि देकर सभ्य जातियों से अनाज, वस्त्र, शस्त्र और काँच के मनके आदि लेती हैं। उनमें, और, और भी कितनी ही असभ्य जातियों में, विनिमय की रीति बराबर जारी है। हिन्दुस्तान बहुत पुराना देश है। यहाँ की सभ्यता भी बहुत पुरानी है। पर यहाँ भी चीज़ों का विनिमय होता रहा है। इस बात के कितने ही प्रमाण अकेले एक व्याकरण-शास्त्र में मिलते हैं। यथा :—

(१) "पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः" (२) "वस्त्रेण क्रीयते वस्त्रक्रीतः" (३) "मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्"	काशिका
(४) "पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा" (५) "द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्"	सिद्धान्तकौमुदी

इससे स्पष्ट है कि इस देश में गाय, घोड़ा, सूप, कपड़ा और अनाज देकर चीज़ें बदली अर्थात् मोल ली जाती थीं। और यह रीति अब तक देहात में थोड़ी बहुत प्रचलित है। किसान ही नहीं, और लोग भी अनाज देकर गुड़, तेल, नमक, मसाला, तरकारी आदि मोल लेते हैं। बढ़ई, लुहार,

नाई, धोबी आदि को भी उनके परिश्रम का बदला अब भी वे बहुधा अनाज ही के रूप में देते हैं।

अतएव रुपया-पैसा सम्पत्ति का दर्शक चिह्न है। पदार्थों के पारस्परिक बदले का वह एक साधन है। रुपये से पदार्थों का बदला करने में भी सुभीता होता है और सम्पत्ति की इयत्ता भी मालूम हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि कोई कहे कि अमुक आदमी बीस लाख का मालिक है तो उससे यह न समझना चाहिए कि बीस लाख के तोड़े उसके घर में रक्खे हैं। नहीं, इससे इतना ही अर्थ निकलता है कि घर-द्वार, खेत-पात, वस्त्र-आभूषण आदि सब मिलाकर बीस लाख रुपये की क़ीमत की सम्पत्ति उसके पास है। यदि रुपये पैसे ही की गिनती सम्पत्ति में होती तो जिनके पास रुपया नहीं, पर लाखों मन अनाज या हज़ारों गाँठ कपड़े की हैं, वे निर्धन समझे जाते !

यद्यपि विनिमय-साध्यता ही सम्पत्ति का प्रधान लक्षण है, तथापि दूर तक विचार करने से और भी कई बातें उसके अन्तर्गत आ सकती हैं। सारी प्रधान और अप्रधान बातों के ख़याल से सम्पत्ति का व्यापक लक्षण और तरह से भी हो सकता है। इसे लक्षण नहीं, किन्तु एक प्रकार की व्याख्या कहना चाहिए। इसके अनुसार उन चीज़ों की गिनती सम्पत्ति में है:—

(१) जिनका पाना सम्भव हो।

(२) व्यावहारिक दृष्टि से जिनकी ज़रूरत हो। अर्थात् ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखने वाली ज़रूरतों को पूरा करने के लिए जिनकी इच्छा मुनासिब तौर पर की जा सकती हो। यदि कोई असभ्य जंगली आदमी अपने शत्रु को मार कर उसकी खोपड़ी प्राप्त करना चाहे तो उसकी यह इच्छा मुनासिब नहीं मानी जा सकती। क्योंकि इस तरह की इच्छा करना सदाचार, सद्-व्यवहार और सुनीति के विरुद्ध है।

(३) जिन्हें प्राप्त करने का हक़ मनुष्य को हो।

(४) जो विनिमय-साध्य हों।

सम्पत्ति का लक्षण और उसके स्वरूप का निदर्शन हो चुका। अब इस बात का विचार करना है कि सम्पत्ति-प्राप्ति के मार्ग कौन कौन से हैं ?

अथवा यों कहिए, कि सम्पत्ति होती कितने प्रकार की है—उसके विभाग कितने हो सकते हैं ?

स्थूल-रीति से सम्पत्ति-प्राप्ति के तीन मार्ग हैं। अर्थात् तीन तरह से सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। यथा:—

(१) भौतिक चीज़ों से। उदाहरणार्थ—सोना, चांदी, भूमि, घर, वृक्ष आदि साकार चीज़ों से।

(२) मानसिक शक्तियों से। उदाहरणार्थ—उद्योगशीलता, शिल्पनैपुण्य, कार्य-कुशलता आदि से। गीत, वाद्य, वैद्यक, ज्योतिष, लेखन-कला आदि की बदौलत भी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव इन विद्याओं और कलाओं का ज्ञान भी विनिमय-साध्य वस्तुओं में गिना जा सकता है। जो लोग श्रमजीवी हैं—जो मेहनत मज़दूरी करके पेट पालते हैं—उनके श्रम की गिनती भी सम्पत्ति में है; क्योंकि मज़दूरी के रूप में जो कुछ उन्हें मिलता है वह उनके श्रम ही का बदला है।

(३) अशरीरी अर्थात् निराकार स्वत्व (हक़) से। उदाहरणार्थ—किसी चीज़ को उधार बेचकर पीछे से उसकी क़ीमत पाने के हक़, या रुपया-पैसा उधार देकर यथासमय उसे वसूल कर लेने आदि के हक़ से।

इस प्रकार यद्यपि सम्पत्ति तीन तरह या तीन मार्गों से प्राप्त हो सकती है तथापि पिछले दो मार्गों से प्राप्त होने वाली का विचार सम्पत्ति-शास्त्र में नहीं होता। क्योंकि यह सम्पत्ति गुणजात है। और गुण ऐसी चीज़ नहीं जो गुणी से अलग हो सके। अर्थात् गुण विनिमय-साध्य तो है, पर अपने बदले गुणी को सम्पत्ति प्राप्त करा कर वह फिर भी उसी के पास रह जाता है। जो गुणी के गुण का बदला देता है वह गुण को गुणी से अलग करके अपने अधीन नहीं कर सकता। गुण से वह जितना फ़ायदा उठाता है उतने का बदला देकर ही उसे सन्तोष करना पड़ता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जो विनिमय-साध्य चीज़ें, विनिमय किये जाने पर, अपने स्वामी से अलग हो सकती हैं उन्हीं का विचार और विवेचन सम्पत्ति-शास्त्र में होता है। परन्तु इस नियम में एक अपवाद है। वह यह

है कि मेहनत-मज़दूरी करने वाले श्रमजीवी लोगों को उनके श्रम के बदले जो वेतन मिलता है उसकी आलोचना इस शास्त्र में ज़रूर होती है।

वाणिज्य अर्थात् व्यापार भी सम्पत्ति-शास्त्र के अन्तर्गत है; क्योंकि व्यापार सिर्फ़ सम्पत्ति का अदला-बदल है। जिन चीज़ों की गिनती सम्पत्ति में है उनके विनिमय—उनके अदला-बदल—का ही नाम व्यापार है। व्यापार में ६ तरह से विनिमय होता है। यथा:—

(१) भौतिक चीज़ों के बदले भौतिक ही चीज़ें देना। उदाहरणार्थ—१२ सेर गेहूँ के बदले ४ सेर शक्कर।

(२) शिल्पनैपुण्य और कार्यकुशलता आदि गुणरूप सम्पत्ति के बदले भौतिक चीज़ें देना। उदाहरणार्थ—किसी कारीगर से दो दिन कोई काम कराकर उसकी मेहनत के बदले २० सेर गेहूँ देना।

(३) भौतिक चीज़ों के बदले कोई हक़ देना। उदाहरणार्थ—किसी छापेखाने से १०० रुपये की किताबें लेकर उनके बदले एक हुण्डी या चेक देकर उतना रुपया वसूल कर लेने का हक़ देना।

(४) गुणरूप सम्पत्ति के बदले वैसी ही सम्पत्ति देना। उदाहरण के लिए किसी से फ़ोटोग्राफ़ी सीख कर उसे सितार बजाना सिखलाना, या किसी से वेदान्त पढ़ कर उसे न्याय पढ़ाना, या खेत जोतने में किसी से मदद लेकर उसके धान सींचने में मदद देना आदि।

(५) परिश्रम आदि गुणरूप सम्पत्ति के बदले कोई हक़ देना। उदाहरणार्थ—कोई किताब लिखने में किसी से मदद लेकर, हुण्डी या चेक के रूप में अपनी मेहनत का बदला लेने का हक़ प्राप्त करना।

(६) हक़ के बदले हक़ देना। उदाहरणार्थ—देवदत्त ने १०० रुपये का घी शिवदत्त के हाथ उधार बेचा। अतएव शिवदत्त से इतना रुपया वसूल पाने का हक़ देवदत्त को प्राप्त हो गया। अब यदि यही घी देवदत्त ने यज्ञदत्त से उधार लेकर शिवदत्त के हाथ बेचा हो, तो यज्ञदत्त को भी देवदत्त से १०० रुपये वसूल पाने का हक़ प्राप्त है। इस दशा में यज्ञदत्त को देवदत्त अपना वह हक़ दे सकता है जो उसे शिवदत्त पर प्राप्त है।

संसार में जितना व्यापार होता है सब ऊपर लिखे गये किसी न किसी

तरीक़े से ही होता है । वह और कुछ नहीं, सिर्फ़ एक चीज का बदला दूसरी चीज़ से करना है । परन्तु सम्पत्ति-शास्त्र मे व्यापार-विषयक विनिमय के मुख्य मुख्य तरीक़ों ही पर विचार किया जाता है, सब पर नहीं ।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे यह मालूम हुआ कि विनिमयसाध्य सामग्री-समूह ही का नाम सम्पत्ति है । रुपया-पैसा सम्पत्ति नहीं । वह सम्पत्ति का सिर्फ़ परिमाण या मूल्य बताता है, और सम्पत्ति के विनिमय का साधक मात्र है । जिस शास्त्र मे विनिमय-साध्य वस्तुओं के ज्ञान और तत्त्व आदि का विवेचन रहता है उसी का नाम सम्पत्ति-शास्त्र है । इस विवेचन मे नीचे लिखी हुई बातों का विचार किया जाता है:—

(१) सम्पत्ति पैदा किस तरह होती है ? उसकी उत्पत्ति के साधन कौन कौन से हैं ?

(२) जो लोग सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं उन्हें वह मिल सकती है या नहीं ? मिल सकती है तो कितनी और किस तरह ? क्या वह औरों को भी मिल सकती है ? अर्थात् किसी की उत्पन्न की हुई सम्पत्ति क्या बँट भी सकती है ? यदि बँट सकती है तो किस तरह—उसका विभाग कैसे होता है ? किन किन लोगों मे, किन किन नियमों के अनुसार, उसका विभाग होता है ?

(३) जिस देश मे सम्पत्ति उत्पन्न होती है उससे क्या वह और देशों को भी जा सकती है ? यदि जा सकती है, तो किस तरह ? उसके नियम क्या हैं ?

(४) प्राप्त हुई सम्पत्ति का भोग या व्यवहार किस तरह होता है ? उसके बढ़ाने और ख़र्च करने के नियम क्या हैं ?

यही बातें यदि थोड़े मे कही जायँ तो इस तरह कह सकते हैं कि सम्पत्ति-शास्त्र मे:—

(१) सम्पत्ति की उत्पत्ति
(२) सम्पत्ति की वृद्धि
(३) सम्पत्ति के विनिमय
(४) सम्पत्ति के वितरण, और
(५) सम्पत्ति के उपभोग

आदि का विचार किया जाता है ।

दूसरा भाग।

सम्पत्ति की उत्पत्ति अथवा धनागम।

पहला परिच्छेद।

विषयारम्भ।

जब हम यह कहते हैं कि अमुक सम्पत्ति की उत्पत्ति हुई तब उससे यह मतलब नहीं कि वह पहले थी ही नहीं। अनस्तित्व से अस्तित्व को प्राप्त होने—अभाव से भाव को प्राप्त होने—से हमारा मतलब नहीं। अभाव से भाव का होना असम्भव है। उत्पत्ति से सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि किसी वस्तुविशेष में कोई नई बात पैदा हो गई। उसकी असलियत के लिहाज़ से उसमें कोई विशेषता आगई। यह विशेषता देश, काल और पात्र के संयोग से पैदा होती है। उदाहरण:—

(क) काश्मीर में बर्फ़ की इतनी अधिकता है कि वहाँ उसे कोई नहीं पूछता; वहाँ उसकी कुछ भी क़द्र नहीं। वही बर्फ़ यदि कानपुर लाई जाय तो उसमें विशेषता पैदा हो जाय। अथवा लीची को लीजिए। यह फल मुज़फ़्फ़रपुर में इतना पैदा होता है कि बहुत सस्ता बिकता है। यदि वही कलकत्ते ले जाकर बेचा जाय तो उसमें विशेषता आ जाय; उसकी क़द्र बढ़ जाय; उसकी क़ीमत अधिक हो जाय। यह देश की बात हुई।

(ख) माघ-पूस में बर्फ़ की प्राय: बिलकुल ही क़द्र नहीं होती। पर यदि उसे गरमियों तक किसी तरह रख सकें तो उसी की बड़ी क़द्र हो। उसमें एक विशेषता पैदा हो जाय। इसी तरह नया चावल यदि वर्ष दो वर्ष रख छोड़ा जाय तो उसमें भी विशेषता पैदा हो जाय और उसकी क़ीमत बढ़ जाय। यह काल के संयोग का उदाहरण हुआ।

(ग) किसान को एक मन रुई की जो क़ीमत मिलती है, उतनी ही रुई का यदि सूत काता जाय तो कातने वाले को उससे अधिक क़ीमत मिले, क्योंकि सूत में एक विशेषता पैदा हो जायगी—उसकी क़ीमत बढ़ जायगी। इसी तरह हाथ के बने हुए चाकू की जितनी क़द्र होती है कल से बने हुए की उससे अधिक होती है। इसका कारण उसमें विशेषता का पैदा हो जाना ही है। यह पात्र-सम्बन्धी उदाहरण हुआ।

अतएव देश, काल और पात्र के ही संयोग से पदार्थों में विशेषता या क़द्र पैदा होती और बढ़ती है। और इसी विशेषता या क़द्र के पैदा होने या बढ़ने का नाम सम्पत्ति की उत्पत्ति है। जो चीज़ पहले नहीं थी उसकी उत्पत्ति से मतलब नहीं। जो थी ही नहीं वह उत्पन्न कैसे हो सकेगी ? उसका तो ज़िक्र ही नहीं।

यद्यपि देश, काल और पात्र के संयोग से पदार्थों में विशेषता आ जाती है, तथापि सम्पत्ति की उत्पत्ति के प्रधान साधन ज़मीन, मेहनत और पूँजी हैं। अर्थात् यदि ये तीन प्रधान साधन न हों तो देश, काल और पात्र का संयोग विशेष कारगर न हो। पदार्थों में विशेषता उत्पन्न होने के पहले ज़मीन, मेहनत और पूँजी की ज़रूरत होती है। चाहे जिस चीज़ को लीजिए, विचार-परंपरा के अन्त में आपको मालूम हो जायगा, कि उससे इन तीन साधनों का अखण्ड सम्बन्ध है। अतएव ज़मीन, मेहनत और पूँजी सम्पत्ति की उत्पत्ति के प्रधान साधन हैं; देश, काल और पात्र गौण साधन। गौण साधनों के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। प्रधान साधनों के भी उदाहरण लीजिए :—

(क) आपके बदन पर जो कोट है वह लुधियाने के चारख़ाने का है न ? अच्छा, तो फिर यह रुई का है। रुई से ही सूत तैयार किया जाता है, जिसका चारख़ाना बनता है। और रुई (कपास) ज़मीन से पैदा होती है। इसलिए आपकी कोट-रूपी सम्पत्ति पैदा होने का पहला प्रधान कारण या साधन ज़मीन हुई।

(ख) कपास बोने, निकाने, बीनने, ओटने, सूत कातने, उस सूत का चारख़ाना बनाने और फिर उसे सिलाने में मेहनत पड़ती है। बिना मेहनत

के ये सब काम नहीं हो सकते । अतएव कोट की उत्पत्ति में मेहनत दूसरा कारण हुई ।

(ग) ज़मीन जोतने, बिनौले बोने, कपास बीनने, सूत कातने और चारख़ाना तैयार होकर कोट बनने तक न मालूम कितने आदमियों को मेहनत करनी पड़ती है । जो मेहनत करता है वह मुफ़्त नहीं करता । उसे मेहनत का बदला देना पड़ता है । यदि वह मेहनत का बदला न लेगा तो खायगा क्या ? उसे ख़र्च के लिए ज़रूर कुछ चाहिए । जिसके पास पूँजी होगी वही ख़र्च कर सकेगा । अतएव कोट की उत्पत्ति के लिए जैसे ज़मीन और मेहनत दरकार है वैसे ही पूँजी भी दरकार है । इससे पूँजी तीसरा कारण हुई ।

तात्पर्य्य यह कि जितनी चीज़ें हैं सबकी उत्पत्ति के प्रधान साधन ज़मीन, मेहनत और पूँजी हैं । बिना इनके सम्पत्ति के गुणों से विशिष्ट कोई चीज़ नहीं पैदा हो सकती । इनका कुछ न कुछ सम्बन्ध होना ही चाहिए—चाहे प्रत्यक्ष हो, चाहे अप्रत्यक्ष । पैदा होने के बाद गौण साधनों के योग से सम्पत्ति की क़ीमत या क़द्र बढ़ती है । अब इन प्रधान साधनों का क्रम क्रम से विचार करना है ।

दूसरा परिच्छेद ।

ज़मीन ।

व्यवहार की जितनी चीज़ें हैं सब की उत्पत्ति का आश्रय ज़मीन ही है । यह आश्रय कभी प्रत्यक्ष होता है, कभी अप्रत्यक्ष । ज़मीन कहने से ज़मीन के ऊपर, और उसके भीतर अर्थात् भूगर्भ, दोनों से मतलब है । उद्भिज्जों से खाने, पीने और व्यवहार की जो चीज़ें हमें प्राप्त होती हैं वे पृथ्वी के ऊपर ही हमें मिल जाती हैं । पर खनिज पदार्थ पृथ्वी के पेट से प्राप्त होते हैं । उन्हें खोदकर बाहर निकालना पड़ता है । जब तक वे बाहर नहीं निकाले जाते तब तक नहीं प्राप्त होते । तथापि आश्रय दोनों का ज़मीन ही है । नदी और समुद्र से प्राप्त होने वाली व्यावहारिक चीज़ों की उत्पत्ति का

आश्रय भी ज़मीन ही है; क्योंकि नदियाँ और समुद्र भी पृथ्वी ही पर हैं। उनके भी तल में ज़मीन है। यद्यपि नदी, समुद्र और पृथ्वी के भीतर मिलने वाली चीज़ें भी आदमी के काम आती हैं—वे भी उसके व्यवहार की चीज़ें हैं—तथापि जो चीज़े पृथ्वी के ऊपर पैदा होती हैं उन्हीं का अधिक काम पड़ता है। उनमें भी ग़ल्ला अर्थात् अनाज प्रधान है। अनाज ही से मनुष्य का जीवन-निर्वाह होता है; उसी से उसकी ज़िन्दगी है। इससे, ज़मीन से पैदा होने वाली चीज़ों का विचार करने में कृषि की पैदावार ही को महत्त्व दिया जाता है। सम्पत्तिशास्त्र में उसी पर अधिक बहस की जाती है।

ज़मीन से जो चीज़ें पैदा होती हैं उनकी सीमा है। सीमा सब बातों की होती है—सब चीज़ों की होती है। एक बीघे ज़मीन में १०० मन गेहूँ नहीं पैदा हो सकता। क्योंकि इतनी पैदावार का होना ज़मीन की उत्पादक शक्ति की सीमा के बाहर है। कल्पना कीजिए कि साधारण तौर पर एक बीघे में ३० मन गेहूँ होता है। अब यदि कोई किसान एक बीघे में ५० मन पैदा करने लगे; और उसे देख कर, बहुत तदबीर और कोशिश करने पर भी, और लोग उससे अधिक न पैदा कर सकें, तो समझ लेना चाहिए कि फ़ी बीघे ५० मन से अधिक गेहूँ पैदा करने की शक्ति ज़मीन में नहीं है। ज़मीन की पैदावार की यही सीमा हुई। यहाँ पर अब यह विचार उपस्थित हुआ कि जिन खेतों में फ़ी बीघे ३० मन से अधिक गेहूँ नहीं पैदा होता उनकी पैदावार किस तरह बढ़ाई जाय। अथवा जिसने फ़ी बीघे ५० मन गेहूँ पैदा किया उसने किन युक्तियों से काम लिया। उत्तर यह है कि अधिक मेहनत करने और अधिक पूँजी लगाने से पैदावार बढ़ती है।

कोई काम करने में हानि-लाभ का विचार ज़रूर किया जाता है। ३० की जगह ५० मन गेहूँ पैदा करने में भी इस बात का विचार करना पड़ेगा। क्योंकि २० मन अधिक गेहूँ पैदा करने में जो लागत लगेगी वह यदि उतने गेहूँ के क़ीमत के बराबर या उससे अधिक हो जाय तो अधिक पैदावार से फ़ायदा ही क्या हुआ? कुछ समय तक खेती करते रहने से ज़मीन की उत्पादक शक्ति क्षीण हो जाती है। यह निर्भ्रान्त है। वह यहाँ तक क्षीण हो जाती कि परिश्रम और पूँजी के रूप में अधिक लागत लगाने पर भी उस

लागत के अनुसार पैदावार नहीं बढ़ती । अथवा यों कहिए कि थोड़ी पैदावार बढ़ाने के लिए बहुत ख़र्च करना पड़ता है। इसी का अँगरेज़ी नाम है—"Law of Diminishing Returns" अर्थात् क्रमागत-ह्रास-नियम । अतएव जहाँ तक इस "ह्रास" का आरम्भ न हो वहीं तक अधिक परिश्रम करना और अधिक पूँजी लगाना मुनासिब होगा । कृषिविद्या के नियमों के अनुसार जैसे ज़मीन की उत्पादक शक्ति की सीमा है वैसे ही पैदावार बढ़ाने के लिए पूँजी लगाने और मेहनत करने की भी सीमा है । बात यह है कि पूँजी और परिश्रम की वृद्धि वहीं तक करनी चाहिए जहां तक कि बढ़ी हुई पैदावार से उसका बदला भी मिल जाय और कुछ बच भी रहे । ख़ैर न बचे तो कुछ घर से तो न देना पड़े ।

जहाँ तक ज़मीन की उर्वरा या उत्पादक शक्ति की सीमा का अतिक्रम नहीं होता वहीं तक अधिक ख़र्च करने से लाभ हो सकता है । आगे नहीं । उत्पादकता की सीमा पर पहुँच जाने पर ख़र्च बढ़ाने से लाभ के बदले उलटा हानि होती है। यह बात एक उदाहरण द्वारा और भी अच्छी तरह ध्यान में आ जायगी । मान लीजिए कि तीन सौ बीघे ज़मीन का एक टुकड़ा है । उसकी सालाना पैदावार छः हज़ार मन ग़ल्ला है । दस आदमी मिल कर उसमें खेती करते हैं । इस हिसाब से फ़ी बीघे बीस मन और फ़ी आदमी छः सौ मन ग़ल्ला पड़ा । अब यदि पाँच आदमी और साझी हो जायँ और खाद, सिँचाई तथा यन्त्रों आदि में रुपया ख़र्च करके—अर्थात् पूँजी और मेहनत की मात्रा को बढ़ा कर—अधिक ग़ल्ला पैदा करने की कोशिश करें तो इस बात को देखना होगा कि कितना अधिक ग़ल्ला पैदा होगा । पहले फ़ी आदमी छः सौ मन पड़ता था; अब इतना ही पड़ेगा या कमोबेश । यहाँ पर यह विचार करना होगा कि ज़मीन की उत्पादक शक्ति पहले ही अपनी सीमा को पहुँच गई थी या नहीं । यदि नहीं पहुँची थी तो दस की जगह पन्द्रह आदमियों की पूँजी और मेहनत से पहले की अपेक्षा अधिक पैदावार हो सकती है । अर्थात् फ़ी आदमी छः सौ मन से अधिक ग़ल्ला पड़ सकता है । परन्तु यदि उस सीमा को वह पहले ही पहुँच चुकी है तो छः सौ मन से कम ही पड़ेगा । फल यह होगा कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश

में, अधिक पूँजी लगाने और अधिक मेहनत करने पर भी, फ़ी आदमी हिस्सा कम पड़ेगा। धीरे धीरे यह हिस्सा और भी कम होता जायगा। यहाँ तक कि दो चार वर्ष बाद पैदावार की अपेक्षा ख़र्च बढ़ जायगा और उन पन्द्रह आदमियों का गुज़ारा मुश्किल से होगा। उन्हें ज़मीन छोड़ कर भगना पड़ेगा।

जिस ज़मीन की पैदावार सिर्फ़ जोतने, बोने, रखाने, आदि के ख़र्च के बराबर होती है उसे कहते हैं कि वह कृषि की पूर्व सीमा पर स्थित है। अर्थात् खेती करने की ठीक पहली हद पर है। इससे मालूम हुआ कि ज़मीन की उत्पादकता की दो सीमायें हैं। एक तो वह जिसके नीचे चले जाने से कोई खेती कर ही नहीं सकता; क्योंकि इस दशा में ख़र्च ही नहीं निकलता। दूसरी वह जिसमें अधिक से अधिक पैदावार होती है—इतनी कि उससे अधिक हो ही नहीं सकती। उर्वरा शक्ति होने पर भी जिस ज़मीन में पूरी पैदावार नहीं होती उसे रोगी समझना चाहिए। अधिक पूँजी और अधिक मेहनत के रूप में दवा देकर उसकी स्वाभाविक उर्वरा शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अर्थात् वह उत्पादकता की ऊपरी सीमा तक पहुँचाई जा सकती है। उस सीमा पर पहुँच जाने पर फिर अधिक ख़र्च करने से कोई लाभ नहीं होता।

प्राय: यही बात ज़मीन के भीतर प्राप्त होने वाली चीज़ों के विषय में भी कही जा सकती है। इस देश में लोहे और कोयले की कितनी ही खानें हैं। पहले इन चीज़ों को खोद कर बाहर निकालने में इतना ख़र्च पड़ता था कि लाभ के बदले हानि होती थी। क्योंकि रेल के न होने से इन चीज़ों को दूर दूर भेजने में बहुत ख़र्च पड़ता था। पर अब रेल हो जाने से ख़र्च कम पड़ने लगा है। अतएव अब कोयले और लोहे को सम्पत्ति का रूप प्राप्त हो गया है। जिन खानों से ये चीज़ें निकलती हैं वही खोदते खोदते जब बहुत गहरी हो जायँगी तब ख़र्च अधिक पड़ेगा और सम्भव है ख़र्च की अपेक्षा लोहे और कोयले की क़ीमत कम हो जाय। इस दशा में उनका निकालना बन्द हो जायगा। क्योंकि खानि जितनी ही अधिक गहरी होगी, फ़ी मन कोयला या लोहा निकालने का ख़र्च भी उतना ही अधिक पड़ेगा।

यह ख़र्च अधिक होते होते जब कोयले की क़ीमत से अधिक हो जायगा तब लाचार होकर खानि का काम बन्द करना पड़ेगा।

सारांश यह कि ज़मीन की उत्पादकता की सीमा है। सीमा तक पहुँच जाने पर अधिक पूँजी लगाने और अधिक परिश्रम करने से भी अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होती। जब तक इस सीमा का अतिक्रम नहीं हुआ, तभी तक उत्पादकता बढ़ाने की कोशिश कारगर होती है। अधिक पूँजी लगाने से मतलब खाद, सिँचाई और औज़ारों आदि में अधिक ख़र्च करने से है।

ज़मीन की उर्वरा शक्ति पानी पास होने, अच्छे औज़ारों से काम लिये जाने, खाद डालने, किसी मंडी या शहर के पास होने आदि कारणों से बढ़ जाती है।

सब ज़मीन एक सी नहीं होती। कोई बहुत उपजाऊ होती है, कोई कम, कोई बिलकुल ही नहीं। कहीं कहीं यह भेद प्राकृतिक होता है। जिस ज़मीन में कभी खेती नहीं हुई और बहुत अधिक पथरीली या रेतीली होने के कारण जिसमें खेती हो भी नहीं सकती, अथवा यदि खेती हो भी तो पैदावार बहुत कम हो, उसे स्वभाव ही से वैसी समझना चाहिए। अर्थात् उसका वह रूप प्राकृतिक है। उसमें पौधों की ख़ूराक प्रकृति ने ही नहीं पैदा की, या की है तो बहुत कम। परन्तु जिस ज़मीन का उपजाऊपन खेती करते करते कम हो गया है, अर्थात् जिसमें पौधे अपनी ख़ूराक बहुत कुछ खा चुके हैं, उसका उपजाऊपन बढ़ाया जा सकता है। इसी तरह जो ज़मीन प्राकृतिक रूप में पड़ी है; जिसमें कभी खेती नहीं हुई; पर जो खेती के लायक़ ज़रूर है; उसकी भी उर्वरा शक्ति बढ़ाई जा सकती है। जैसे आदमी के लिए ख़ूराक दरकार है वैसे ही पौधों के लिए भी दरकार है। इसलिए पौधों को अच्छी और यथेष्ट ख़ूराक पहुँचाने और जिन बातों से उनकी शक्ति बढ़े उन्हें करने से वे ख़ूब बढ़ते हैं और पैदावार को बढ़ाते हैं। ज़मीन की उर्वरा शक्ति बढ़ाने ही से यह बात हो सकती है। अथवा यदि यह कहें कि पौधों की ख़ूराक ही का नाम ज़मीन की उर्वरा शक्ति है तो भी कह सकते हैं।

जिस ज़मीन में स्वाभाविक उर्वरा शक्ति है उसी में अधिक लागत लगाने और अधिक मेहनत करने से उपज अधिक हो सकती है। जिसमें यह

शक्ति नहीं है उसमें चाहे जितनी लागत लगाई जाय और चाहे जितनी मेहनत की जाय कभी उपज अच्छी न होगी। अतएव ज़मीन की अर्थोत्पादकता का मुख्य कारण उसका उपजाऊपन है। ज़मीन जितनी ही अधिक उपजाऊ होगी उतनी ही अधिक पैदावार—उतनी ही अधिक सम्पत्ति—उससे प्राप्त होगी।

जिस ज़मीन में उत्पादक शक्ति तो है, पर कम है, उसकी वृद्धि कृत्रिम उपायों से हो सकती है। इनमें से पहला उपाय आबपाशी है। सींचने से पैदावार बढ़ती है—ज़मीन की उर्वरा शक्ति अधिक हो जाती है—यह कौन नहीं जानता? इसी तरह अच्छी खाद से भी उर्वरा शक्ति अधिक हो जाती है। योरप और अमेरिका वालों ने अच्छी खाद ही की बदौलत ज़मीन की पैदावार को कई गुना अधिक बढ़ा दिया है। उन्होंने रसायन-शास्त्र की सहायता से यह जान लिया है कि किस जिन्स के लिए कैसी और कितनी खाद दरकार होती है। खेती में जो औज़ार काम आते हैं उनका सुधार करने से भी ज़मीन की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है। हमारा सैकड़ों वर्ष का पुराना हल अभी तक वैसा ही बना हुआ है। यदि नई तरह के हल से ज़मीन जोती जाय तो बहुत गहरी जुते और पहले की अपेक्षा पैदावार भी अधिक हो। ये नये हल कलकत्ता, कानपुर आदि नगरों में आसानी से मिल सकते हैं। योरप और अमेरिका में तो काटने, मांड़ने, भूसा उड़ाने और बीज बोने तक की कलें बन गई हैं। यदि उनका प्रचार किया जाय तो ख़र्च कम पड़े। और ख़र्च कम पड़ना मानो अधिक लाभ उठाना, अथवा ज़मीन की उत्पादकता को बढ़ाना, है। ज़मीन की उत्पादकता जितनी ही अधिक बढ़ जायगी उतनी ही अधिक सम्पत्ति की वृद्धि होगी। क्योंकि ज़मीन से जो चीज़ें पैदा होती हैं, सब सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं।

जो ज़मीन किसी मंडी या बड़े शहर के पास होती है उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है; उसकी क़ीमत अधिक आती है। ऐसी ज़मीन की उपज बहुत थोड़े ख़र्च में मंडियों और बाज़ारों में पहुँचाई जा सकती है। ख़र्च कम पड़ने से उसकी बिक्री से लाभ भी अधिक होता है। इसीसे शहर और बस्ती के पास की ज़मीन हमेशा महँगी बिकती है। जिस ज़मीन में कुवें हैं,

या जो नहर के पास है, उसकी भी अधिक क़ीमत आती है। व्यापार का सुभीता, पानी की प्राप्ति और बस्ती का पास होना—ज़मीन की अर्थोत्पादकता बढ़ाने के प्रधान कारण हैं। जो ज़मीन बस्ती से दूर है, जहाँ पानी नहीं है, जिसके आस पास कोई अच्छा बाज़ार नहीं है उसकी कुछ भी क़ीमत नहीं आती और आती भी है तो बहुत कम। लाखों करोड़ों बीघे ज़मीन, बस्ती से दूर होने के कारण, परती पड़ी रहती है। यह बात इस देश की बड़ी बड़ी रियासतों में बहुधा देखी जाती है। यदि उसके पास आबादी हो जाय और सिंचाई के लिए कुवें और नहर बन जायँ तो वही ज़मीन उत्पादक हो जाय और देश की सम्पत्ति-वृद्धि का कारण हो।

ज़मीन पर हमेशा के लिए अधिकार हो जाने से भी उसकी अर्थोत्पादकता बढ़ती है। जो किसान या ज़मींदार यह जानता है कि मेरी ज़मीन हमेशा मेरे ही अधिकार में रहेगी वह उसे उर्वरा बनाने में जी जान होम कर कोशिश करता है। पर जो यह जानता है कि यह ज़मीन मुझसे छीनी जा सकती है, वह कभी उसे उत्पादक बनाने के लिए अधिक ख़र्च नहीं करता। यदि वह अच्छी अच्छी खाद डाल कर और कुवाँ खोद कर अपनी ज़मीन को उर्वरा बनावे और पीछे से वह छिन जाय तो उसका ख़र्च ही व्यर्थ जाय। यह भय बड़ा हानिकारी है। वह ज़मीन की उत्पादक शक्ति को नहीं बढ़ने देता। अँगरेज़ी गवर्नमेंट हिन्दुस्तान में शासन भी करती है और ज़मींदारी भी। इस देश की प्रायः सारी ज़मीन पर गवर्नमेंट का ही स्वत्व है। वह दस, बीस, या तीस वर्ष बाद नये सिरे से ज़मीन की माप जोख करके लगान बढ़ा देती है। और जो अधिक लगान नहीं देता उसे बेदख़ल कर देती है। इसीसे किसान और ज़मींदार ज़मीन को उत्पादक बनाने के लिए विशेष ख़र्च नहीं करते। फल यह होता है कि उसकी उत्पादक शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जाती है और खेती की उपज से ही जीवननिर्वाह करनेवालों की लोटा थाली बिकती चली जाती है। इस देश में गवर्नमेंट ने कहीं तो ज़मींदारों को ज़मीन उठा रक्खी है, कहीं रियाया को। जहाँ ज़मींदारी बन्दोबस्त है वहाँ ज़मींदार काश्तकारों को ज़मीन उठाते हैं और उन्हें बेदख़ल करने का अख़तियार रखते हैं। जहाँ गवर्नमेंट रियाया को ज़मीन

उठाती है वहां, कारण उपस्थित होने पर वह ख़ुद ही कास्तकारों को बेदख़ल कर देती है। हां, बङ्गाल में ज़मीन का बन्दोबस्त इस्तमरारी है। उसमें फेरफार नहीं होता। जो एक बार हो गया है वही बना हुआ है। इसीसे वहां के ज़मींदार ज़मीन को उत्पादक बनाने में बहुत कोशिश करते हैं। इसीसे वहां की आर्थिक दशा और प्रान्तों की अपेक्षा अच्छी है।

हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है। इससे इस देशवाले यदि ज़मीन की उत्पादक शक्ति बढ़ावें तो उन्हें बहुत लाभ हो।

तीसरा परिच्छेद।

मेहनत।

सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए जिस तरह ज़मीन की ज़रूरत है उसी तरह श्रम अर्थात् मेहनत की भी ज़रूरत है। यदि श्रम न किया जाय तो सम्पत्ति की उत्पत्ति ही न हो। विनिमयसाध्य होना ही सम्पत्ति का प्रधान लक्षण है। पर बिना श्रम के पदार्थों में विनिमयसाध्यता नहीं आती। यह गुण श्रम के ही योग से पैदा होता है। जंगलों में सैकड़ों वनस्पतियां आपही आप उगती हैं। वे बड़े बड़े रोग दूर करने में दवा का काम देती हैं, अर्थात् बहुत उपयोगी होती हैं, तथापि जंगल में उनकी कुछ भी क़ीमत नहीं। वही जड़ी बूटियां जब शहरों और बाज़ारों में परिश्रमपूर्वक लाई जाती हैं तब विनिमयसाध्य होकर सम्पत्ति हो जाती हैं। इसका एक मात्र कारण श्रम है।

शारीरिक और मानसिक, दोनों तरह के श्रमों से, पदार्थों को सम्पत्ति का रूप प्राप्त होता है। प्रकृति सिर्फ़ सम्पत्ति की सब्बी सामग्री पैदा करती है; श्रम उसे सम्पत्ति के स्वरूप में बदलता है। आदमियों की ज़रूरतें प्राकृतिक सामग्री से—क़ुदरती चीज़ों से—तब तक अच्छी तरह नहीं रफ़ा होतीं जब तक श्रम की मदद नहीं मिलती। आप ज़रा अपनी टोपी, साफ़े या कोट ही को देखिए। जिस व्यवहार-योग्य दशा में आप उन्हें देखते हैं उसमें लाने के लिए कितनी मेहनत—कितना श्रम—दरकार है। इसी तरह हमारे प्राचीन पण्डितों ने दर्शनशास्त्र या उपनिषद् लिखने, अथवा डारविन, स्पेन्सर, मिल आदि

इँगलेंड के विद्वानों ने अपने अपने अनमोल ग्रन्थ रचने, में कितनी दिमाग़ी मेहनत की होगी—कितनी ज़ांफिशानी की होगी। यह उनके परिश्रमही का फल है जो उनके उत्तमोत्तम ग्रन्थों से हम इतना लाभ उठा रहे हैं।

असभ्य अवस्था में सम्पत्ति की उतनी ज़रूरत नहीं होती। अफ़्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि के असभ्य जंगली फल, फूल और मूल खाकर अपनी क्षुधा निवृत्त, और पेड़ों की छाल और पत्ते पहन कर अपनी लज्जा निवारण, कर लेते हैं। उनको सम्पत्ति की अपेक्षा नहीं। प्राकृतिक सामग्री से ही उनका काम चल जाता है। पर सभ्यता का सञ्चार होते ही सम्पत्ति की ज़रूरत पैदा हो जाती है। सभ्यता और सम्पत्ति का दृढ़ सम्बन्ध है। सभ्यता को अभाव या आवश्यकता की माँ कहना चाहिए। सभ्यता की प्राप्ति होते ही मनुष्य को नई नई चीज़ें पाने की इच्छा होती है। उसकी ज़रूरतें बढ़ जाती हैं। इसीसे तरह तरह की चीज़ों को उत्पन्न, तैयार और रूपान्तरित करके उन्हें विनिमयसाध्य करने के लिए मनुष्य को मेहनत करनी पड़ती है। अच्छे अच्छे मकान बनाने, अच्छे अच्छे कपड़े पहनने, अच्छे से अच्छा भोजन करने की वासना की उत्पादक सभ्यता ही है। जो जाति जितनी अधिक सभ्य है, ज़रूरतें भी उसकी उतनीही अधिक प्रबल हैं—वासनायें भी उसकी उतनी ही अधिक ऊँची हैं। सभ्यता और सम्पत्ति का जोड़ अखण्ड है। सभ्य हो कर सम्पत्ति की इच्छा न रखना असम्भव है। फलों से अवनत वृक्ष-लतादि के नीचे रह कर भी, और रत्नराशि से पूर्णोदर पृथ्वी के ऊपर वास करके भी, कर्म्मफला बुद्धि से हीन और परिश्रम के लाभों से अज्ञान वन-मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं। इस बात को देख कर कौन समझदार आदमी यह कहने का साहस करेगा कि ईश्वर या प्रकृति के दिये हुए वृक्ष-लता और भूमि आदि से, उनकी स्वाभाविक अवस्था में परिवर्तन किये बिना, सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है? चाहे पेड़ों के फल हों, चाहे खानि के रत्न हों, चाहे जंगल के जीव हों, चाहे जल की मछलियाँ हों—जब तक मनुष्य मेहनत करके उनसे अपनी ज़रूरतों को रफ़ा नहीं कर सकता तब तक उन चीज़ों को सम्पत्ति का रूप नहीं प्राप्त हो सकता—तब तक उनकी गिनती धन में नहीं हो सकती। अतएव पदार्थों को सम्पत्ति का रूप देने के

लिए श्रम की बड़ी ज़रूरत है । श्रम वह चीज़ है जिससे खाने, पीने और पहनने की व्यावहारिक चीज़ें मनुष्य के लिए सुलभ हो जाती हैं; आबादी बढ़ती है; और साथ ही सम्पत्ति की भी वृद्धि होती है ।

श्रम का लक्षण ।

योरप के सम्पत्ति-शास्त्र-वेत्ताओं ने कई तरह से श्रम का लक्षण किया है । पर सब का मुख्य आशय एक ही है । प्रसिद्ध विद्वान् मिल के अनुसार श्रम का काम पदार्थों को गति देना है । अथवा यों कहिए कि श्रम वह वस्तु है जिसके द्वारा एक चीज़ दूसरी से लाई जाती है या दूसरी की तरफ़ पहुँचाई जाती है । अथवा श्रम वह वस्तु है जो चीज़ों को उचित स्थान में रखने का काम करती है । विचार करने से इन सब लक्षणों से एक ही अर्थ निकलता है । वह अर्थ पदार्थों को गति देना है । क्योंकि बिना गति प्राप्त हुए न कोई चीज़ कहीं से उठ सकती है और न कोई कहीं रक्खी जा सकती है । जितने जड़ पदार्थ हैं श्रम उनको गति देता है । बाक़ी काम प्राकृतिक नियमों के अनुसार उन पदार्थों के स्वाभाविक गुण आप ही आप करते हैं । उनके लिए श्रम की सहायता नहीं दरकार होती ।

उदाहरण के लिए लकड़ी के एक तख़्ते को लीजिए । वह किस तरह बना है ? पेड़ काटने में कुल्हाड़ी को गति देने से और पेड़ गिर जाने पर आरे को गति देकर उसके तने के भीतर चलाने से । मकान बनाने में, खेत जोतने में, कपड़ा बुनने में सब कहीं पदार्थों को गति दिये बिना काम नहीं चल सकता । इस गति देने ही का नाम श्रम है । इसी वस्तु-सञ्चालन को श्रम कहते हैं । यही मेहनत है ।

अनुत्पादक श्रम ।

श्रम की सहायता के बिना सम्पत्ति नहीं उत्पन्न होती । पर कुछ श्रम ऐसे भी हैं जो उपयोगी तो हैं, परन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं उत्पन्न करते । अर्थात् उनके द्वारा लगातार सम्पत्ति नहीं उत्पन्न होती रहती । उदाहरण के लिए—उपयोगी और ज़रूरी चीज़ें तैयार करनेवाले बढ़ई, लोहार, मेसन, किसान, अध्यापक आदि का

श्रम लगातार सम्पत्ति उत्पन्न करता है। अतएव इनका श्रम उत्पादक है। पर आतशबाज़ी तैयार करनेवाले हवाईगर का श्रम उत्पादक नहीं। क्योंकि उससे लगातार सम्पत्ति नहीं पैदा होती। एकही बार पैदा होकर जल जाती है। कल्पना कीजिए कि एक हवाईगर के पास दस रुपये की पूँजी है। इस पूँजी से उसने आतशबाज़ी तैयार की और उसे बीस रुपये को बेची। अर्थात् हवाईगर के पास दस के बीस रुपये होगये। पर यह हिसाब ठीक नहीं। क्योंकि जिसने उसे बीस में मोल लिया उसके रुपये भी तो जोड़िए। जोड़ने से दोनों की पूँजी मिलाकर तीस रुपये हुए। पर इन तीस की जगह हवाईगर के पास सिर्फ़ बीस रुपये रह गये। अर्थात् दस रुपये का घाटा रहा और इस घाटे का बदला क्या मिला? आतशबाज़ी छूटते देख मोल लेने-वाले को जो दो चार मिनट मनोरञ्जन या आनन्द हुआ वह। और कुछ नहीं। अतएव आतशबाज़ी की तरह की चीज़ें तैयार करने, अथवा गाने बजाने आदि में श्रम करने, से लगातार सम्पत्ति नहीं पैदा होती। उलटा उससे कम हो जाती है। इसलिए इस तरह का श्रम उत्पादक नहीं। श्रम की सहायता से सम्पत्ति से सम्पत्ति पैदा होनी चाहिए। जो लोग अपनी सम्पत्ति को सन्दूकों में बन्द करके छोड़ देते हैं, या ज़मीन में गाड़ रखते हैं, उससे नई सम्पत्ति नहीं पैदा होती। इसी तरह जो लोग इत्र, फुलेल, झाड़, फानूस और काँच आदि ऐश व आराम के सामान तैयार करने या ख़रीदने में अपनी सम्पत्ति लगाते हैं वह भी उत्पादक नहीं। अतएव ऐसे लोग देश के दुश्मन हैं। सम्पत्ति ही इस ज़माने में सबसे बड़ा बल है। जो लोग इस बल का नाश करते हैं वे अपने देश और अपनी जाति के दुश्मन नहीं तो क्या हैं? उन्हें तो बहुत बड़ा स्वदेशद्रोही कहना चाहिए। गाने, बजाने, खेल तमाशे करने और क़िस्से कहानियों की किताबें लिखने में श्रम ज़रूर पड़ता है। पर बतलाइए, ऐसे श्रम से कौन सी सम्पत्ति उत्पन्न होती है? ज़रा देर के लिए मनोरञ्जन ज़रूर हो जाता है। बस। क़िस्से कहानियों की किताबों की बिक्री से बेचनेवाले को कुछ लाभ होने की सम्भावना रहती है। पर यदि उसे लाभ हुआ भी तो किताबें मोल लेनेवालों की हानि के बराबर नहीं हो सकता। उन लोगों की जो सम्पत्ति ऐसी किताबें लेने में

बरबाद जाती है वह यदि किसी और अच्छे काम में लगाई जाय तो कम न होकर उलटा उसकी वृद्धि हो ।

उत्पादक श्रम ।

अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष, दोनों तरह से, श्रम उत्पादक हो सकता है। अप्रत्यक्ष श्रम के उत्पादक होने का उदाहरण स्कूल और कालेज के अध्यापकों और अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखनेवालों का श्रम है। स्कूलों में अध्यापकों के परिश्रम ही की बदौलत विद्यार्थी शिक्षित होते हैं और शिक्षा की मदद से अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे करके सम्पत्ति पैदा करते हैं । उत्तमोत्तम पुस्तकों से जो ज्ञानवृद्धि होती है, जो तजरिबा बढ़ता है, जो अनेक प्रकार की नई नई बातें मालूम होती हैं—उससे भी सम्पत्ति प्राप्त करने में मदद मिलती है। अतएव अध्यापकों और ग्रन्थकारों का श्रम सम्पत्ति का अप्रत्यक्ष उत्पादक है।

यहां पर यह एतराज़ हो सकता है कि स्कूलों में जो लड़के शिक्षा प्राप्त करते हैं उनमें से सभी सम्पत्ति उत्पन्न करने योग्य नहीं होते। कोई कोई अपना पेट पालने में भी असमर्थ होते हैं। उनके सम्बन्ध में तो अध्यापकों का श्रम सम्पत्ति का उत्पादक न हुआ । इस एतराज़ का जवाब यह है कि सम्पत्ति-शास्त्र सिर्फ़ व्यापक सिद्धान्त निश्चित करता है; उन सिद्धान्तों की बाधक अवान्तर बातों का विचार नहीं करता। यदि कोई लड़का बहुत ही कुन्दज़ेहन हो, या बुरी सङ्गति के कारण अवारा हो जाय, या किसी रोग से पीड़ित बना रहे, तो अध्यापकों का श्रम व्यर्थ जा सकता है। पर इससे सिद्धान्त में बाधा नहीं आसकती। क्योंकि यदि ये बाधक कारण न उपस्थित हों तो अध्यापकों का श्रम ज़रूर उत्पादक हो।

काश्तकार, बढ़ई, लोहार आदि का श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक है। जिसके कारण जड़ पदार्थों में चिरस्थायी उपयोगिता पैदा हो जाती है उसी श्रम का नाम उत्पादक श्रम है। खेत, लकड़ी और लोहा जड़ पदार्थ हैं। पर काश्तकार खेत में अनाज पैदा करता है, बढ़ई लकड़ी का हल बना देता है, और लोहार लोहे का फाल तैयार कर देता है। अर्थात् चेतनारहित जड़

चीज़ों को ये लोग उपयोगी बना देते हैं। इन उपयोगी वस्तुओं की मदद से सम्पत्ति उत्पन्न होती है और ये ख़ुद भी प्रत्यक्ष सम्पत्ति हैं। अथवा यों कहिए कि इनकी मदद से लोग व्यवहार की ऐसी चीज़ें पैदा करते हैं जिनका रोज़ काम पड़ता है। हल और फाल से खेत जोते जाते हैं और खेत से प्राप्त हुए अनाज को खाकर मनुष्य सारे सांसारिक काम करते हैं। अतएव इस तरह का श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक है।

मतलब यह कि जिस श्रम से पदार्थों में प्रत्यक्ष उपयोगिता आजाती है वह प्रत्यक्ष उत्पादक कहलाता है और जिस श्रम से अप्रत्यक्ष उपयोगिता आती है वह अप्रत्यक्ष उत्पादक। बढ़ई के श्रम ने हल तैयार कर दिया। हल हमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है और उसकी गिनती सम्पत्ति में है। अतएव बढ़ई का श्रम प्रत्यक्ष उत्पादक है। पर अध्यापकों और ग्रन्थकारों का श्रम दूसरी तरह का है। उनके श्रम से प्रत्यक्ष सम्पत्ति तो नहीं पैदा होती, पर उनके श्रम की बदौलत जिन लोगों को शिक्षा मिलती है वे उसकी सहायता से सम्पत्ति पैदा कर सकते हैं। इसीसे इस प्रकार का श्रम अप्रत्यक्ष उत्पादक है।

किसी चीज़ के उत्पादक बनाने—किसी चीज़ में उपयोगिता पैदा करने—से यह मतलब है कि उससे सम्पत्ति की अधिकाधिक उत्पत्ति होती जाय। इस हिसाब से जो रुपया या जो पदार्थ दीन दुखियों को, लँगड़े-लूलों को, अन्धे-अपाहिजों को दिया जाता है वह बिलकुल ही अनुत्पादक है। सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से इस तरह का दान ज़रूर निषिद्ध है। जब ऐसा दान निषिद्ध है तब काम करने की शक्ति रखने वालों, अर्थात् श्रम द्वारा सम्पत्ति पैदा करने की योग्यता रखने वालों, को दान देना तो और भी निषिद्ध है। क्योंकि दान के भरोसे रह कर वे सम्पत्ति उत्पन्न करना बन्द कर देते हैं और देश की दरिद्रता बढ़ाने का कारण होते हैं। मन्दिर, मसजिद और गिरजाघर बनाना, धार्म्मिक कामों में लाखों रुपये फूँकना, तीर्थादि की यात्रा करना भी सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। क्योंकि इन कामों में जो सम्पत्ति ख़र्च होती है और जो श्रम उठाना पड़ता है वह उत्पादक नहीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इन सिद्धान्तों को मानना मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य

या धर्म्म है । दानपात्र को दान देना—अन्धे अपाहिजों को ख़ैरात करना—सदाचार, सुनीति और सद्धर्म्म की बात है । अतएव ऐसे विषयों में सम्पत्ति-शास्त्र के नियम वेदवाक्य नहीं माने जा सकते । सम्पत्ति-शास्त्र की अपेक्षा धर्म्म-शास्त्र का जो अधिक क़ायल है वह ख़ुशी से दानपात्रों को दान दे सकता है ।

श्रम की अर्थोत्पादक शक्ति ।

जैसे सब भूमि एक सी उत्पादक नहीं होती वैसे ही सब श्रम भी एकसा उत्पादक नहीं होता । कभी वह कम उत्पादक होता है, कभी अधिक । इसके कारण हैं । ज़मीन के अधिक उर्वरा होने; श्रमजीवियों के सबल, मज़बूत, शिक्षित, कुशल और विश्वासपात्र होने; श्रम-विभाग होजाने; कलों से काम लेने आदि से श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है । कल्पना कीजिए कि किसी लोहार ने चार दिन मेहनत करके एक सेर ईसपात तैयार किया । उसे उसने घड़ी का काम करने वाले एक दूकानदार के हाथ दो रुपये को बेचा । दुकानदार ने उस ईसपात की "हेअर स्प्रिंग्ज़" अर्थात् बाल-कमानियां बनवाईं । उनके बनाने में इतनी कुशलता से मेहनत की गई और ऐसे ऐसे यन्त्रों से काम लिया गया कि दो रुपये की चीज़ दो हज़ार की होगई ! यदि कलों की सहायता से शिक्षित और कुशल कारीगर इस काम को दिल लगाकर न करते तो उनका श्रम कभी इतना उत्पादक न होता । अतएव कारीगरी और कलों का उपयोग इस उत्पादकता के कारण हुए ।

कोई कोई जाति स्वभाव ही से अधिक मेहनती होती है । दक्षिण के हम्मालों अर्थात् कुलियों को देखिए । कैसे मज़बूत होते हैं । ढाई तीन मन का वज़नी बोरा फूल सा उठाकर पीठ पर रख लेते हैं और स्टेशनों पर सुबह से शाम तक काम किया करते हैं । अब कानपुर, इलाहाबाद और लखनऊ आदि के कुलियों को देखिए । बदन भी उनका उतना मज़बूत नहीं और वज़न भी वे उतना नहीं उठा सकते । इससे स्पष्ट है कि संयुक्त-प्रान्त के कुलियों की अपेक्षा दक्षिणी हम्मालों का श्रम अधिक उत्पादक होगा और जो लोग उनसे काम लेंगे उनको अधिक लाभ भी होगा । यह एक जाति

या समुदाय की बात हुई। जुदा जुदा हर आदमी के विषय में भी यही कहा जा सकता है। कोई आदमी अधिक मज़बूत होता है और अधिक काम करता है, और कोई कम। अतएव श्रम की उत्पादकता की कमी वेशी बदन की स्वाभाविक बनावट और मज़बूती पर बहुत कुछ अवलम्बित रहती है।

जिन लोगों को पेट भर बलवर्धक खाना मिलता है, जो नीरोग हैं, जो हवादार साफ़ मकानों में रहते हैं वे हमेशा प्रसन्नचित्त और स्वस्थ रहते हैं। अतएव वे अधिक श्रम कर सकते हैं और उनका श्रम अधिक उत्पादक होता है। बीमार, मरभुखे और गन्दे झोपड़ों में रहनेवाले लोग प्रसन्न नहीं रहते; उनका चित्त प्रफुल्लित नहीं रहता; उनका शरीर सबल नहीं होता; इससे उनसे मेहनत कम होती है। जिन देशों के मज़दूरों की दशा अच्छी है; जिनको खाने पीने का कष्ट नहीं है; बीमार होने पर जिनके दवा-पानी का अच्छा प्रबन्ध है; वे औरों की अपेक्षा अधिक काम कर सकते हैं। आराम और प्रफुल्लचित्त आदमी की बुद्धि तेज़ रहती है। इससे उसके हाथ से अच्छा काम होता है। परन्तु एक बात ध्यान में रखने लायक़ है। वह यह है कि आदमी चाहे जितना सबल, नीरोग, तीव्रबुद्धि और प्रसन्नचित्त हो वह जितना अधिक और जितना अच्छा अपना काम करेगा उतना दूसरे का नहीं। अर्थात् ख़ुद अपने घर के काम में वह जितना परिश्रम करेगा उतना मज़दूरी लेकर औरों के काम में न करेगा। जो लोग क्रीतदास हैं, जो जन्म भर के लिए औरों के ग़ुलाम हो गये हैं, वे साधारण मज़दूरों से भी कम काम करेंगे। इससे उनका काम और भी कम उत्पादक होगा। इन्हीं सब बातों के ख़याल से बड़े बड़े कारख़ानों के मालिक कभी कभी कारख़ाने के कारीगरों और मज़दूरों को अपना हिस्सेदार बना लेते हैं। ऐसा करने से बहुत काम होता है, क्योंकि कारख़ाने के हानि-लाभ को श्रमजीवी जन अपनाही हानि-लाभ समझते हैं। इससे सूचित हुआ कि श्रम के अधिक उत्पादक होने के लिए जैसे नीरोगता, सफ़ाई, और बलवर्द्धक खाने की ज़रूरत है वैसे ही किये जाने वाले काम से श्रमजीवियों के निज के सम्बन्ध की भी ज़रूरत है। इन बातों के न होने से भी काम होता है, पर अधिक उत्पादक नहीं होता।

जो मज़दूर—जो श्रमजीवी—सदाचरणशील हैं, शराब, कबाब और गाँजा, भङ्ग का जिन्हें चसका नहीं है, वे अधिक श्रम कर सकते हैं और उनका श्रम अधिक उत्पादक होता है। जिनको नशे या और किसी व्यसन का चसका लग जाता है उनका बल घट जाता है, उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है, उनकी उम्र कम हो जाती है, उनके हाथ पैर जल्द नहीं उठते। इससे उनसे कम परिश्रम होता है। ऐसे मज़दूरों से सम्पत्ति की यथेष्ट उत्पत्ति नहीं हो सकती।

श्रमजीवियों के श्रम से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न होने के लिए और भी कई बातों की ज़रूरत है। उनमें से (१) एक बात ईमानदारी है। ईमानदार मज़दूरों से काम लेने में देखभाल की बहुत कम ज़रूरत रहती है। इससे देखभाल के लिए जो आदमी रखने पड़ते हैं उनका खर्च कम हो जाता है और खर्च का कम होना मानों सम्पत्ति की उत्पत्ति का अधिक हो जाना है। (२) दूसरी बात कार्य्य-कुशलता है। जिस लकड़ी से एक मामूली बढ़ई भद्दा बाकस बना कर चार रुपये को बेचता है उसीसे एक कुशल बढ़ई अलमारी बना कर बीस रुपये को बेचता है। चतुर और कुशल आदमी अपनी कारीगरी की बदौलत अपने श्रम से जितनी सम्पत्ति पैदा कर सकता है मामूली कारीगर कभी नहीं कर सकता। अतएव सम्पत्ति की अधिक उत्पत्ति के लिए श्रमजीवी मज़दूरों और कारीगरों आदि में कार्य्यकुशलता की भी बड़ी ज़रूरत है। जिस काम के लिए एक साधारण कारीगर आठ आने रोज़ पाता है उसी के लिए एक चतुर कारीगर अपनी कार्य्यकुशलता की बदौलत एक रुपया रोज़ पैदा करता है। (३) तीसरी बात बुद्धिमानी और सज्ञानता है। जो श्रमजीवी बुद्धिमान् नहीं हैं, जिन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है कि सम्पत्ति की किस तरह वृद्धि करनी चाहिए, उनका श्रम कभी अधिक उत्पादक नहीं होता। देखिए, इस देश के निर्बुद्धि और अल्पज्ञ बढ़ई, लोहार, कुम्हार और जुलाहे आदि अपने पूर्वजों के रोज़गार को अब भी उसी तरह कर रहे हैं जिस तरह कि सैकड़ों हज़ारों वर्ष पहले होता था। उसमें तरक्क़ी करने की बात कभी उनको सूझती ही नहीं। यदि वे बुद्धिमान् और यथेष्ट सज्ञान होते तो और और देशों की बनी हुई अच्छी अच्छी

चीज़ें देखकर वैसी ही चीज़ें बनाने के उपाय सोचते, और अपने परिश्रम से अधिक सम्पत्ति पैदा करके ख़ुद भी सम्पत्तिमान् होते और देश की भी सम्पत्ति को बढ़ाते।

श्रमजीवियों के जिन दोषों का वर्णन ऊपर किया गया उनमें से कुछ मानसिक हैं, कुछ शारीरिक। इन दोनों प्रकार के दोषों में से कुछ तो स्वाभाविक हैं और कुछ अस्वाभाविक। यदि किसी देश के मज़दूर स्वभावही से कमज़ोर हों, या यदि कोई मज़दूर स्वभाव ही से निर्बुद्धि या कमअक़्ल हो तो उसकी कोई अच्छी दवा नहीं। पर अविश्वासपात्रता, मूर्खता, असंयमशीलता आदि दोष ऐसे हैं जो शिक्षा के प्रभाव से दूर हो सकते हैं। यदि देश में शिक्षा का प्रचार होजाय और श्रमजीवी लोग शिक्षित हो जायँ तो उनके ये दोष बहुत कुछ दूर हो सकते हैं। क्योंकि शिक्षित आदमी विश्वास और संयमशीलता के गुणों को अच्छी तरह जान जाते हैं। इससे वे संयमशील और विश्वसनीय बनने की कोशिश करते हैं। शिक्षा से उनकी बुद्धि परिमार्जित हो जाती है; उनके ज्ञान की वृद्धि हो जाती है; उन्हें उन्नति के उपाय सूझने लगते हैं। इस कारण वे अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकते हैं—उनका श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है। इससे उन्हें खाने पीने और कपड़े आदि की कमी से कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उनका शरीर भी सशक्त बना रहता है। जिस देश के मज़दूरों को उचित और उपयोगी शिक्षा मिलती है उस देश की सम्पत्ति ही नहीं बढ़ती, किन्तु उसकी राजनैतिक और सामाजिक अवस्था भी सुधर जाती है। इँगलैंड, फ़्रांस, जरमनी, अमेरिका और जापान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

एक बात यहाँ पर और कहनी है कि ज़मीन के सम्बन्ध में श्रम की उत्पादकता बहुत कुछ ज़मीन के उर्वरा होने पर अवलम्बित है। यदि ज़मीन स्वभाव ही से उर्वरा है—यदि उसमें स्वभाव ही से सम्पत्ति पैदा करने की शक्ति है–तो अधिक श्रम करने से अधिक सम्पत्ति ज़रूर पैदा होगी। पर यदि यह बात नहीं है तो बहुत श्रम से कुछ लाभ न होगा। ज़मीन उत्पादक होने पर थोड़ी मेहनत से भी बहुत सम्पत्ति पैदा हो सकती है। अन्यथा बहुत मेहनत भी व्यर्थ जाती है।

श्रम-विभाग ।

श्रम की उत्पादकता के विषय में ऊपर जो कुछ लिखा गया वह बहुत करके मनुष्य के मन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् यहां तक सम्पत्ति की उत्पत्ति के मानसिक कारणों का विचार हुआ। पर सम्पत्ति की उत्पत्ति के स्थूल कारण भी हैं। अतएव उनके विषय में भी कुछ कहना है।

मनुष्य अपनी आदिम या असभ्य अवस्था में अपने सब काम प्रायः ख़ुद ही करता है। वही अपने झोपड़े बनाता है, वही तीर बनाता है, वही जानवरों की खाल या पेड़ों के पत्ते ओढ़ने या कमर में लपेटने के लिए तैयार करता है। पर उसकी दशा सुधरते ही उसकी कार्य्यावली में धीरे धीरे अन्तर उपस्थित हो जाता है। आबादी बढ़ने और ज्ञान-वृद्धि होने पर एक आदमी सब काम ख़ुद ही नहीं कर सकता। इसलिए कुछ आदमी कुछ काम करने लगते हैं, कुछ कुछ। सब काम आपस में बँट जाते हैं। कोई तीर बनाने का काम करने लगता है, कोई मकान बनाने का, कोई कपड़े तैयार करने का। समाज की दशा सुधरते सुधरते श्रम का यहाँ तक विभाग हो जाता है कि एक एक व्यावहारिक चीज़ तैयार करने के लिए एक एक समुदाय अलग हो जाता है। सब लोग अपना अपना पेशा अलग अलग करने लगते हैं। लुहार, बढ़ई, मेसन, कुम्हार, सुनार, जुलाहे आदि जितने पेशेवाले हैं सब इस श्रम-विभाग ही के उदाहरण हैं। जिसका जो पेशा है वही उसकी जाति हो गई है।

यह श्रम-विभाग बड़े काम की चीज़ है। इससे सम्पत्ति के उत्पादन में बड़ी मदद मिलती है। थोड़े श्रम और थोड़े झंझट से बहुत सम्पत्ति उत्पन्न होती है। यदि हर आदमी को हर पेशे का काम करना पड़े तो संसार में आराम से रहना असम्भव हो जाय। इसीसे श्रम-विभाग की ज़रूरत है। जिस तरह हर पेशे के आदमियों ने श्रम का विभाग करके अपना अपना पेशा अलग कर लिया है, उसी तरह यदि हर देश भी करले तो श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाय और सम्पत्ति की वृद्धि पहले से बहुत अधिक होने लगे। अर्थात् जिस देश में जिस पेशे की सामग्री अधिक हो, अथवा

जिस पेशे के कुशल कारीगरों की संख्या अधिक हो, यदि वही पेशा किया जाय तो बहुत लाभ हो ।

श्रम-विभाग से वक़्त की बचत होती है । किसी काम का कुछ ही अंश सीखने में समय कम लगता है । जिसे लकड़ी का सामान बनाने का पेशा करना है वह यदि मेज़, कुरसी, बाक्स, आलमारी आदि सभी चीज़ें बनाना सीखे तो बरसों लग जायँगे । पर वही यदि कुरसी बनाना सीख कर सिर्फ़ वही बनाने का पेशा करे तो बहुत थोड़े समय में अच्छी कुरसी बनाना सीख जायगा । जितने पेशे हैं सब का यही हाल है । जितने बड़े बड़े कारख़ाने हैं सब में श्रम-विभाग का ख़ूब ख़याल रक्खा जाता है । आप किसी छापेख़ाने में जाइए । देखिएगा कि अक्षर जोड़ने वाले, मैशीन चलाने वाले, काग़ज़ उठाने वाले, प्रूफ़ संशोधन करनेवाले सब अलग अलग हैं । इससे समय की भी बचत होती है और काम भी अच्छा होता है ।

श्रम-विभाग से यह भी लाभ है कि एक ही काम करते रहने से आदमी उस काम में ख़ूब होशियार हो जाता है । उसका हाथ बहुत जल्द चलता है और काम बहुत साफ़ होता है । उसे उसकी सारी बारीक़ियाँ मालूम हो जाती हैं । दिन भर एक ही काम में लगे रहने से उसके मन और हाथ की क्रियाओं का उसमें तादात्म्य हो जाता है । उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्म्मेन्द्रियाँ तदाकार होकर उस काम में लीन सी हो जाती हैं—यहां तक कि ज्ञानेन्द्रियों से विशेष सहायता लिये बिना ही उसकी कर्म्मेन्द्रियाँ सब काम कर डालती हैं । धीरे धीरे आदमी यहाँ तक सिद्धहस्त हो जाता है कि काम करते वक़्त यदि वह अपनी आँखें एक आध दफ़े बन्द भी कर ले तो काम नहीं बिगड़ता ।

हमेशा एक ही काम करते रहने से नये नये आविष्कारों के—नई नई युक्तियों के—निकलने की बहुत सम्भावना रहती है । जो जिस काम को रोज़ करता है वह यह चाहता है कि किसी तरह मुझे कम मेहनत पड़े और काम भी पहले से अच्छा हो । अतएव वह इस बात को सोचता रहता है । सोचते सोचते वह कोई ऐसी युक्ति निकाल लेता है—कोई ऐसी कल ईजाद कर लेता है—कि उसकी मेहनत बहुत कम हो जाती है और काम भी

उसका पहले से विशेष अच्छा होने लगता है । कितने ही कारीगर ऐसे हो गये हैं जिन्होंने एक ही काम हमेशा करते करते उसे जल्द और बिना अधिक परिश्रम के करने की युक्तियां ढूँढ़ निकाली हैं और कलों में कितने ही लाभदायक सुधार कर दिये हैं ।

श्रम-विभाग से एक और फ़ायदा है कि जो आदमी, या जो मज़दूर, जिस काम को ख़ूब अच्छी तरह कर सकता है वह उसी काम में लगाया जा सकता है । अर्थात् हर आदमी को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार काम मिलता है । यह नहीं कि आठ आने की मज़दूरी करनेवाले को लाचार होकर चार आने रोज़ की मज़दूरी करनेवालों के साथ काम करना पड़े । श्रम-विभाग से मज़दूरों के जुदा जुदा वर्ग बनाये जा सकते हैं और अपने अपने वर्ग की योग्यता के अनुसार उन्हें मज़दूरी दी जा सकती है । ऐसा न करने से बड़ी हानि हो सकती है । गधे का काम यदि घोड़े से लिया जाय तो ज़रूरही हानि होगी । घोड़े का काम घोड़े से लेना चाहिए और गधे का गधे से । तभी लाभ होगा; और तभी, ख़र्च कम होने से, सम्पत्ति की अधिक उत्पत्ति होगी । श्रम-विभाग से लूले, लँगड़े, अपाहिज, बच्चे और स्त्रियाँ भी अपनी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम करके जीवन निर्वाह कर सकती हैं ।

श्रम-विभाग से एक हानि भी है । इससे श्रमजीवियों की बुद्धि विकसित नहीं होती । वह बढ़ती नहीं । जो आदमी जन्म भर एकही काम करता है उसकी बुद्धि दूसरा काम करने में नहीं चलती । जो सुनार सिर्फ़ ज़ेवर बनाना या गढ़ना जानता है, नक़्शा करना नहीं जानता, उससे नक़ाशी का काम न होगा । उस काम में उसकी बुद्धि ही न चलेगी । जो लोहार सिर्फ़ हल के फाल बनावेगा वह चाक़ू न बना सकेगा । यह एक प्रकार की हानि ज़रूर है । पर हानि और लाभ दोनों का मुक़ाबला करने पर हानि की मात्रा कम और लाभ की मात्रा अधिक निकलती है । अतएव थोड़ी हानि के डर से बहुत लाभ से हाथ धोना बुद्धिमानी का काम नहीं ।

श्रम-विभाग के नियमों को ध्यान में रखकर यदि सब देश और सब जातियाँ काम करें तो बेहद लाभ हो । इस दशा में हर देश वही चीज़ पैदा

करेगा जिसे पैदा करने की वह सबसे अधिक योग्यता रखता होगा। इस तरह धीरे धीरे वह उस चीज़ के पैदा करने में पूर्णता को पहुँच जायगा। फिर उसकी बराबरी कोई और देश न कर सकेगा। श्रम-विभाग के सिद्धान्तों के अनुसार यदि सब तरह के काम—सब तरह के पेशे—सब लोग आपस में बाँट लें तो उनके काम की ख़ूबी का मुक़ाबला आसानी से हो सकेगा। अर्थात् यह मालूम हो जायगा कि कौन आदमी, या कौन जाति, या कौन समुदाय किस काम को कितनी योग्यता से कर सकता है। इससे प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो जायगी। लोग एक दूसरे से चढ़ा ऊपरी करने की कोशिश करने लगेंगे। इस चढ़ा ऊपरी की प्रेरणा से हर आदमी, हर समुदाय, हर पेशेवाला यही चाहेगा कि मेरा काम औरों से अच्छा हो। फल यह होगा कि हर एक पेशे की—हर एक काम की—जहाँ तक हो सकती है, तरक़्क़ी हो जायगी। इस देश में प्रायः हर जाति या हर समुदाय का पेशा बँटा हुआ है। यह बहुत अच्छी बात है।

श्रम-संयोग।

श्रम-विभाग से श्रम की उत्पादक शक्ति जितनी बढ़ जाती है उससे भी कहीं अधिक श्रम-संयोग से बढ़ती है। बहुत आदमियों के श्रम के मेल को नाम श्रम-संयोग है। अथवा यों कहिए कि मिल कर अनेक आदमियों के किये हुए श्रम, को श्रम-संयोग कहते हैं। इसे श्रम का एकीकरण भी कह सकते हैं। साखू के बहुत बड़े लट्ठे या बहुत वज़नी पत्थर के टुकड़े को एक जगह से दूसरी जगह उठा ले जाना एक आदमी का काम नहीं। पर यदि कई आदमी मिल जायँ तो उनके श्रम के संयोग से वह आसानी से उठ सकता है। श्रम-संयोग से बड़े बड़े काम थोड़े वक़्त में हो सकते हैं। इसीसे इस तरह का श्रम श्रम-विभाग से भी अधिक उत्पादक है। जो धोती हम पहने हैं वह श्रम-संयोग ही का फल है। एक आदमी के श्रम से वह नहीं तैयार हुई। खेत जोतनेवाले, बीज बोने वाले, सूत कातनेवाले, कपड़ा बुननेवाले कितने ही आदमियों ने श्रम किया है तब वह तैयार हुई है। अर्थात् वह हमें श्रम-संयोग की बदौलत मिली है।

श्रम-संयोग दो तरह का है । एक शुद्ध, दूसरा मिश्र । एकही समय में, एक ही जगह पर, जब बहुत आदमी मिल कर कोई काम करते हैं तब उसे शुद्ध श्रम-संयोग कहते हैं । उदाहरण के लिए-किसी वज़नी लोहे या लकड़ी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाना, या एक भारी पत्थर को किसी मकान की छत पर पहुँचाना । जब जुदा जुदा जगह और जुदा जुदा समय में बहुत आदमी एक दूसरे की मदद करके कोई काम करते हैं तब उस श्रम की गिनती मिश्र श्रम-संयोग में होती है । इसका उदाहरण धोती है । हर तरह के कपड़े, अनाज, काग़ज़, अँगरेज़ी कलम, आलपीन आदि इसी मिश्र श्रम-संयोग के उदाहरण हैं । मिश्र श्रम-संयोग और श्रम-विभाग को एकही न समझना चाहिए । दोनों में भेद है । पहला एकही पेशे या व्यवसाय के जुदा जुदा श्रमों के अलग अलग विभाग करता है । दूसरा, जुदा जुदा पेशे या व्यवसाय के श्रमों को एक करता है ।

कलों से श्रम की उत्पादकता-वृद्धि ।

श्रम-विभाग और श्रम-संयोग से जैसे श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है वैसेही कलों और औज़ारों की मदद से भी बढ़ जाती है । यह एक ऐसी बात है जिसके विषय में अधिक कहने की ज़रूरत नहीं । क्योंकि ग़रीब से भी ग़रीब किसान का काम बिना हँसुवे, फावड़े और कुल्हाड़ी आदि औज़ारों के नहीं चल सकता । कलों से कितना जल्द और कितना अच्छा काम होता है, कपड़ा सीने की कल इस बात का एक सीधा सादा प्रत्यक्ष उदाहरण है । यदि रेल का इंजन न बनता तो लाखों मन माल एक जगह से दूसरी जगह इतने थोड़े समय और इतने थोड़े ख़र्च से कभी न पहुँच सकता । जितने बड़े बड़े पुतलीघर और कारख़ाने हैं प्रायः सबमें कलों से ही काम लिया जाता है । हाथ से काम करनेवाले आदमी इन कारख़ानों की बराबरी नहीं कर सकते । इससे श्रम की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाती है; माल बहुत तैयार होता है; और लागत कम लगने से चीजें बहुत सस्ती बिकती हैं । कलों के प्रयोग से ऐसे ऐसे काम होते हैं जो आदमी से होही नहीं सकते । कुछ लोगों की समझ है कि कलों के प्रचार से मेहनत मज़दूरी

करके पेट पालने वालों का रोज़गार बहुत मारा जाता है। पर सम्पत्तिशास्त्र के आचार्य्यों का मत है कि जो लोग ऐसा कहते हैं वे भूलते हैं। कलों के प्रचार से पहले कुछ दिन तक श्रमजीवियों को थोड़ी तकलीफ़ ज़रूर होती है, पर थोड़ेही समय बाद वे कोई और व्यवसाय करने लगते हैं। इससे उनकी तकलीफ़ जाती रहती है। यदि ऐसा न होता तो रेलवे और ट्रामवे से जिन लाखों इक्के और गाड़ीवालों का रोज़गार मारा गया वे भूखों मर गये होते।

चौथा परिच्छेद ।

व्यय ।

सम्पत्ति की उत्पत्ति से व्यय, अर्थात् ख़र्च, का गहरा सम्बन्ध है। इससे उसका भी विचार थोड़े में कर देना बहुत ज़रूरी है। इस विचार के लिए यही स्थल अच्छा है। क्योंकि, जैसे श्रम के दो भेद हैं—एक उत्पादक, दूसरा अनुत्पादक—वैसेही ख़र्च के भी दो भेद हैं। ख़र्च कम होने से सम्पत्ति बढ़ती है और अधिक होने से घटती है। और, सम्पत्ति घटती तभी है जब ख़र्च बहुत पड़ता है या व्यर्थ जाता है। जिस ख़र्च का बदला नहीं मिलता वह व्यर्थ नहीं तो क्या है?

उत्पादक श्रम और उत्पादक व्यय का जोड़ है। इसी तरह अनुत्पादक श्रम और अनुत्पादक व्यय का भी जोड़ है। अतएव जिन्होंने उत्पादक और अनुत्पादक श्रम का तारतम्य अच्छी तरह समझ लिया होगा उन्हें उत्पादक और अनुत्पादक व्यय का तारतम्य समझने में कुछ भी कठिनता न होगी। साधारण नियम यह है कि जिनका श्रम उत्पादक होता है उनका व्यय भी उत्पादक होता है। विपरीत इसके जिनका श्रम अनुत्पादक होता है उनका व्यय भी अनुत्पादक होता है।

उत्पादक श्रम करते समय श्रमजीवियों को अपने खाने, पीने, पहनने और रहने आदि के लिए जो व्यय करना पड़ता है उसी की गिनती उत्पादक व्यय में है। यदि कोई मज़दूर, कोई श्रमजीवी, कोई आदमी उत्पादक श्रम के दिनों में इत्र लगाने या मोगरे के हार गले में डालने लगे, या ज़री

की टोपी पहनने लगे, तो इन चीज़ों में जो ख़र्च पड़ेगा वह उत्पादक न समझा जायगा । क्योंकि इनके बिना भी वह उत्पादक श्रम कर सकता है । पर खाना खाये, या साधारण कपड़े पहने, या सर्दी गर्मी आदि से बचने और आराम से रहने के लिए कोई मकान किराये पर लिये, बिना वह काम नहीं कर सकता । अतएव इनके लिए जो ख़र्च वह करेगा वही उत्पादक समझा जायगा । इससे यह सिद्धान्त निकला कि ऐश वा आराम की चीज़ों के लिए जो ख़र्च किया जाता है वह अनुत्पादक है । जो लोग इस तरह की चीज़ों में सम्पत्ति नाश करते हैं वे देश के दुश्मन हैं । उनके ख़र्च का बदला नहीं मिलता । वह व्यर्थ है । भारतवर्ष आजकल कङ्गाल हो रहा है । इस दशा में भारतवासियों का फ़र्ज़ है कि ऐश व इशरत के सामान लेकर अमीरी ठाट से रहने की लत छोड़ दें ।

किसी किसी का यह ख़याल है कि विलास द्रव्यों—ऐश व इशरत की चीज़ों—में सम्पत्ति ख़र्च करने से हानि नहीं । वे कहते हैं कि इन चीज़ों को ख़रीदना मानों इनके बनाने या बेचनेवालों को उत्साहित करना है; अर्थात् जो लोग ऐसी चीज़ों का व्यवसाय करते हैं उनके व्यवसाय को तरक़्क़ी देना और उस व्यवसाय में लगे हुए मज़दूरों और कारीगरों का पेट पालना है । यह बड़ी भारी भूल है । कल्पना कीजिए कि कोई लोहार चाक़ू बनाने का काम करता है । एक दिन उसने चार चाक़ू बनाकर बेचे । उनकी क़ीमत उसे एक रुपया मिली । अब यदि इस रुपये का वह अनाज मोल ले तो उससे अपना पेट भरके वह और चाक़ू बना सकता है और उनको बेंच कर अपना रोज़गार जारी रख सकता है । पर यदि इसी एक रुपये का वह इत्र ले, या जर्मनी का एक लैम्प ख़रीदे, तो वह खायगा क्या ? और बिना खाये काम कैसे करेगा ? आप कहेंगे कि यदि वह १२ आने का अनाज ले और सिर्फ़ ४ आने का इत्र, तो उसका काम भी जारी रहे और इत्र लगाने का शौक़ भी पूरा होजाय । पर आपने क्या इस बात का भी विचार किया है कि इस लोहार के घर में आदमी कितने हैं ? यदि बीस आदमी हैं तो बारह आने के अनाज में कैसे पूरा पड़ेगा ? और यदि पूरा भी पड़ जाय तो आपने कैसे जाना कि उसे कपड़ा-लत्ता, नमक, मिर्च, मसाला और कुछ दरकार

नहीं । यदि यह लोहार अमीर भी हो तो भी उसे ऐसी चीज़ों में अनुत्पादक ख़र्च करना मुनासिब नहीं । क्योंकि जो पूँजी उसके पास बच रहेगी उससे वह और कोई उपयोगी काम कर सकता है और देश की सम्पत्ति बढ़ाने में सहायक हो सकता है ।

इससे सिद्ध है कि जो लोग अनुत्पादक व्यय करते हैं उनसे देश को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता । वे देश के हितचिन्तक नहीं, पक्के दुश्मन हैं । क्योंकि अनुत्पादक व्यय करके वे देश की सम्पत्ति का नाश करते हैं । देश के शुभचिन्तक और सच्चे सहायक वही हैं जो मितव्ययी हैं; जो उत्पादक व्यय करके देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं ।

इस विषय का सम्बन्ध पूँजी से अधिक है । इससे अब इसे यहीं छोड़ अगले परिच्छेद में पूँजी का विचार करेंगे ।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

पूँजी ।

सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए जिन तीन चीज़ों की ज़रूरत होती है उनमें से ज़मीन और मेहनत का बयान हो चुका । पूँजी का बाक़ी है । इसलिए इस परिच्छेद में उसका विचार किया जाता है ।

मनुष्य की आदिम अवस्था में पूँजी की उतनी ज़रूरत नहीं होती । मछली मार कर, या पेड़ों के फल फूल तोड़कर, असभ्य आदमी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । परन्तु मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है । धीरे धीरे वह जीवन-निर्वाह के साधनों में उन्नति कर लेता है । फल यह होता है कि मछली मारने के लिए जाल, हिरन का शिकार करने के लिए तीर-कमान ज़मीन से कन्द आदि खोदने के लिए कुदाली इत्यादि चीज़ें बन जाती हैं । ये चीज़ें बहुत दिन तक काम देती हैं । इनकी मदद से वह खाने पीने की नई नई चीज़ें रोज़ प्राप्त करता है । अतएव जाल, तीर-कमान और कुदाली आदि चीज़ें उसकी पूँजी हो जाती हैं, क्योंकि पूँजी वह चीज़ है जिसकी मदद से नई नई सम्पत्ति पैदा होती जाय । फल-फूल, मछली, कन्द आदि

की गिनती सम्पत्ति में है । क्योंकि यदि ये चीज़ें पास पड़ोस की बस्तियों में लाई जायँ तो उनका विनिमय हो सकता है । उनके बदले और चीज़ें मिल सकती हैं ।

यह जङ्गली आदमियों की पूँजी का उदाहरण हुआ । सभ्य आदमियों की पूँजी और तरह की होती है । पर अभिप्राय दोनों का एक ही है, लक्षण दोनों का एकसा है । अच्छा, एक किसान को लीजिए । कल्पना कीजिए कि उसके पास पांच बीघे ज़मीन है । उसमें बीज बोने से लेकर अनाज पैदा होने तक जो कुछ खर्च हुआ उसे देकर उसके पास ५० मन अनाज बच रहा । इस ५० मन अनाज में से अपनी ख़ूराक, मज़दूरों की मज़दूरी, हल बैल आदि का खर्च चला कर उसने अगले साल नया अनाज पैदा किया । अतएव यही ५० मन अनाज उसकी पूँजी हुई । क्योंकि इसी की बदौलत उसने अनाज के रूप में नई सम्पत्ति पैदा की । अब यदि यह ५० मन अनाज वह किसी महाजन से लेकर अपने काम में लाता तो भी उसका नाम पूँजी ही होता । क्योंकि महाजन ने भी तो इस अनाज को अपने ख़र्च से बचाकर रक्खा होगा । इससे सिद्ध हुआ कि भविष्य में नई सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए, पहले उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का जो हिस्सा बचाकर अलग रख दिया जाता है उसी का नाम पूँजी है ।

खेत में बीज बोने के दिन से लेकर उसमें उत्पन्न हुआ अनाज घर लाने तक बहुत दिन लगते हैं । तब तक किसान को खाने पीने को चाहिए; मज़दूरी चाहिए; हल, बैल, चरसे आदि चाहिए; पहनने को कपड़े, रहने को घर, तथा औज़ार आदि भी चाहिए । इन सब का संग्रह पहले ही से करना होता है । इनमें अन्न, वस्त्र, बैल-बधिया, हल-फाल, घर-द्वार सब कुछ आगया । अतएव इन सबकी गिनती पूँजी में है, सिर्फ़ अनाज ही की नहीं ।

आप कहेंगे कि मज़दूरों को जो मज़दूरी दी जाती है वह रुपये पैसे के रूप में दी जाती है । इस लिए उसे भी पूँजी में गिन लीजिए । पर रुपया-पैसा सम्पत्ति नहीं । देहात में अब भी कहीं कहीं मज़दूरों को क्या, सभी श्रमजीवियों को, अनाज ही मज़दूरी में दिया जाता है । पर जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ भी तो मज़दूर रुपये पैसे के बदले बाज़ार में अनाज और वस्त्र

आदि ही लेते हैं। इससे रुपया पूँजी नहीं। जैसे रुपया-पैसा सम्पत्ति नहीं, वैसे ही पूँजी भी नहीं। वह तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, सम्पत्ति का चिह्न और उसके विनिमय का साधनमात्र है। सम्पत्ति के उत्पादन-कार्य्य में विनिमय के सुभीते ही के लिए रुपये पैसे की ज़रूरत होती है। सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले न उसे खा सकते हैं, न पी सकते हैं, न पहन सकते हैं। जब वह उत्पत्ति के किसी काम नहीं आता तब वह पूँजी कैसे हो सकता है? सम्पत्ति उत्पन्न करते समय उसके लिए मज़दूरी, यन्त्र, औज़ार, निगरानी, उत्पादकों के रहने की जगह तथा और आवश्यक चीज़ें पूँजी कहलाती हैं, रुपया-पैसा नहीं।

सारांश यह कि भावी सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए पहले प्राप्त हुई सम्पत्ति का जो भाग सञ्चित कर रक्खा जाता है वही पूँजी है। अथवा यों कहिए कि धन-विशेष के सञ्चय ही का नाम पूँजी है। हाँ, एक बात याद रखनी चाहिए। वह यह कि सब तरह की पूँजी धन या सम्पत्ति हो सकती है। पर सब तरह का धन या सम्पत्ति पूँजी नहीं हो सकती। जिस धन या सम्पत्ति से और धन या सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है सिर्फ़ वही पूँजी है।

सञ्चय की इच्छा।

पूँजी सञ्चय का फल है। पर सञ्चय की इच्छा मनुष्य के मन में उत्पन्न क्यों होती है? इसलिए, कि पास कुछ सञ्चय होने से आगे काम आता है, दुर्भिक्ष पड़ने, बीमार हो जाने, अथवा ऐसेही और किसी कारण से जब आदमी सम्पत्ति नहीं उत्पन्न कर सकता, और चाहिए उसे सम्पत्ति ज़रूर, तब ऐसे सञ्चय से वह अपने सांसारिक काम चलाता है। इसीसे उसे सञ्चय की इच्छा होती है। यह पहला कारण हुआ। दूसरा कारण व्यापार आदि में पूँजी लगाकर अधिक सम्पत्ति पैदा करने का ख़याल है। इसके यही दो कारण मुख्य हैं। समय और व्यवस्था के अनुसार हर देश में सञ्चय करने की इच्छा न्यूनाधिक होती है। इँगलेंड में दोनों कारणों से लोग सञ्चय की इच्छा करते हैं। पर इस देश में सिर्फ़ पहला ही कारण प्रबल और प्रधान

है । यहाँ लोग व्यापार करना अच्छी तरह नहीं जानते । अतएव व्यापार में पूँजी लगाकर उसे बढ़ाने की विशेष इच्छा से वे सञ्चय नहीं करते । सञ्चित सम्पत्ति आगे काम आवेगी, इसी कारण से वे बहुधा सञ्चय करते हैं । इससे इस देश की बड़ी हानि होती है । पूँजी की वृद्धि नहीं होती । अतएव देश में दरिद्रता का अखण्ड राज्य है ।

सञ्चय की इच्छा का प्रबल और निर्बल होना मनुष्य के स्वभाव पर भी बहुत कुछ अवलम्बित है । जो लोग असभ्य और अल्पज्ञ हैं वे बहुत कम सञ्चय की इच्छा करते हैं; क्योंकि भावी सुख-दुःख का उन्हें ज्ञान ही नहीं होता; उनमें इतनी समझ ही नहीं कि आगे की बातों को वे सोच सकें । सभ्य और सज्ञान देश में भी यदि अराजकता है, यदि जान माल का डर है, तो सञ्चय करने की इच्छा नहीं होती; क्योंकि सम्पत्ति के लुट जाने का हमेशा दग़दग़ा रहता है । इससे आदमी सञ्चय करने की इच्छा स्वभाव ही से नहीं रखते । इस देश में बहुत दिनों से अमन चैन है; लूटपाट का बिलकुल डर नहीं । अतएव हम लोगों को चाहिए कि व्यापार-व्यवसाय में भी पूँजी लगा कर उसकी वृद्धि की इच्छा से सञ्चय की आदत डालें ।

जिस देश के आदमी कम्पनी खड़ी करना और मिल कर उद्यम-धन्धा करना जानते हैं उस देशवालों की सञ्चयेच्छा अधिक प्रबल होती है । योरप और अमेरिका में यह बात अधिक देखी जाती है । बड़े बड़े व्यवसाय एक आदमी नहीं कर सकता । लाखों करोड़ों की पूँजी एक आदमी नहीं जुटा सकता । इससे बहुत आदमी थोड़ी थोड़ी पूँजी लगाकर कम्पनी खड़ी करते हैं । इससे उनकी पूँजी बेकार नहीं पड़ी रहती । वह बढ़ती जाती है और श्रमजीवियों को लाभ पहुँचाकर देश को अधिकाधिक धनी बनाती है । जो देश व्यापार और अनेक प्रकार के उद्यम करना जानता है उसके निवासी स्वभाव ही से सञ्चय करना सीख जाते हैं । उन्हें यह बात अच्छी तरह मालूम रहती है कि सञ्चित पूँजी को उद्योग-धन्धे में लगाने से वह बढ़ती है । इससे वे दिलोजान से सञ्चय करते हैं ।

पूँजी ख़र्च करनेही से सम्पत्ति उत्पन्न होती है।

पूँजी सञ्चय का ही फल है। यदि सञ्चय न किया जाय तो पूँजी उत्पन्न ही न हो। परन्तु जैसा इस देश के नादान आदमी करते हैं, पूँजी को ज़मीन में गाड़ कर या सन्दूक़ में बन्द करके न रखना चाहिए। और न उसके अधिकांश को ज़ेवर के रूपही में बदल डालना चाहिए। ऐसा करने से पूँजी जितनी की उतनी ही रहती है; वह बढ़ती नहीं। बढ़ना तो दूर रहा ज़ेवर बनवाने से तो वह उलटा घट जाती है और उसका न बढ़ना मानों देश की पूँजी की वृद्धि का द्वार बन्द करना है। पूँजी सफल होने के लिए—उससे काम निकालने के लिए—उसे ख़र्च करना ही चाहिए। बिना उसका उपयोग किये उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता। सम्पत्ति की उत्पत्ति के जो कारण हैं, पूँजी भी उनमें से एक है। अब ख़याल करने की बात है कि जिस पूँजी से नई सम्पत्ति न उत्पन्न हुई वह सम्पत्ति की उत्पत्ति में सहायक क्यों कर मानी जा सकेगी? उसकी सहायता यही है कि श्रमजीवियों के वह काम आवे; उससे कलें और औज़ार ख़रीदे जायँ; कारख़ानों की इमारतें आदि बनें। यदि ये बातें न होंगी, यदि इनके लिए पूँजी ख़र्च न की जायगी, तो, उससे सम्पत्ति न उत्पन्न होगी। अतएव यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि पूँजी का ख़र्च होना ही चाहिए। पर याद रखिए, विलास-द्रव्यों के लिए नहीं। हिन्दुस्तान के निवासियों को पूँजी-विषयक यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए और अपना सञ्चित धन ज़मीन या सन्दूक़ के हवाले न कर देना चाहिए। और कुछ न हो सके तो किसी विश्वस-नीय बैंक या महाजन ही के यहाँ उसे लगा देना चाहिए; या गवर्नमेंट का काग़ज ही ख़रीद कर लेना चाहिए। उससे उन्हें फ़ी सदी तीन चार रुपये साल सूद तो मिल जायगा और पूँजी की पूँजी बनी रहेगी। इस तरह सूद के रुपये के रूप में कुछ तो नई सम्पत्ति पैदा होगी।

पूँजी के दो प्रकार—चल और अचल।

ख़र्च करने ही से पूँजी का अभीष्ट सिद्ध होता है। तभी उससे नई सम्पत्ति पैदा होती है। परन्तु ख़र्च एक तरह का नहीं होता। कोई चीज़

एकदम ख़र्च हो जाती है,—कोई धीरे धीरे ख़र्च होती है। ख़र्च के हिसाब से पूँजी दो प्रकार की होती है। एक वह जो एकदम ख़र्च हो जाती है—अर्थात् एकही दफ़े ख़र्च होने से जिसका बदला मिल जाता है। दूसरी वह जो धीरे धीरे ख़र्च हुआ करती है। उदाहरण के लिए भट्टी में जलने का कोयला। जो लोहार फाल, कुल्हाड़ी आदि बनाता है उसके लिए कोयला पूँजी है। वह एकही दफ़े जल कर ख़ाक हो जाता है। दुबारा काम का नहीं रहता। इससे कोयले की तरह एकही दफ़े के उपयोग से नष्ट हो जानेवाली पूँजी का नाम है चल, अस्थिर, अस्थायी या भ्राम्यमान। इस तरह की पूँजी धनोत्पादन के लिए सिर्फ़ एक दफ़े काम आती है। अथवा यों कहिए कि वह सिर्फ़ एकही दफ़े उपयोग की जा सकती है। कारख़ानों में ईंधन और मज़दूरी के लिए जो पूँजी ख़र्च होती है वह सब चल पूँजी है।

जो पूँजी बहुत दिन तक काम देती है–जो एकही दफ़े के उपयोग से ख़र्च नहीं हो जाती–उसे अचल, स्थिर या स्थायी पूँजी कहते हैं। जिस निहाई पर लोहार रोज़ काम करता है वह उसकी स्थायी पूँजी है। क्योंकि एकही दफ़े के उपयोग से वह नष्ट नहीं होती, बरसों काम देती है। रेल की गाड़ियां, यंजिन, स्टेशन, कारख़ानों की कलें और इमारतें—ये सब स्थायी पूँजी के उदाहरण हैं।

चल पूँजी का बदला एकदम मिल जाता है ; अचल का एकदम नहीं मिलता। जब तक अचल पूँजी काम में आती रहेगी तब तक धीरे धीरे बदला देती ही जायगी। जो बीज खेत में बोया जाता है वह चल पूँजी है। फ़सल कटतेही उसका बदला किसान को एकदम मिल जाता है। पर उसका हल और उसके बैल आदि स्थायी पूँजी हैं। उनका बरसों उपयोग होता है। अतएव एकदम उनका बदला नहीं मिलता। जब तक खेत में हल चलता है और जब तक बैल हल में जोते जाते हैं तब तक पैदावार में उनके बदले का अंश बराबर मिलता जाता है। इससे स्पष्ट है कि चल पूँजी का बदला एक ही दफ़े में मिल जाता है, अचल पूँजी का बहुत दफ़े में।

चल पूँजी के विषय में एक बात और जानने लायक़ है। वह यह है कि ऐसी पूँजी का उतना बदला ज़रूर मिलना चाहिए जितना कि उसका मोल

है। अर्थात् ख़र्च की गई चल पूँजी की जितनी क़ीमत थी उसके बदले में उत्पन्न हुए पदार्थ की क़ीमत भी कम से कम उतनी होनी चाहिए। यदि उतनी न होगी तो कोई इस तरह की चल पूँजी लगावेगा क्यों? जो किसान बीज और मज़दूरी में पाँच मन ग़ल्ला ख़र्च करेगा उसे कम से कम इतना ग़ल्ला खेत काटने पर ज़रूर मिलना चाहिए। क्योंकि यदि घर की लगाई हुई पूँजी भी न वसूल होगी तो वह किसानी करेहीगा क्यों? पर अचल पूँजी की यह बात नहीं है। उसकी मदद से जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है उसकी क़ीमत एकही दफ़े में अचल पूँजी का सारा बदला नहीं देती। और, न देनाही चाहिए। क्योंकि ऐसी पूँजी एकही दफ़े में तो ख़र्च होती नहीं। एक दफ़े दो रुपये का हल लेलेने से कई बरस के लिए छुट्टी हो जाती है। उसका धीरे धीरे उपयोग होता है। हर साल थोड़ा थोड़ा ख़र्च होता है। अतएव जब तक वह काम देगा, क्रम क्रम से उसकी क़ीमत वसूल होती रहेगी। चल और अचल पूँजी से सम्बन्ध रखनेवाली ये सब बातें ध्यान में रखने लायक़ हैं।

चल और अचल पूँजी से होनेवाले हानि-लाभ।

मज़दूरों को जो मज़दूरी दी जाती है वह चल पूँजी सेही दी जाती है। देश में चल पूँजी जितनीही अधिक होगी मज़दूरों को मज़दूरी भी उतनीही अधिक मिलेगी। और जितनीही वह कम हो जायगी उतनीही कम मज़दूरी मिलेगी। चल पूँजी की यदि अचल पूँजी बन जाय, तो भी वही बात होगी—तो भी मज़दूरों को मज़दूरी कम मिलने लगेगी। कल्पना कीजिए कि कोई व्यवसायी तेल का रोज़गार करता है। उसने एक कारख़ाना खोल रक्खा है जिसमें सरसों, अलसी, और अंडी आदि से तेल निकाला जाता है। उस काम के लिए उसे जितने मज़दूर रखने पड़ते हैं उनको उसे साल में तीन हज़ार रुपये मज़दूरी देनी पड़ती है। अब यदि व्यवसायी उसी काम के लिए जिसे इतने मज़दूर करते हैं, एक हज़ार रुपये का एक यंत्र मँगाले, तो इतने रुपये उसकी चल पूँजी से ज़रूरही कम हो जायँगे। अतएव उनसे मज़दूरों को हाथ धोना पड़ेगा। मज़दूरों का काम जब पेंच से होने लगेगा

पूँजी के किसी और ही अंश की पूर्त्ति उसने की । वह सब तो कारख़ाने के मालिक की पूँजी से हो चुका । आपने रुपया देकर सिर्फ़ कपड़े का बदला कर लिया । और कुछ नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो पूँजी माल तैयार करने में ख़र्च होती है उसी से मज़दूरों का पेट पालता है और उसी की वृद्धि से उनको अधिक काम और अधिक मज़दूरी मिलती है । जो धन—जो रुपया—माल ख़रीदने में ख़र्च होता है उससे ये काम नहीं होते । वह पूँजी ही नहीं । क्योंकि उत्पादन में उससे सहायता ही नहीं मिलती ।

कल्पना कीजिए कि आप साल में सौ रुपये का "काशी सिल्क" लेते हैं । जुलाहों को यह बात मालूम है । वे आपके लिए इतने का "सिल्क" तैयार रखते हैं । परन्तु जब तक कपड़ा तैयार नहीं होता तब तक तो आप रुपये देते नहीं । तब तक तो रुपये आपकी सन्दूक़ में बन्द रहते हैं । जुलाहे अपनी पूँजी ख़र्च करके कपड़ा बनाते हैं और जो लोग कपड़ा बनाने में उनकी मदद करते हैं उनको मज़दूरी भी वे अपनी पूँजी से देते हैं । आप तो कपड़ा तैयार होने पर लेते हैं न ? अतएव न आपके पैसे (पूँजी नहीं) से कपड़ा ही बनता है और न आपके पैसे से मज़दूरों ही को कुछ मिलता है । इससे यह सिद्धान्त निकला कि माल के खप से मज़दूरों की रोज़ी नहीं चलती । पूँजी के ख़र्च होने से चलती है । यदि किसी माल का खप न होगा तो उसमें लगी हुई पूँजी निकाल ली जायगी और ऐसे माल की तैयारी में ख़र्च की जायगी जिसका खप होगा । जो कारख़ाना न चलेगा मज़दूर उसे छोड़कर किसी चलते कारख़ाने में काम करने लगेंगे ।

एक और उदाहरण लीजिए । कल्पना कीजिए कि बनारस का एक नव-जवान क़ुतुब-फ़रोश २०० रुपये की पूँजी से किताबें बेचने का रोज़गार करता है । कुछ दिनों में उसे शौक़ीनी सूझी । वह उस पूँजी से हर साल २५ रुपये निकाल कर इत्र मोल लेने लगा । तीन चार वर्ष में उसकी पूँजी आधी ही रह गई । तब उसे होश हुआ और इत्र लेना उसने बन्द कर दिया । इस शौक़ीनी से क़ुतुब-फ़रोश ही का नुक़सान हुआ । इत्र लेना बन्द करने से इत्र वाले का कुछ नुक़सान न होगा और न इत्र बनाने के काम में लगे हुए

मज़दूरों के पोषण ही में कुछ कमी होगी। क्योंकि कुतुब-फ़रोश के २५ रुपये साल मिलने के पहले ही इत्र वाले का इत्र तैयार होता था और मज़दूरों को मज़दूरी मिल जाती थी। इत्र बनाने में जो पूँजी लगती थी वह कुतुब-फ़रोश की न थी, इत्र वाले ही की थी। अतएव कुतुब-फ़रोश के २५ रुपये की गिनती पूँजी में नहीं हो सकती। अब यदि कुतुब-फ़रोश ही की तरह और लोग भी इत्र लेना बन्द करदें तो क्या होगा ? इत्र वाला अपनी पूँजी इत्र से निकाल लेगा और किसी दूसरे व्यवसाय में लगा देगा। जैसे जैसे उनकी बिक्री कम होती जायगी तैसेही तैसे वह इत्र का व्यवसाय कम करता जायगा, मज़दूर भी उसे छोड़ते जायँगे और जो काम नये जारी होंगे उन्हें करके अपना पोषण करेंगे। सारांश यह कि न इत्र वाले ही का कोई विशेष नुक़सान होगा, न मज़दूरों ही का। कभी कभी कोई रोज़गार एकदम गिर जाने, और उसके कर्ता में दूसरा रोज़गार करने की अक़्ल न होने, से उसे हानि हो सकती है। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम होते हैं। ऐसी बातों की गिनती अपवाद में है, साधारण नियमों में नहीं। उन्हें मुस्तसना समझना चाहिए।

इससे एक और सिद्धान्त निकलता है। वह यह है कि ऐशो इशरत की चीज़ों, अर्थात् विलास-द्रव्यों, में सम्पत्ति ख़र्च करने से मज़दूरों का पोषण नहीं होता। प्रायः सारे विलास-द्रव्य ऐसे हैं जिनका लेना अनुत्पादक व्यय करना है। इत्र, फुलेल, और गोटा, पट्टा, ज़री आदि ऐसी चीज़ें हैं जिनके व्यवहार से अधिक सम्पत्ति नहीं उत्पन्न होती। ऐसी चीज़ें लेने से मज़दूरों का पोषण होना तो दूर रहा, उन्हें उलटी हानि पहुँचती है। क्योंकि इन चीज़ों के उत्पादन और व्यवहार से देश की सम्पत्ति का नाश होता है। और सम्पत्ति का नाश होना मानों पूँजी का नाश होना है। मज़दूरों का पोषण पूँजी से ही होता है। जब वही न रहेगी तब मज़दूरों का पोषण क्या होगा ख़ाक ! विलास-द्रव्य ख़रीदने से ख़रीदने वाले की हविस पूरी हो जाती है—उसे क्षणिक सुख मिल जाता है। बस, और कुछ नहीं होता। ऐसे क्षणिक सुख के लिए देश की सम्पत्ति का नाश करना समझदार आदमी का काम नह ।

पूँजी की अर्थोत्पादक शक्ति ।

पूँजी इसी लिए लगाई जाती है जिसमें अर्थ की उत्पत्ति हो—जिसमें सम्पत्ति पैदा हो। पर सम्पति हमेशा एक सी नहीं पैदा होती। कभी कम पैदा होती है कभी अधिक। यदि बुद्धिमानी से उसका उपयोग किया जाय तो अधिक सम्पत्ति पैदा होती है, अन्यथा कम। बलुई ज़मीन में चाहे कोई जितनी खाद डाले और चाहे जितना पानी दे, गेहूँ की पैदावार कभी अच्छी न होगी। अर्थात् जो पूँजी लगाई जायगी उसका अच्छा बदला न मिलेगा। वही पूँजी यदि उर्वरा ज़मीन में लगाई जाय तो उसकी उत्पादक शक्ति ज़रूर बढ़ जायगी। अतएव समझ बूझ कर काम करने से—बुद्धिमानी से पूँजी को उपयोग में लाने से—उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है। जितनी ही अधिक बुद्धिमानी से काम लिया जायगा उतनी ही अधिक उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ेगी। व्यापार और खेती आदि में जो पूँजी लगाई जाती है बुद्धिमानी, तजरिबे और दूरन्देशी से उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है।

श्रम और पूँजी का अखण्ड संयोग है। सुदृढ़, सदाचारशील, निपुण और विश्वासपात्र मज़दूरों से जैसे श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है वैसे ही पूँजी की भी बढ़ जाती है। शिक्षित मज़दूरों का आचरण औरों से प्रायः हमेशाही अच्छा होता है। अतएव शिक्षा का प्रचार पूँजी की उत्पादक शक्ति बढ़ाने का एक बहुत बड़ा कारण है।

विद्या और विज्ञान की वृद्धि के साथ साथ नये नये यंत्र बनते चले जाते हैं। उनके उपयोग से, श्रम की उत्पादकता की तरह, पूँजी की भी उत्पादकता बढ़ती है। कलों की बराबरी हाथ नहीं कर सकते। जिस देश में कलों का अधिक प्रचार है उस देश की पूँजी की उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाती है। योरप और अमेरिका में जितनी पूँजी है उतनी और किसी देश में नहीं। कारण यह है कि वहाँ यंत्रों ही की सहायता से सब बड़े बड़े काम होते हैं।

मालिक चाहते हैं कि मज़दूरों से काम तो बहुत लें, पर मज़दूरी कम दें। मज़दूर चाहते हैं कि काम कम करें, पर मज़दूरी अधिक मिले। इस तरह मालिक और मज़दूरों में हमेशा हितविरोध रहता है। जितने हड़ताल होते

हैं सब प्रायः इसी हितविरोध के फल हैं। इस तरह के हड़ताल पहले पश्चिमी देशों ही में होते थे। पर अब यहाँ भी होने लगे हैं। यह विषय महत्त्व का है। इससे इसका विचार अलग एक परिच्छेद में करने का इरादा है। वह इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध में लिखा जायगा। मालिक और मज़दूरों में हित-विरोध होने के कारण पूँजी की अर्थोत्पादक शक्ति बढ़ने नहीं पाती। इस दोष को दूर करने के लिए किसी किसी कारख़ाने या उद्योग-धन्धे के मालिक मज़दूरों को भी अपने व्यवसाय में शरीक करलेते हैं। या, नहीं तो, जो मुनाफ़ा उन्हें होता है उसका कुछ अंश मज़दूरों को भी बाँट देते हैं। इससे बड़ा लाभ होता है। काम करनेवाले मज़दूर, कारीगर, या और मुलाज़िम मालिक के काम को अपना समझने लगते हैं और जी लगा कर काम करते हैं। इससे पूँजी की अर्थोत्पादक शक्ति बढ़ जाती है।

थोड़ी पूँजी से बड़े बड़े व्यापार और व्यवसाय नहीं हो सकते। यदि बहुत से आदमी मिल कर एक कम्पनी खड़ी करें, और सब आदमी थोड़ी थोड़ी पूँजी लगा कर एक बड़ी रक़म इकट्ठा करें, तो बहुत बड़े बड़े व्यापार और व्यवसाय हो सकें और पूँजी की अर्थोत्पादक शक्ति बहुत बढ़ जाय। उन्नत देशों में सब बड़े बड़े काम इसी तरह होते हैं। हिन्दुस्तान में जो रेलें चलती हैं उनमें से कुछ को छोड़ कर बाक़ी सब इसी तरह कम्पनियाँ खड़ी करके चलाई गई हैं। इस विषय का विचार आगे एक परिच्छेद में अलग किया जायगा। इससे यहाँ पर अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं।

तीसरा भाग।

सम्पत्ति की वृद्धि।

पहला परिच्छेद।

प्रारम्भिक बातें।

पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए०, ने, अपने एक अप्रकाशित लेख में, इस विषय का बहुत अच्छा विवेचन किया है। अतएव, इस भाग में, हम अधिकतर उन्हीं की विचारमालिका को कृतज्ञताप्रदर्शनपूर्वक अपने शब्दों में प्रकट करते हैं।

ज़मीन, मेहनत और पूँजी की मदद से सम्पत्ति पैदा होती है। इस बात का विचार इसके पहले भाग में हो चुका। साथ ही इस बात का भी विचार हो चुका कि ज़मीन, मेहनत और पूँजी की उत्पादक शक्ति किस तरह बढ़ाई जा सकती है। अब हमें इस बात के विचार की ज़रूरत है कि यदि ज़मीन, मेहनत और पूँजी की उत्पादक शक्ति चरम सीमा को पहुँच जाय—इतनी हो जाय कि उससे अधिक और न हो सके— तो, इस दशा में भी, सम्पत्ति की वृद्धि हो सकेगी या नहीं? और यदि हो सकेगी तो किस तरह?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति अथवा परमेश्वर ने संसार में मनुष्य के फ़ायदे के लिए सम्पत्ति का अपरिमित समूह इकट्ठा कर रक्खा है। उसने संसार-रूपी भाण्डार में इतनी सम्पत्ति भर रक्खी है जिसका कहीं ठौर ठिकाना नहीं। उसे पाने के लिए सिर्फ़ बुद्धि दरकार है—सिर्फ़ ज्ञान दरकार है। परमेश्वर ज्ञानमय है। ज्ञान ही से मनुष्य उसका थोड़ा बहुत भेद जान सकता है। अतएव उसकी रक्खी हुई चीज़ ढूँढ़ निकालने के लिए भी ज्ञान ही एक मात्र साधन है। जिसमें जितना ही अधिक ज्ञान होगा वह उतना ही

अधिक ईश्वर की सञ्चित सम्पत्ति पाने में कामयाब होगा। सम्पत्ति-प्राप्ति के साधनों की सीमा अन्त तक भले ही पहुँच जाय, यदि आदमी में यथेष्ट बुद्धि है—यदि उसमें यथेष्ट सज्ञानता है—तो वह उससे भी अधिक सम्पत्ति ज़रूर प्राप्त कर सकेगा।

सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधन ज़मीन, मेहनत और पूँजी हैं। इन साधनों की उत्पादक शक्ति की सीमा है। जहाँ तक उस सीमा का उल्लंघन नहीं हुआ तहाँ तक तो उनकी सहायता से अधिक सम्पत्ति ज़रूरही उत्पन्न होती है। पर उस हद तक पहुँच जाने पर सम्पत्ति की वृद्धि रुक जाती है। और सम्पत्ति की वृद्धि का रुक जाना आदमी के लिए अच्छा नहीं। आबादी बढ़ रही है, सभ्यता फैल रही है, शिक्षा की उन्नति हो रही है, दिनों दिन व्यावहारिक चीज़ों की माँग अधिकाधिक हो रही है। इस दशा में सम्पत्ति की वृद्धि रुक जाने से काम नहीं चल सकता। इससे बुद्धिमान् आदमी उसे बढ़ाने की फिर भी फ़िक्र करते हैं। सम्पत्ति की उत्पत्ति के जो तीन साधन हैं उन्हीं की उन्नति से यह बात हो सकती है। सम्पत्ति उत्पन्न करने का पहला साधन ज़मीन है। कल्पना कीजिए कि आपके पास दस बीघे ज़मीन है। उससे जितनी अधिक सम्पत्ति उत्पन्न हो सकती है आप उत्पन्न करते हैं। और अधिक उत्पन्न करने की उसमें शक्ति नहीं। पर चाहिए आपको अधिक। क्योंकि जीवन-सम्बन्धी ज़रूरतों के बढ़ जाने से बिना अधिक सम्पत्ति के आपका काम नहीं चल सकता। इस कठिनता को दूर करने का एकमात्र यही उपाय है कि दस बीघे की जगह आप बारह या पन्द्रह बीघे में खेती करें। अर्थात् ज़मीन का रक़बा बढ़ा दें। जितनी ज़मीन आप जोतते हैं उससे अधिक जोतें। ऐसा करने से ज़रूर ही आपकी आमदनी बढ़ जायगी।

सम्पत्ति उत्पन्न करने का दूसरा साधन मेहनत है। १० बीघे ज़मीन जोतने बोने में आप जितने मज़दूर लगाते हैं उनकी यथेष्ट उन्नति हो चुकी है। वे ख़ूब विश्वासपात्र हैं, मेहनती भी हैं, मिताचारी भी हैं, शिक्षित भी हैं। अतएव जितनी मेहनत वे करते हैं उससे अधिक उनसे होना सम्भव नहीं। तब आपको क्या करना चाहिए? आप मज़दूरों की संख्या बढ़ा

दीजिए । जैसे आपने दस बीघे ज़मीन को बढ़ा कर १२ या १५ बीघे कर दिया है, वैसे ही मज़दूर भी बढ़ा दीजिए । ऐसा करने से ज़रूर ही मेहनत अधिक होगी । और मेहनत अधिक होने से सम्पत्ति भी ज़रूर ही अधिक उत्पन्न होगी ।

पूँजी का भी यही हाल है । उसे भी ज़मीन और मेहनत की वृद्धि के परिमाण में बढ़ाइए । क्योंकि बिना पूँजी के काम नहीं चल सकता । और जब आपने सम्पत्ति के उत्पादक दो साधनों को बढ़ाया है तब तीसरे को भी बढ़ाना पड़ेगा । अन्यथा आपका अभीष्ट सिद्ध न होगा । यह अकेले आपकी पूँजी की बात हुई । देश की पूँजी का भी यही हाल है । जब किसी देश की सब पूँजी अत्यन्त लाभदायक कामों में लग चुकी है; उससे जितने मज़दूरों का पोषण होना चाहिए हो रहा है; उसमें जितनी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति है उतनी अच्छी तरह हो रही है; तब अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने का एकमात्र यही उपाय है कि उस पूँजी की वृद्धि की जाय ।

मतलब यह कि जब अर्थोत्पत्ति के साधनों की उत्पादक शक्ति अपनी हद तक पहुँच जाती है, तब, यदि अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करना हो तो, उन साधनों ही की वृद्धि करना चाहिए । यह सम्पत्तिशास्त्र का एक व्यापक सिद्धान्त है ।

दूसरा परिच्छेद ।

ज़मीन की वृद्धि ।

हर देश में थोड़ी बहुत ज़मीन ज़रूर ही परती पड़ी रहती है । उसमें खेती नहीं होती । अतएव जब खेती की सारी ज़मीन अपनी हद तक उत्पादक हो जाती है—उससे और अधिक नहीं हो सकती—तब सम्पत्ति बढ़ाने के लिए यह परती ज़मीनही काम में लाई जाती है । परन्तु इसमें एक बात है । वह यह है कि सब ख़र्च दे लेकर जब तक कुछ बच रहने की आशा नहीं होती तब तक किसान उपाय भर परती ज़मीन नहीं जोतते ।

क्यों जोतें ? यदि उन्हें कुछ मिलेहीगा नहीं, तो व्यर्थ क्यों वे जाँ फ़िशानी करेंगे और क्यों जोतने बोने में रुपया लगावेंगे ? जहाँ आबादी कम है वहाँ अच्छी ज़मीन भी थोड़ी बहुत बे जुती पड़ी रह सकती है। परन्तु जहाँ यह बात नहीं है वहाँ ऐसी ज़मीन अकसर परती नहीं पड़ी रहती। यदि वहाँ कोई ऐसे कारण या साधन उपस्थित हो जाते हैं जिनकी सहायता से परती ज़मीन उत्पादक हो सकती है, तो उसमें खेती होने लगती है।

कुछ ज़मीन ऐसी होती है जिसमें किसी ख़ास क़िस्म ही की जिन्स पैदा होती है। यदि ऐसी जिन्स की खेती न होनेही के कारण ज़मीन पड़ी रह गई हो, और कुछ आदमी उस जिन्स की खेती करने पर कमर बांधें, तो वह पड़ी न रहे। मदरास में कुछ ज़मीन ऐसी है जिसमें क़हवा अच्छा होता है। आसाम में और देहरादून के आस पास चाय अच्छी होती है। इन चीज़ों की खेती से हज़ारों बीघे ज़मीन जोती बोई जाती है। और उससे लाखों रुपये की आमदनी होती है। यदि चाय और क़हवे की खेती न की जाती तो यही ज़मीन पड़ी रह जाती। अतएव यह सिद्ध हुआ कि खेती के सम्बन्ध में नये नये उपाय, नई नई तरकीबें, नई नई जिन्सों के पैदा होने की योग्यता मालूम हो जाने से परती ज़मीन काम में आ जाती है। अर्थात् खेती की ज़मीन का रक़बा बढ़ जाता है और सम्पत्ति बढ़ाने का कारण होता है।

आबादी बढ़ जाने से तो परती पड़ी हुई बुरी ज़मीन तक जोतने की ज़रूरत होती है—हाँ जुताई बुवाई और लगान आदि का ख़र्च किसी तरह निकल आना चाहिए। जब आदमियों की संख्या बढ़ जाती है तब व्यवहार की चीज़ों की माँग भी बढ़ जाती है। जिस कुटुम्ब में दस आदमी हैं उसमें यदि बारह या पन्द्रह हो जायँ तो अधिक अनाज ज़रूरही ख़र्च होगा; अधिक कपड़ा ज़रूरही दरकार होगा। इस दशा में भारत ऐसे कृषि-प्रधान देश को खेती की ज़मीन का रक़बा बढ़ाना ही पड़ेगा। यहाँ की आबादी बढ़ रही है, देश का अनाज विदेश जारहा है, खाने पीने की चीज़ें महँगी हो रही हैं। इसीसे परती ज़मीन को लोग जोतते चले जाते हैं। जहाँ इस साल बंजर है, अगले साल वहाँ बाजरा या मोथी का खेत खड़ा मिलता है।

परती ज़मीन न जोतने का कारण बहुधा यही होता है कि उसकी उपज से खेती का ख़र्च नहीं निकलता, और यदि निकलता भी है तो किसान को कुछ बचता नहीं। हां यदि परती ज़मीन की उपज कुछ महँगी बिके तो लाभ हो सकता है। स्वदेश में अधिक ख़र्च होने और विदेश से अधिक माँग आने के कारण उपज का भाव बहुधा चढ़ जाता है। जैसा कि इस समय इस देश में हो रहा है। इस तरह की महँगी अच्छी नहीं। उससे हानि है। और यह हानि ऐसी है कि एक को नहीं प्रायः सबको उठानी पड़ती है। क्योंकि अनाज सबको चाहिए। इस हानि से बचने का एक उपाय यह है कि देश की परती ज़मीन न जोत कर जितना अधिक ग़ल्ला दरकार हो उतना, यदि किफ़ायत हो सकती हो, और किसी देश या प्रान्त से मँगाया जाय। इँगलेंड को देखिए, उसकी आबादी बहुत बढ़ गई है। पर वहाँवाले परती ज़मीन जोत कर ख़ुद ही अधिक अनाज पैदा करने का यत्न नहीं करते, और यदि करें भी तो उनको विशेष लाभ न हो, क्योंकि वहाँ सबके लिए काफ़ी अनाज उत्पन्न करने भर को ज़मीन ही नहीं है। अतएव वे लोग अपने देश के अनाज की कमी को रूस, अमेरिका और हिन्दुस्तान से अनाज मँगा कर पूरा करते हैं।

जब किसी देश में अनाज की माँग अधिक होती है और दूसरे देशों से वह नहीं मँगाया जाता, अथवा मँगाने से पड़ता नहीं पड़ता, तब वह ज़रूर महँगा हो जाता है। इस दशा में अनाज के रूप में सम्पत्ति की वृद्धि के लिए परती ज़मीन—चाहे वह बहुत ही बुरी क्यों न हो—जोतना ही पड़ती है। ऐसा करने से बहुत मेहनत करनी पड़ती है और पूँजी भी अधिक लगानी पड़ती है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो, ज़मीन अच्छी न होने के कारण, बहुत ही कम पैदावार हो।

इस विवेचन से मालूम हुआ कि खेती की ज़मीन का रक़बा बढ़ाने से कब और किस तरह अधिक सम्पत्ति उत्पन्न हो सकती है। इससे ये सिद्धान्त निकले:—

(१) आबादी बढ़ने से अनाज का ख़र्च बढ़ जाता है।

(२) अनाज का ख़र्च बढ़ जाने से पड़ी हुई बुरी ज़मीन में भी खेती होने लगती है ।

(३) इस तरह की ज़मीन में खेती होने से अधिक मेहनत करने और अधिक पूँजी लगाने की ज़रूरत होती है ।

(४) फल यह होता है कि खेती की पैदावार महँगी हो जाती है ।

तीसरा परिच्छेद ।

मेहनत की वृद्धि ।

सम्पत्ति की वृद्धि के लिए मेहनत की भी वृद्धि दरकार होती है । सम्पत्ति की उत्पत्ति के तीन कारणों में से मेहनत भी एक कारण है । जहाँ कार्य्य-कारण भाव होता है वहाँ कार्य्य में कोई विशेषता होने के लिए कारण में भी विशेषता होनी चाहिए । मेहनत सम्पत्ति की उत्पत्ति का कारण है । अतएव सम्पत्ति तभी अधिक पैदा होगी जब मेहनत अधिक की जायगी । मेहनत से यहाँ यह मतलब नहीं कि जितनी मेहनत एक आदमी कर सकता है उससे अधिक करे । नहीं, मेहनत करनेवाले मज़दूरों की संख्या बढ़ाने से मतलब है । क्योंकि मज़दूर अपनी शक्ति से अधिक काम नहीं कर सकते । उनसे अधिक काम तभी हो सकेगा जब उनकी संख्या बढ़ जायगी ।

जितनी व्यावहारिक चीज़ें हैं सबकी गिनती सम्पत्ति में है । अतएव सम्पत्ति बढ़ाना मानों इन चीज़ों की आमदनी या उत्पत्ति बढ़ाना है । और, चीज़ें तभी अधिक पैदा होंगी जब मेहनत अधिक की जायगी । जिस देश में कल-कारख़ानों की अधिकता है उसमें मज़दूरों के करने के बहुत से काम कलों से निकल जाते हैं । अर्थात् जो काम मज़दूरों के—श्रम-जीवियों के—करने का है उसका अधिकांश कलों ही से हो जाता है । पर जहाँ कलों का कम प्रचार है वहाँ मज़दूरों की संख्या बढ़ाये बिना अधिक माल नहीं तैयार हो सकता । जिस चीज़ का खप अधिक होता है उसे अधिक उत्पन्न करना पड़ता है, और अधिक उत्पत्ति तभी होगी जब अधिक मज़दूर लगाये जायँगे । चाय हिन्दुस्तान में पैदा होती है । उसका खप बढ़

रहा है । उसकी खेती और व्यापार से लाभ होता है । इसलिए लोग उसकी खेती और व्यापार को बढ़ाते जाते हैं । परन्तु बढ़ा वे तभी सकते हैं जब उन्हें मज़दूर अधिक मिलें । मज़दूरों के लिए उन्होंने बड़े बड़े शहरों में अपने एजंट मुक़र्रर कर रक्खे हैं । वहाँ से वे ढूँढ ढूँढ कर मज़दूर भेजते हैं । परन्तु फिर भी उनकी मांग बनी ही रहती है । अब सवाल यह है कि दिनों दिन अधिक मज़दूर मिलेंगे कैसे ? इस विषय में नीचे लिखी हुई बातें ध्यान में रखने लायक़ हैं ।

(१) जो मज़दूर ख़ाली होंगे वे इस काम में लगा दिये जायँगे ।

(२) जो मज़दूर और कामों में लगे होंगे वे उन्हें छोड़ कर इस काम में लग जायँगे; क्योंकि चाय का खप अधिक होने से उसकी खेती और व्यापार से अधिक लाभ होगा । इसलिए चाय के व्यवसायी, मज़दूरों को अधिक मज़दूरी दे सकेंगे ।

(३) जो मज़दूर नट्टाल, माल्टा, ट्रिनिडाड, जमाइका, कनाडा आदि दूसरे दूसरे देशों और टापुओं को जाते हैं वे वहाँ न जाकर यहीं चाय के बाग़ीचों और कारख़ानों में काम करने लगेंगे ।

(४) मिल सकेंगे तो दूसरे देशों से यहाँ मज़दूर लाये जायँगे ।

(५) मनुष्य-संख्या बढ़ने से अधिक मज़दूर मिलने लगेंगे ।

याद रहे, अधिक मज़दूर मिलने के ये मार्ग मात्र हैं । इन्हीं पाँच द्वारों से मज़दूरों की संख्या बढ़ाई जा सकती है । पर हर देश की स्थिति जुदा जुदा होती है और अपनी अपनी स्थिति के अनुसार हर देश मज़दूरों की संख्या बढ़ा सकता है ।

मेहनत मज़दूरी की तभी अधिक ज़रूरत होती है जब देश की दशा सुधर जाती है या सुधरने लगती है । जहाँ व्यापार ख़ूब होता है, उद्योग-धन्धों की तरक़्क़ी होती है, खेती की भी दशा अच्छी होती है, वहीं अधिक मज़दूर दरकार होते हैं । अर्थात् जैसे जैसे सम्पत्ति की वृद्धि होती जाती है वैसेही वैसे मज़दूरों की संख्या की भी वृद्धि होती है । अधिक मज़दूरों की दरकार होना, अधिक सम्पत्ति का चिह्न है । इस दशा में मज़दूरों को मज़दूरी भी ख़ातिरख़्वाह मिलती है—उनकी माहवारी तनख़्वाह भी बढ़

जाती है—और वे आराम से रह सकते हैं । उन्हें खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने की कोई विशेष तकलीफ़ नहीं होती । इससे उनकी शारीरिक अवस्था भी सुधर जाती है, और पहले की अपेक्षा शादी-ब्याह भी उनके अधिक होने लगते हैं । फल यह होता है कि उनकी सन्तति शीघ्र बढ़ने लगती है और थोड़े ही समय में उनकी संख्या अधिक हो जाती है ।

सम्पत्ति-शास्त्र के कोई कोई सिद्धान्त बड़े ही अजीब हैं । उनमें वृद्धि-ह्रास लगा ही रहता है । जो माल महँगा होता है वह जब अधिक तैयार होने लगता है तब सस्ता हो जाता है । और सस्ते माल का बनना बन्द होने से वह फिर महँगा हो जाता है । मज़दूरों का भी यही हाल है । उनकी संख्या का बढ़ना मानों आबादी का बढ़ना है । और जब आबादी बढ़ जाती है तब अनाज आदि खाने पीने की चीज़ें महँगी हो जाती हैं । उनके महँगी होने से बेचारे मज़दूरों की हालत फिर ख़राब होने लगती है । यही उतार चढ़ाव लगा रहता है ।

चौथा परिच्छेद ।

पूँजी की वृद्धि ।

संसार में पूँजी बड़ी चीज़ है । बिना पूँजी के कुछ नहीं हो सकता । यदि पूँजी न हो तो ज़मीन और मेहनत का कुछ भी उपयोग न हो सके । और यदि पूँजी की वृद्धि न की जाय तो न ज़मीन ही की वृद्धि हो सके और न मज़दूरों की संख्या ही बढ़ सके । अतएव सम्पत्ति की वृद्धि के लिए पूँजी की वृद्धि करना सबसे बड़ी बात है ।

जैसा पहले कहा जा चुका है, पूँजी सञ्चय का फल है । अथवा यों कहिए कि सञ्चय ही का दूसरा नाम पूँजी है । इससे पूँजी की वृद्धि सर्वथा सञ्चय की वृद्धि पर अवलम्बित रहती है । अब यदि हमें यह मालूम हो जाय कि कब और किस तरह—अर्थात् किन कारणों से—सञ्चय की अधिकता होती है तो पूँजी की वृद्धि के नियम जान लेने में कुछ कठिनता न हो । इसलिए हम पहले सञ्चय का ही विचार करते हैं ।

सञ्चय करना जैसे हर आदमी के लिए लाभकारी है वैसेही हर देश के लिए भी लाभकारी है। जो लोग अपनी हविस पूरी करने के लिए—ज़रा देर के काल्पनिक सुखोपभोग के लिए—अपनी सम्पत्ति को फ़िज़ूल ख़र्च कर देते हैं वे निरे मूर्ख हैं। आदमी को हमेशा आगे का ख़याल रखना चाहिए। छोटे छोटे कीट पतंग तक सञ्चय करते हैं। मधु-मक्खियाँ महीनों के लिए शहद बनाकर रखती हैं और चींटियाँ अनाज आदि इकट्ठा करके अपने बिलों में रख छोड़ती हैं। क्या आदमी इनसे भी गया गुज़रा है ? क्या वह ऐसे छोटे छोटे प्राणियों से भी सबक़ नहीं ले सकता ? सज्ञान होने का घमण्ड रखकर भी यदि आदमी भविष्य का कुछ भी ख़याल न करे तो बड़े अफ़सोस की बात है। तो उससे, इस विषय में, मक्खियाँ और चिउँटियाँ ही अच्छी। सञ्चित सम्पत्ति के लुट जाने का डर तो है ही नहीं; अँगरेज़ी गवर्नमेंट की कृपा से देश में सब कहीं अमन चैन है। और न हमारे देशवासी आस्ट्रेलिया, फीजी या अफ़रीका के जंगली आदमियों की तरह असभ्य और अज्ञान ही हैं, जो भविष्य की आवश्यकतायें उनकी समझही में न आती हों। फिर सञ्चय की इस देश में इतनी कमी क्यों ? इसके कई कारण हो सकते हैं। उनमें से एक दरिद्रता है। जो दरिद्री है, निर्धन है, सम्पत्ति-हीन या अल्प सम्पत्तिवाला है वह बेचारा सञ्चय करेगा किस तरह ? इस दरिद्रता के कई कारण हैं जिनके विवेचन की यहाँ ज़रूरत नहीं। ज़रूरत यहाँ सिर्फ़ इतना ही कहने की है कि जिन्हें सम्पत्ति प्राप्त होती है उन्हें भविष्य का ख़याल रखकर ज़रूर कुछ न कुछ सञ्चय करना चाहिए।

दूसरा कारण सञ्चय न करने का हमारा वेदान्त है। वेदान्त में लिखा है कि संसार मिथ्या है, मायाजाल है, बाज़ीगर का तमाशा है। जब संसार ही मिथ्या है तब धन, सम्पदा आदि सांसारिक चीज़ें भी मिथ्या हुईं। फिर भला मिथ्या चीज़ों का सञ्चय कोई क्यों करे ? सम्पत्ति-शास्त्र वाले वेदान्त की बातें झूठ नहीं बतलाते। वे सच हो सकती हैं। पर जब आप इस ऐन्द्रजालिक जगत् में रहते हैं तब उसकी चीज़ों से घृणा क्यों करते हैं ? उनका भी सञ्चय कीजिए और जब तक संसार में रहिए अच्छी तरह रहिए ? जब उससे आप नजात पा जायँगे तब उसकी चीज़ों से भी नजात मिल जायगी।

सञ्चय न करने के और भी कई कारण हैं जिनका उल्लेख पूँजी के प्रकरण में पहले ही हो चुका है। अतएव उनकी पुनरुक्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं।

आदमी को चाहिए कि वह यथाशक्ति सञ्चय करे और उसे लाभदायक कामों में लगा कर अपनी पूँजी की वृद्धि करता रहे। इससे अकेले उसी को लाभ न होगा, किन्तु उसके सञ्चय की बदौलत किये गये व्यापार और व्यवसाय में लगे हुए हज़ारों, लाखों आदमियों का पेट भी पलेगा। यदि संसार सचमुच ही मिथ्या है, और यदि औरों की उदरपूर्ति करना पुण्य में दाख़िल है, तो वेदान्तियों को भी इससे कृतकृत्य और सन्तुष्टही होना चाहिए, असन्तुष्ट और अप्रसन्न नहीं।

किस काम में—किस वाणिज्य-व्यवसाय में—पूँजी लगाने से उसकी वृद्धि होगी, यह बतलाना बहुत मुश्किल है। यह बात देश, काल, सामाजिक व्यवस्था और पूँजीवाले की बुद्धि और योग्यता पर अवलम्बित है। मनुष्य को चाहिए कि वह ख़ूब समझ बूझकर अपनी पूँजी लगावे जिसमें उसकी यथासम्भव वृद्धि होती रहे। जिस काम में अधिक लाभ की आशा हो वही करे। जिसमें लाभ की आशा कम हो उससे पूँजी निकाल ले। जो लोग या जो देश व्यापार-व्यवसाय में पक्के होते हैं वे हमेशा ऐसा ही करते हैं। कम लाभ के कामों से पूँजी निकाल कर वे अधिक लाभ के कामों में लगाया करते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि किसी काम में अधिक लाभ देख कर उसे और लोग भी करने लगते हैं। इससे लाभ बहुत कम हो जाता है और धीरे धीरे यहाँ तक नौबत पहुँचती है कि उसे छोड़ना पड़ता है। इस उतार चढ़ाव का फल यह होता है कि कभी पूँजी बढ़ जाती है और कभी कम हो जाती है।

पूँजी की वृद्धि कई कारणों से हो सकती है। समाज के सुधार से, शिक्षा की वृद्धि से, घर-गृहस्ती का अच्छा प्रबन्ध रखने से, फ़िज़ूलख़र्ची की आदत कम हो जाने से, ब्याज की दर बढ़ जाने से और व्यावहारिक चीज़ें सस्ती मिलने से सञ्चय अधिक होता है। अतएव पूँजी बढ़जाती है। इनके सिवा पूँजी की वृद्धि के और भी अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से सम्भूय-समुत्थान मुख्य है।

मिल कर बहुत आदमियों के द्वारा जो व्यापार या व्यवसाय किया जाता है उसका नाम सम्भूय-समुत्थान है। जितनी बड़ी बड़ी कम्पनियाँ हैं सब इसी सम्भूय-समुत्थान का फल है। जब बहुत आदमी अपनी अपनी आमदनी का थोड़ा थोड़ा हिस्सा किसी काम में लगा कर लाभ उठाना चाहते हैं तब उन्हें कम्पनी खड़ी करनी पड़ती है। क्योंकि यदि वे अलग अलग अपना अपना काम करना चाहें तो पूँजी कम होने के कारण पहले तो उसे करही न सकें; और यदि कोई छोटा मोटा काम करें भी तो उससे लाभ बहुत कम हो। वही यदि सब आदमी थोड़ी थोड़ी पूँजी एक जगह एकत्र करते हैं तो बहुत बड़ी रक़म हो जाती है। उससे वे बड़े बड़े व्यापार कर सकते हैं। और व्यापार जितना ही बड़ा होगा लाभ भी उतनाही अधिक होने की सम्भावना होगी। कल्पना कीजिए कि आप के पास १०० रुपये की पूँजी है और आप किसी स्कूल में अध्यापक हैं। अब आप अपना अध्यापन काम छोड़ कर इतनी थोड़ी पूँजी से कोई स्वतंत्र व्यवसाय नहीं कर सकते। पर यही १०० रुपये लगा कर यदि आप किसी कम्पनी का एक हिस्सा ख़रीद लें तो आप का रुपया भी स्वार्थ लग जाय और उससे आप को लाभ भी हो—अर्थात् आप की पूँजी की वृद्धि होती रहे। सम्भूय-समुत्थान के द्वारा, संचित की हुई छोटी छोटी रक़में, जो स्वतन्त्र रीति से किसी व्यापार या व्यवसाय में नहीं लगाई जा सकतीं, मिल कर बड़ी भारी पूँजी बन जाती हैं। इससे सम्पत्ति की वृद्धि होने में बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु एक बात यह है कि कम्पनी विश्वसनीय होनी चाहिए। इस देश में नई नई कम्पनियों के व्यवस्थापत्र निकला करते हैं। किसी किसी का नाम तो व्यवस्थापत्रों ही तक रहता है, आगे जाता ही नहीं। कोई कोई कुछ दिन तक चल कर टाट उलट देती हैं; उनका दिवाला हो जाता है। कोई कोई दो चार वर्ष चलती तो हैं; पर उन्हें लाभ नहीं होता; बहुधा घाटा ही हुआ करता है। अतएव उन्हें भी अपना बही खाता लपेट कर कारोबार बन्द करना पड़ता है। इससे ऐसी कम्पनियों के विषय में इस देश के पूँजीवालों का विश्वास जाता सा रहा है। इसके कारण हैं, जिनका विचार आगे चल कर एक अलग परिच्छेद में हम करेंगे। परन्तु ऐसी घटनाओं से इस सिद्धान्त

में बाधा नहीं आती कि सम्भूय-समुत्थान की बदौलत पूँजी की वृद्धि होती है।

अमेरिका और योरप व्यापार में बहुत बढ़े चढ़े हैं। वहाँ इतनी पूँजी है जिसका अन्त नहीं। उस पूँजी से और और देशों का भी काम निकलता है। वहाँ के किसी किसी सम्पत्तिशास्त्रवेत्ता की राय है कि बड़े बड़े व्यापारों में घाटा होना, बड़े बड़े कारोबार करने वालों का दिवाला निकलना, और बड़े बड़े आदमियों का लाखों करोड़ों रुपये फ़िज़ूल ख़र्च करना देश के लिए बुरा नहीं, अच्छा है। वे कहते हैं कि यदि इस तरह पूँजी कम न हो जाया करेगी तो उसका अतिरेक हो जायगा। वह इतनी बढ़ जायगी कि उस सबका उपयोग ही न हो सकेगा। उसका बहुत कुछ अंश बेकार पड़ा रहेगा। इससे बेहतर है कि पूर्वोक्त प्रकारों से वह कम हो जाय। परन्तु यह भ्रम है। वर्तमान काल और भविष्य में सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए जो सञ्चय किया जाता है उसी का नाम पूँजी है। और पूँजी का ख़र्च मज़दूरों के पालन-पोषण तथा कलें आदि ख़रीदने और इमारतें आदि बनाने में होता है। वह जितनी ही अधिक ख़र्च होगी उतना ही अधिक व्यापार और व्यवसाय बढ़ेंगे—उनकी तरक्क़ी होगी। यही नहीं, किन्तु और भी नये नये व्यापार होने लगेंगे। इससे अस्थायी पूँजी बढ़ जायगी और मज़दूरों को अधिक मज़दूरी मिलने लगेगी। फल यह होगा कि उनकी दशा सुधर जायगी और मेहनत मज़दूरी करने वाले आदमियों की दशा का सुधारना मानो देश की दशा का सुधारना है। सभ्य, शिक्षित और सुधरे हुए देशों में पूँजी कभी बेकार नहीं रह सकती। और, यदि मतलब से ज़ियादह हो भी जाय तो सभ्यता की सखी फ़िज़ूलख़र्ची उसे कम किये बिना नहीं रहती।

चौथा भाग ।

सम्पत्ति का विनिमय ।

पहला परिच्छेद ।

प्राथमिक विचार ।

सम्पत्ति का प्रधान लक्षण विनिमय-साध्य होना है । जिस चीज़ का बदला हो सकता है वही सम्पत्ति है । इस लक्षण के अनुसार मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, कोयला, हड्डी आदि की भी गिनती सम्पत्ति में हो सकती है । विनिमयसाध्यता का गुण आते ही पदार्थों को सम्पत्ति का रूप प्राप्त हो जाता है । इसका वर्णन हो चुका है । सम्पत्ति की उत्पत्ति और वृद्धि की भी विवेचना हो चुकी है । अब, इस भाग में, उसके विनिमय का विचार करना है ।

सम्पत्ति का विनिमय इस लिए किया जाता है जिसमें जिन चीज़ों की हमें ज़रूरत न हो उनके बदले हम ज़रूरत की चीज़ें प्राप्त कर सकें । क्योंकि संसार में रह कर व्यवहार की सारी चीज़ें ख़ुदही बना लेना या पैदा करना एक आदमी के लिए साध्य नहीं । इससे जो चीज़ें आदमी ख़ुद ही निर्म्माण नहीं कर सकता वे उसे औरों से प्राप्त करनी पड़ती हैं । पर जिसकी चीज़ें हैं वह मुफ़्त में उसे औरों को नहीं देता । उसके बदले कुछ देना पड़ता है । इसी अदला-बदल का नाम व्यापार है । यह बड़े महत्त्व का विषय है । अतएव व्यापार और उसके सहकारी विषयों का वर्णन हम इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध में, अलग अलग परिच्छेदों में, करेंगे । इस भाग में विनिमय-सम्बन्धी सिर्फ़ ख़ास ख़ास बातों का वर्णन करेंगे ।

बिना पदार्थों का विनिमय किये—बिना उनका बदला किये—आदमी का एक घड़ी भर भी काम नहीं चल सकता । पर बदले के लिए अपेक्षित

चीज़ों का मिलना क्या कोई सहज काम है ? कल्पना कीजिए, किसी बढ़ई ने एक हल तैयार किया। उसके बदले में उसे अनाज चाहिए। पर अनाज पैदा करनेवाले किसान को उस समय हल दरकार नहीं। या यदि दरकार भी है तो उसके बदले में देने को काफ़ी अनाज उसके पास नहीं है। इस दशा में बेचारे बढ़ई को कोई ऐसा किसान ढूँढ़ना पड़ेगा जिसे हल भी दरकार हो और उसके बदले में देने के लिए उसके पास काफ़ी अनाज भी हो। यदि ऐसा किसान बढ़ई को न मिले तो बेचारे को भूखों मरना पड़ेगा। फिर, सिर्फ़ अनाजही से बढ़ई का काम नहीं चल सकता। उसे नमक, मिर्च, मसाला, तेल आदि भी चाहिए। यदि उसे हल के बदले अनाज मिल भी गया तो उस अनाज को लेकर उसे नमक, मिर्च, मसाला आदि देकर अनाज लेनेवालों को ढूँढ़ना पड़ेगा। इसी तरह अन्यान्य व्यवसाय करनेवालों को भी तंग होना पड़ेगा। क्योंकि चीज़ें बदलने की ज़रूरत सबको होती है, और सब चीज़ें सब आदमी अपने घर में नहीं तैयार कर सकते। सबको अपनी चीज़ें लेने वालों का पता लगा कर उनसे अपनी अपेक्षित चीज़ें बदलने का झंझट थोड़ा न समझिए। यदि ये दोनों काम लोगों को करने पड़ें तो बहुत समय व्यर्थ जाय, और तकलीफ़ जो उठानी पड़े वह घाते में रहे। उन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक विशेष प्रकार का व्यवसाय करनेवालों की सृष्टि हुई है। उनका नाम है व्यापारी, वणिक्, सौदागर या ताजिर। ये लोग अपनी दुकान में बेचने के लिए बदले की चीज़ें रखते हैं। व्यावहारिक चीज़ों का विनिमय करना ही व्यापार है।

विनिमय के असल रूप में वाणिज्य का होना असम्भव या आश्चर्य्य की बात नहीं। असभ्य देशों में यह प्रथा अब तक जारी है। अफ़रीका और आस्ट्रेलिया आदि के असभ्य जंगली हाथीदांत, गोंद, मोम, शुतुर्मुर्ग़ के पर आदि देकर उनके बदले में हथियार, औज़ार और खाने पीने आदि की चीज़ें अब भी लेते हैं। देहात मे यहाँ भी बढ़ई, लुहार, कुम्हार आदि की बनाई हुई चीज़ों का बदला अनाज देकर अब तक किया जाता है। परन्तु अन्यत्र इस अदला-बदल की सहायक एक वस्तु ऐसी निश्चित हो गई हैं जिससे विनमय की कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं। इस वस्तु के प्रचार से अब बढ़ई

को हल लेकर अनाज पैदा करने वाले किसान के पास नहीं जाना पड़ता। अब बढ़ई अपने हल के बदले वही निश्चित चीज़ ले लेता है और उसे अपनी अपेक्षित चीज़ का व्यापार करनेवाले व्यापारी को देकर उसके बदले जो चीज़ उसे दरकार होती है ले आता है। इस चीज़ का नाम रुपया या सिक्का है।

बदले के लिए कम से कम दो चीज़ें ज़रूर दरकार होती हैं। जब हम यह कहते हैं कि किसी चीज़ का बदला हो सकता है, तब हमारे कहने का मतलब यह है, कि उस चीज़ का बदला किसी और चीज़ से हो सकता है। इसी तरह जब हम यह कहते हैं कि अमुक चीज़ इतनी बिकती है तब हम उस चीज़ का भी परिमाण बतलाते हैं जो उसके बदले में दी जाती है। इस पिछली उक्ति से परस्पर बदली जानेवाली दो चीज़ों की मालियत ज़ाहिर होती है। रुपया इसी मालियत या क़ीमत के नापने का पैमाना है। अतएव मालियत और क़ीमत का ठीक ठीक अर्थ समझ लेना चाहिए।

दूसरा परिच्छेद।

मालियत और क़ीमत।

जब दो चीज़ों का बदला किया जाता है तब रुपये को मध्यस्थ होना पड़ता है। मान लीजिए कि आप के पास पाँच मन चावल फ़ालतू है। उसे बेच कर आपने रुपया ले लिया और उस रुपये को देकर कपड़ा ख़रीदा। इससे कपड़े और चावल का बदला हो गया; रुपये ने बीच में पड़ कर इस अदला-बदल को सिर्फ़ सहायता पहुँचाई। अब देखना है कि यह सहायक रुपया क्या चीज़ है? पर उसके विषय में कुछ कहने के पहले इस बात का विचार करना ज़रूरी है कि क़ीमत क्या चीज़ है। क्योंकि क़ीमत चुकाने ही के लिए रुपये से सहायता ली जाती है। क़ीमत और मालियत में फ़र्क़ है।

कल्पना कीजिए कि एक सेर घी के बदले चार सेर शक्कर मिलती है। अर्थात् एक रुपये में जैसे एक सेर घी आता है वैसे ही चार सेर शक्कर। तो इससे यह सूचित हुआ कि एक सेर घी की मालियत या क़द्र चार सेर

शक्कर की मालियत या क़दर के बराबर है। अतएव यह कहना चाहिए कि मालियत से दो चीज़ों की परस्पर तुलना का अर्थ निकलता है।

जब यह मान लिया गया कि मालियत से तुलना या मुक़ाबले का अर्थ निकलता है तब यह भी मान लेना होगा कि जिन दो चीज़ों की तुलना की जाती है उनमें से यदि एक की मालियत बढ़ जायगी तो दूसरे की कम हो जायगी। क्योंकि दोनों की मालियत का एकदम बढ़ना या एकदम कम हो जाना असम्भव है। एक की मालियत बढ़ने से दूसरे की कम होनी ही चाहिए। यदि कोई यह कहे कि सब चीज़ों की मालियत और सब चीज़ों की मालियत से बढ़ गई है तो उसका कुछ भी अर्थ न होगा। यदि यह कहा जाय कि घी की मालियत या क़दर पहले की अपेक्षा बढ़ गई है तो इससे यही अर्थ निकलेगा कि उसके बदले पहले शक्कर जो चार सेर मिलती थी अब उससे अधिक मिलती है।

आज कल चीज़ों का प्रत्यक्ष बदला नहीं होता। जिसके पास घी है वह शक्कर वाले के पास शक्कर बदलने नहीं जाता। वह घी बेच कर उसकी मालियत रुपये के रूप में ले लेता है। और उस रुपये की शक्कर ख़रीद करता है। इस मालियत की माप करने वाले रुपये-पैसे या सिक्के का नाम क़ीमत है। घी के बदले यदि शक्कर ली जाती तो शक्कर घी की मालियत हो जाती। पर वैसा न करके घी की मालियत का बदला रुपये के रूप में लिया गया। इससे रुपया घी की क़ीमत हुआ। मोटी बात यह है कि किसी चीज़ के बदले जो चीज़ मिले वह उसकी मालियत है। और, उसके बदले जो रुपया मिले वह क़ीमत है।

सब चीज़ों की मालियत एकदम नहीं बढ़ सकती। पर क़ीमत एकदम बढ़ सकती है। एक सेर घी की मालियत चार सेर शक्कर है। इन दोनों चीज़ों की पारस्परिक मालियत एक साथ नहीं बढ़ सकती। एक की बढ़ने से दूसरी की कम होनी ही चाहिए। पर एक सेर घी की क़ीमत दो रुपये हो सकती है, और चार सेर शक्कर की भी क़ीमत बढ़कर एक से दो रुपये हो सकती है। उनकी क़ीमत एक साथ ही दूनी हो जायगी; पर उनकी मालियत उतनी ही बनी रहेगी जितनी पहले थी। मतलब यह कि सब

चीज़ों की क़ीमत एक साथ कमोवेश हो सकती है; पर उनकी मालियत एक साथ कमोबेश नहीं हो सकती ।

. जितनी चीज़े हैं उनकी मालियत या क़दर की कमी-बेशी दो कारणों से हो सकती है । एक तो जिस चीज़ की मालियत का निश्चय करना है उसमें ख़ुद ही कुछ कमी-बेशी होने से । दूसरे जिस चीज़ से उसका बदला करना है उसमें कमी-बेशी होने से । पहला भीतरी कारण है । दूसरा बाहरी । एक सेर घी के बदले चार सेर शक्कर मिलती थी । यदि चार के बदले अब वह आठ सेर मिलने लगे तो समझना चाहिए कि घी की क़दर बढ़ गई है । उसकी मालियत पहले की अपेक्षा अधिक होगई है । इसके वही दो कारण हो सकते हैं । अर्थात् या तो पहले की अपेक्षा घी आधा ही पैदा हुआ या शक्कर दूनी पैदा हुई । दोनों में से एक कारण ज़रूर होना चाहिए । कारण कोई हो, फल एक ही होगा । घी कम पैदा होने से जो उसकी क़दर बढ़ जायगी सो भीतरी कारण से । पर घी पूर्ववत् बना रहकर यदि शक्कर दूनी पैदा होगी तो घी की मालियत शक्कर के वृद्धि-रूप बाहरी कारण से बढ़ जायगी । अर्थात् घी में कुछ भी कमी-बेशी न होकर जो चीज़ उसके बदले में आती थी उसके अधिक हो जाने से क़दर बढ़ेगी । एक सेर घी के बदले चार सेर शक्कर बस होती थी । पर घी कम होने से शक्कर आठ सेर हो गई । अब यदि शक्कर दूनी पैदा हो तो भी वही बात होगी । इससे मालूम हुआ कि दोनों तरह से घी की मालियत बढ़ गई । पर घी की मालियत बढ़ जाने से शक्कर की मालियत कम हो जानी ही चाहिए । क्योंकि एक सेर घी के बदले जितनी शक्कर पहले आती थी उससे अब दूनी आने लगी । अर्थात् पहले की अपेक्षा अब शक्कर सस्ती हो गई—उसकी मालियत घट गई ।

इस प्रतिपादन से यह सिद्ध हुआ कि क़ीमत और मालियत या क़दर में फ़र्क़ है । जहाँ दो चीज़ों का आपस में मुक़ाबला होता है वहाँ "मालियत" "क़दर" का अर्थ गर्भित रहता है । पर जहाँ किसी चीज़ के बदले में रुपये-पैसे से मतलब होता है वहाँ "क़ीमत" का अर्थ सूचित होता है । यह इतना झंझट हमें अँगरेज़ी शब्द "Value" और "Price" का भेद

समझाने के लिए करना पड़ा। सम्पत्ति-शास्त्र हिन्दी में बिलकुल ही नई चीज़ है। वह अँगरेज़ी भाषा की बदौलत हमें प्राप्त हुआ है। और अँगरेज़ी में पूर्वोक्त दोनों शब्दों के अर्थ में भेद है। "Value" का अर्थ मालियत है और "Price" का क़ीमत। इसीसे क़ीमत और मालियत का तारतम्य बतला देना हमने मुनासिब समझा। इन दोनों शब्दों के अर्थ को लोग यथाक्रम "माल" और "दाम" शब्दों से भी सूचित करते हैं। पर आगे चलकर हम बहुधा मालियत—"Value" के अर्थ में भी क़ीमत, मूल्य या मोल ही शब्द लिखेंगे, क्योंकि "Value" का अर्थ-बोधक "मालियत" या "क़दर" शब्द व्यापार और उद्योगधन्धे की बातों में कम आता है।

तीसरा परिच्छेद।

सिक्का।

समाज की आदिम अवस्था में चीज़ों का हमेशा अदला-बदल होता है। यह बात बतलाई जा चुकी है। इससे अब इस विषय में और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। अदला-बदल करने में बहुत तकलीफ़ें होती हैं। वक़्त भी बहुत ख़राब होता है। इसी से पदार्थों के मूल्य के दर्शक रुपये या सिक्के की सृष्टि हुई है। इससे लेन देन में बड़ा सुभीता होता है। किसान खेती की पैदावार के बदले, मज़दूर मज़दूरी के बदले, बुद्धिजीवी बुद्धि के बदले, गुणवान् गुण के बदले रुपया पैसा लेने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। सब रुपये को चाहते हैं। सब द्रव्य की अभिलाषा रखते हैं। इसका कारण यह है कि रुपया दिखलाते ही सारी व्यावहारिक चीज़ें बाज़ार में मिल सकती हैं। अतएव रुपया पैसा एक प्रकार का टिकिट या हुक्मनामा है जिसके प्रभाव से आदमी को खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने आदि की सामग्री आसानी से प्राप्त हो सकती है। इसी से सब लोग रुपये का इतना आदर करते हैं। सभ्य-समाज के प्रत्येक आदमी को जो रुपये की इतनी चाह रहती है उसका यही कारण है कि उसकी बदौलत उनकी आवश्यकतायें दूर हो सकती हैं।

यदि रुपया पदार्थों के मूल्य का निदर्शन रूप न मान लिया जाता, यदि उसमें व्यावहारिक चीज़ों के प्राप्त करने की शक्ति न होती, ते। उसे कोई न पूछता—ते। उसकी कुछ भी क़दर न होती ।

द्रव्य अर्थात् रुपये पैसे में निज का कोई गुण नहीं है । उसके किसी जातीय गुण के कारण उसकी क़दर नहीं होती । यदि किसी रेगिस्तान, या समुद्र में जाते हुए जहाज़, में किसी के पास करोड़ रुपये भी हों; पर वहाँ व्यवहार की चीज़ों का अभाव हो ; अतएव रुपया ख़र्च करने पर भी वे न मिल सकती हों; ते। रुपये से कोई लाभ न हो । आदमी भूखों मर जाय । रुपये में यद्यपि प्रयोजनीय चीज़ें प्राप्त करने की शक्ति है, तथापि वह शक्ति उस रुपये में .ख़ुद ही नहीं आई । जिस चीज़, जिस काम, जिस परिश्रम के बदले वह मिलता है उसी की वह शक्ति है । आपने महीने भर मेहनत करके यदि १०० रुपये कमाये और उन रुपयों की किताबें मोल लीं ते। वे किताबें आपके रुपयों के बदले में मिली हुई नहीं समझी जानी चाहिए; किन्तु आपकी महीने भर की मेहनत के बदले में मिली समझनी चाहिए । रुपये ते। सिर्फ़ इस बात की टिकिट, सर्टीफ़िकट या सनद हैं कि आपने महीने भर मेहनत की है । जो लोग इस सूक्ष्म भेद को नहीं जानते वे रुपये पैसे ही को सम्पत्ति समझते हैं । ऐसे ही लोग रुपया देकर जब कोई चीज़ ख़रीदते हैं तब कहते हैं कि हमारा आज इतना धन ख़र्च हो गया । उनकी समझ में यह नहीं आता कि उलटा हमीं बाहर से पदार्थ रूपी धन घर ले आये ।

रुपये पैसे से तीन काम होते हैं । एक ते।, वह दो चीज़ों के विनिमय-साधन में मध्यस्थ का काम करता है । दूसरे, विनिमय-साध्य दो चीज़ों की क़ीमत की वह तादाद बतलाता है । तीसरे, भविष्य में जो चीज़ देनी होती है उसकी क़ीमत वह पहलेही से बता देता है । इस तीसरी बात को ज़रा स्पष्ट करके बतलाने की ज़रूरत है । कल्पना कीजिए कि देवदत्त ने यज्ञदत्त से १०० रुपये की ३०० मन लकड़ी ली और वादा किया कि ३ वर्ष बाद मैं आपके ये रुपये लौटा दूँगा । अब यदि ३ वर्ष बाद लकड़ी की क़ीमत दूनी हो जाय, अर्थात् ३०० मन लकड़ी २०० रुपये की मिलने लगे, ते। भी देवदत्त को सिर्फ़ सौ ही रुपये यज्ञदत्त को देने होंगे । यदि रुपये के द्वारा लकड़ी

की क़ीमत पहले ही से न निश्चित हो जाती तो देवदत्त को लकड़ी के तत्कालीन मूल्य के हिसाब से दूना धन यज्ञदत्त को देना पड़ता । रुपये पैसे के इस गुण से समाज को बहुत लाभ होता है ।

यह कोई नियम नहीं है कि सिक्का सोने, चाँदी या ताँबे ही का हो। अनेक चीज़ों का सिक्का हो सकता है । राजाज्ञा से सब लोगों को उसे क़बूल भर कर लेना चाहिए । लोहा, लकड़ी, कौड़ी, सीप, घोंघे, बादाम, अंडे, शराब आदि चीज़ें सिक्के का काम दे चुकी हैं । कौड़ियाँ तो इस देश में अब भी चलती हैं । यद्यपि बहुत सी चीज़ों का सिक्का हो सकता है तथापि सिक्का होने की योग्यता आने के लिए मुख्य तीन गुणों का होना ज़रूरी है । यथा:—

(१) जिस चीज़ का सिक्का जारी करना है उसकी क़ीमत में बहुत फेर फार न होना चाहिए । वह हमेशा स्थिर रहनी चाहिए ।

(२) वह चीज़ ख़ुद भी क़ीमती होनी चाहिए और उसे पाने की इच्छा भी सब को होनी चाहिए ।

(३) उस चीज़ का आकार तो छोटा होना चाहिए, पर आकार की अपेक्षा क़ीमत अधिक होनी चाहिए ।

ये तीन गुण मुख्य हुए । यदि मुख्यामुख्य सब गुणों का विचार किया जाय तो जिस चीज़ का सिक्का बनाना हो उसमें नीचे लिखे अनुसार ७ गुण होने चाहिए ।

(१) क़ीमती होना ।

(२) सहज ही में एक जगह से दूसरी जगह ले जाने योग्य होना ।

(३) क्षयशील न होना । अर्थात् उसके कम हो जाने का डर न होना ।

(४) समजातिक होना । अर्थात् एक जगह एक तरह की दूसरी जगह दूसरी तरह की न होना ।

(५) क्रम से अलग अलग भाग किये जाने योग्य होना ।

(६) क़ीमत में कमी-बेशी न होना ।

(७) देखते ही पहचान लिये जाने की योग्यता रखना ।

यदि क़ीमती, सुडौल और सुन्दर चीज़ का सिक्का न बनाया जायगा तो लोगों को पसन्द ही न आयेगा । फिर क्यों उसे कोई लेने की इच्छा करेगा ?

लोहा, लंगड, कौड़ी आदि चीज़े न तो देखने ही में अच्छी हैं और न उनके पाने मे बहुत परिश्रम ही पड़ता है । इसीसे वे कम क़ीमती होती हैं । आप कहेगे, हीरा सबसे अधिक क़ीमती है; उसका सिक्का क्यों नहीं बनाया जाता? जवाब यह है कि हीरा सहज मे मिल जो नही सकता । और, फिर, उसके टुकड़े जो ठीक ठीक नही हो सकते । टुकड़े करने से उसकी क़ीमत कम हो जाती है । १००० रुपये के क़ीमती हीरे के एक टुकड़े के यदि बराबर बराबर ५ टुकड़े किये जायँ तो हर एक टुकडा कभी दो दो सौ का न बिकेगा । इसी से हीरा सिक्का बनाने योग्य नही ।

सिक्के को हमेशा एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की ज़रूरत रहती है । इससे उसका आकार छोटा होना चाहिए । यदि लोहे या लकड़ी का सिक्का बने तो उसके हजार पाँच सौ टुकड़े ले जाने के लिए गाड़ी करना पड़े । चीज़-वस्तु ख़रीदने के लिए सिक्के को साथ ले जाने के सिवा देशान्तर मे भी उसे भेजने की ज़रूरत होती है । अतएव उसका आकार जरूर छोटा होना चाहिए, जिसमे बहुत से सिक्को के रखने में जगह कम रुके और साथ ले जाने मे सुभीता भी हो ।

क्षयशीलता का न होना भी सिक्के के लिए जरूरी गुण है । जो चीज़ घिस कर, कट कर, सड़ कर बरबाद या कम हो जाती है उसका सिक्का जारी करने मे बड़ी हानि उठानी पड़ती है । यदि अंडों या घोंघों का सिक्का चलाया जाय, और वे गिर कर टूट जायँ तो उनके बदले कभी कोई चीज न मिल सकेगी । यद्यपि ऐसे पदार्थ संसार में प्राय: एक भी नहीं जिनका बिलकुल ही नाश न होता हो, तथापि सोने-चाँदी का बहुत कम नाश होता है । सोना-चाँदी बहुत समय तक रहते हैं और बहुत कम घिसते हैं । उनके टूटने फूटने का भी बहुत कम डर रहता है । इसीसे इन्ही धातुओं के सिक्के बनाये जाते हैं ।

जिस चीज़ का सिक्का बनाया जाय वह एक सी होनी चाहिए । उसके साधर्म्य या समजातित्व मे फ़र्क़ न होना चाहिए । ऐसा न होने से उसके मोल मे फ़र्क़ आ जायगा । सोना और चाँदी भट्ठी में डाल कर एक धर्म के, एक जाति के, एक कस के, बनाये जा सकते है । एक प्रकार के एक तोले

सोने या चाँदी का मोल आग मे तपा कर दूसरे प्रकार के उतने ही सोने या चाँदी के मोल के बराबर किया जा सकता है । क़ीमती पत्थर अगर सिक्के के काम मे लाये जाते तो उनमे साधर्म्य मुशकिल से आ सकता । हीरे का मोल बहुत करके उसके रङ्ग और चमक के ऊपर अवलम्बित रहता है । परन्तु सब हीरों का रङ्ग और चमक एक सी नहीं होती । अतएव दो हीरे यदि तुल्य आकार, तुल्य वज़न और तुल्य काट के हो तो भी उनका मोल बराबर न हो सकेगा ।

सिक्के की चीज़ मे अलग अलग भाग किये जाने की योग्यता का होना भी ज़रूरी है । उसमे यदि विभाज्यता-गुण न हो तो व्यवहार मे बड़ी कठिनाई पड़े । तोले भर सोने के यदि चार टुकड़े किये जायँ तो उन चारों का मोल तोले भर ही के बराबर होगा । पर छः माशे के एक हीरे के यदि छः टुकड़े किये जायँ तो अलग अलग उन सब का मोल मिल कर कभी उस पूरे हीरे के मोल के बराबर न होगा ।

सिक्के के मोल मे स्थिरता का होना भी बहुत ज़रूरी है । यदि यह बात न होगी तो सब चीज़ो की क़ीमत रोज़ ही कम जियादह हुआ करेगी और लेन देन में बेहद गड़बड़ होगी । सोने और चाँदी के सिक्के के मोल मे अस्थिरता का बहुत कम डर रहता है । इसीसे उनके सिक्के बनते हैं । सिक्के के मोल मे परिवर्तन होने से कितनी हानि की सम्भावना होती है, इसका एक उदाहरण लीजिए । कल्पना कीजिए कि आपकी आमदनी ८० रुपये महीने है । इसमे से ४० रुपये का आप अनाज वग़ैरह लेते हैं । २० रुपये का कपड़ा ख़रीदते हैं । और बाक़ी के २० रुपये फुट कर कामो मे ख़र्च करते हैं । अब यदि किसी कारण से चाँदी सस्ती हो जाय और रुपये का भाव गिर कर पहले का आधा हो जाय तो आपकी आमदनी पूर्ववत् बनी रहने पर भी आपको भूखों मरने की नौबत आवे । इससे जिस चीज का सिक्का बनाया जाय उसकी क़ीमत मे, जहाँ तक हो, कमी-बेशी होने की कम सम्भावना होनी चाहिए ।

इँगलिस्तान मे हिन्दुस्तान के जो "सेक्रेटरी आव् स्टेट" रहते हैं उनका, उनके दफ़्तर का, लड़ाकू जहाज़ों का, अँगरेजी फ़ौज का और जिन

लोगों को हिन्दुस्तान की तरफ़ से पेन्शन मिलती है उनका ख़र्च कई करोड़ रुपया साल पड़ता है । यह ख़र्च हिन्दुस्तान को देना पड़ता है । पर यहाँ चाँदी का सिक्का है और इँगलेंड में सोने का । इधर कुछ समय से चांदी का भाव गिर गया । फल यह हुआ कि चाँदी के सिक्के के दाम सोने के सिक्के के हिसाब से काट कर देने में हिन्दुस्तान को हर साल करोड़ों रुपये की व्यर्थ हानि उठानी पड़ी । जब इस हानि की मात्रा बहुत ही बढ़ गई तब गवर्नमेंट ने कृपा करके एक पौंड सोने के सिक्के के दाम १५ रुपये मुक़र्रर कर दिये । इससे और अधिक हानि होने से बच गई । चाँदी के भाव का यह चढ़ाव उतार बहुत हानिकारी है ।

इससे सूचित हुआ कि जिस चीज़ का सिक्का बने उसके मोल में कमी-बेशी न हो सो ही अच्छा, और हो तो बहुत कम । इसी से सोने-चाँदी का सिक्का बनाया जाता है । इनके मोल में कमी-बेशी तो होती है, पर कम होती है ।

जिस चीज़ का सिक्का चले उसमें पहचान लिये जाने की योग्यता का होना भी ज़रूरी है । यदि उसके खरे खोटे होने का ज्ञान लोगों को न हो सकेगा तो उसे लेने में लोग आनाकानी करेंगे ।

सोने और चाँदी में पूर्वोक्त सातों गुण पाये जाते हैं । इससे इन्हीं धातुओं के सिक्के बनते हैं । इनके सिक्कों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में बहुत सुभीता होता है । जगह बहुत नहीं रुकती और न टूटने फूटने या घिसने ही का डर रहता है । चाँदी और सोना क़ीमती भी बहुत होते हैं; उन्हें पाने की सब को इच्छा भी होती है; देखने में भी वे अच्छे होते हैं । उन्हें चाहे जब तक रक्खो, ऐसा कभी नहीं होता कि उनकी कुछ भी क़ीमत न आवे । सोने-चाँदी के गुण में भी कभी फ़र्क़ नहीं पड़ता । जो चाँदी या जो सोना खरा है वह हमेशा खरा ही बना रहता है । यदि उनमें किसी ख़राब धातु का मेल कर दिया जाय तो आग में तपाने से फ़ौरन मालूम हो जाता है । सोने चाँदी में विभाग किये जाने की भी योग्यता है । उनके चाहे जितने टुकड़े करके सिक्के लगाओ, सब टुकड़ों की क़ीमत वही होगी जो कि टुकड़े किये जाने के पहले कुल की क़ीमत थी । इन धातुओं के सिक्कों को थोड़े ही

तजरिबे से सब लोग परख सकते हैं और खोटों को खरों से अलग कर सकते हैं। एक और बड़ा भारी गुण इनमें यह है कि इनकी क़ीमत जल्द जल्द नहीं बदलती।

हिन्दुस्तान में कुछ दिनों से चाँदी के सिक्के का सहायक एक सोने का सिक्का भी जारी किया गया है। उसका नाम है "सावरन"। सोने का एक सिक्का चाँदी के १५ रुपये की क़ीमत का होता है। बड़ी बड़ी रक़में सोने के सिक्के में, और छोटी छोटी चाँदी के सिक्के में चुकाई जा सकती हैं। चाँदी के सिक्के का सहायक ताँबे का सिक्का भी इस देश में जारी है। जो रक़में रुपये से कम हैं वे ताँबे का सिक्का, अर्थात् पैसा, देकर चुकाई जाती हैं।

किसी किसी अर्थ-शास्त्र-वेत्ता की राय है कि विनिमय-साध्य चीज़ों का मोल नापने के दो परिमाण होने चाहिए। अर्थात् देश में दो चीज़ों के सिक्के जारी होने चाहिए। परन्तु इससे बड़ी हानि होने की सम्भावना रहती है। यदि दो तरह के सिक्के बनाये जायँगे तो दो तरह की धातुओं के बनाये जायँगे। अतएव यदि एक तरह के सिक्कों की धातु किसी कारण से सस्ती हो जायगी तो उसके सिक्के लेने से लोग संकोच करेंगे। कल्पना कीजिए कि किसी देश में सोने और चाँदी दोनों के सिक्के जारी हैं और सोने का एक सिक्का चाँदी के दस सिक्कों के बराबर है। रामदत्त ने शिवदत्त से १०० सिक्के सोने के उधार लिये। एक वर्ष बाद चाँदी सस्ती हो गई। इस कारण वह १०० सिक्के सोने के न देकर १००० सिक्के चाँदी के देने चला। इस दशा में शिवदत्त यदि चाँदी के सिक्के ले लेगा तो उसकी हानि होगी। इधर रामदत्त को लाभ होगा। क्योंकि सस्ते भाव से चाँदी मोल लेकर थोड़े ही ख़र्च से सरकारी टकसाल में वह उसके सिक्के ढला लेगा। अतएव वह फ़ायदे में रहेगा। हाँ, यदि सरकार इस तरह सिक्के ढालने से इनकार करदे, जैसा कि वह इस देश में करती है, तो बात दूसरी है। परन्तु दो तरह की धातुओं के सिक्कों का होना कदापि अच्छा नहीं। यदि किसी देश में सोने और चाँदी दोनों के सिक्के क़ानूनन जारी किये जायँ और कहीं चाँदी की दो चार खानें निकल आवें तो चाँदी का भाव ज़रूर गिर जायगा। आमदनी बढ़ने से चीज़ें ज़रूरही सस्ती हो जाती हैं। सम्पत्ति-शास्त्र का यह अचल सिद्धान्त है। इस

दशा में चाँदी के सिक्के लेने में ज़रूर लोग आनाकानी करेंगे। क़ानून के डर से वे चाहे भले ही इनकार न करें। पर जी से कभी वे चाँदी न इकट्ठा करना चाहेंगे। इस तरह की अस्वाभाविक व्यवस्था बहुत दिन तक नहीं चल सकती। इससे एकही धातु का सिक्का जारी करना लाभदायक है।

आप कहेंगे कि हिन्दुस्तान में तो चाँदी और ताँबे दोनों के सिक्के जारी हैं। सो क्यों? इसका उत्तर यह है कि ताँबे का सिक्का सिर्फ़ चाँदी के सिक्के का सहायक है। अगर आपको सौ रुपये के बदले कोई उतने के पैसे देने लगे तो आप लेने से इनकार कर सकते हैं। पर चाँदी के रुपये लेने से इनकार नहीं कर सकते। सोने का सिक्का जो यहाँ कुछ दिन से चलने लगा है वह इँगलेंड का सिक्का है, यहाँ का नहीं। चाँदी के बदले सोने का सिक्का लेने में जो घाटा होता था उसी को दूर करने के लिए चाँदी के १५ सिक्कों को सोने के एक सिक्के के बराबर करके चाँदी के सिक्के का भाव स्थिर कर दिया गया है। बस इसका इतना ही मतलब है। यहाँ का सिक्का चाँदी ही का है।

चौथा परिच्छेद।

पदार्थों की क़ीमत।

वणिग्-वृत्ति का नाम वाणिज्य अर्थात् व्यापार है। व्यापार में पदार्थों का सिर्फ़ विनिमय होता है—उनका सिर्फ़ अदल-बदल होता है। एक चीज़ देकर दूसरी चीज़ लेने ही का नाम व्यापार है। इस लिए उसका विवेचन इसी भाग में होना चाहिए था। परन्तु व्यापार का विषय बड़े महत्त्व का है। इस लिए हम इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध में; एक जुदा भाग में, उसका विचार करेंगे। यहाँ पर हम सिर्फ़ व्यापार की वस्तुओं की क़ीमत पर कुछ लिखेंगे। विक्रेय वस्तुओं की क़ीमत किस तरह निश्चित होती है, सिर्फ़ इसी विषय का थोड़ा सा विवेचन करेंगे।

जब तक कोई चीज़ विनिमय-साध्य नहीं होती तब तक उसके बदले दूसरी चीज़ नहीं मिलती। दो मन गेहूँ की ज़रूरत होने से बढ़ई एक हल

बनाकर किसान के हाथ बेच देता है और गेहूँ ले लेता है। इसका कारण यही है कि बढ़ई को गेहूँ की आवश्यकता है और किसान को हल की। और ये दोनों चीज़ें ऐसी हैं कि मुफ़्त में पड़ी नहीं मिलतीं। इनकी प्रचुरता नहीं है। अतएव पदार्थों को विनिमय-साध्य बनाने के लिए दो बातें होनी चाहिए:—

आवश्यकता और अप्रचुरता।

पहली बात आवश्यकता है। पदार्थों के विनिमय-साध्य होने के लिए आवश्यकता का होना पहला गुण है। बिना आवश्यकता के आदमी कोई चीज़ नहीं लेता। जिसकी ज़रूरत ही नहीं है—जिसका कोई प्रयोजन ही नहीं है—उसे लेकर क्यों कोई अपनी चीज़ बदले में देगा? जिस चीज़ में आदमी की कोई ज़रूरत या इच्छा पूर्ण करने का गुण नहीं, उसके लिए उसकी क़ीमत भी कुछ नहीं। जब तक कोई चीज़ इस इम्तहान में "पास" न हो ले तब तक उसकी गिनती क़ीमती, क़दर रखने वाली, या विनिमय-साध्य चीज़ों में नहीं हो सकती।

दूसरी बात अप्रचुरता है। अर्थात् जो चीजें अनायास अधिक परिमाण में नहीं प्राप्त हो सकतीं उन्हीं की क़दर होती है; उन्हीं की क़ीमत आती है; वही विनिमय-साध्य होती हैं। अप्रचुरता और आवश्यकता का गुण न होने से चीज़ के बदले चीज़ नहीं मिल सकती। कल्पना कीजिए कि आपको कोई चीज़ दरकार है। परन्तु वह जितनी चाहिए उतनी बिना परिश्रम के अनायास ही मिल सकती है। इस दशा में जो चीज़ परिश्रम से मिलती है उसका बदला ऐसी चीज़ से कभी न होगा। हवा ऐसी चीज़ है कि बिना परिश्रम के मिल सकती है। उसके बदले कोई और चीज़ नहीं मिल सकती। परन्तु यही हवा यदि हमें अधिक परिमाण में दरकार हो तो पंखाकुली रखना पड़ेगा। हमको अधिक हवा पहुँचाने में उसे परिश्रम पड़ेगा। अतएव मज़दूरी देनी होगी। यही मज़दूरी उस हवा की क़ीमत होगी। अर्थात् अनायास ही प्राप्त होने योग्य हवा के बदले तो कोई चीज़ न मिलेगी, पर परिश्रम करके यदि अधिक हवा पहुँचाई जायगी तो उसके बदले मज़दूरी

मिलेगी । मतलब यह कि परिश्रम करके यदि अधिक परिमाण में कोई हवा देगा तो उसका बदला द्रव्य से हो जायगा, अन्यथा नहीं । इसका कारण यह है कि जितनी हवा पंखे से मिलती है उतनी प्रचुर परिमाण में नहीं पाई जाती ।

आदमियों की आवश्यकता पूरा करने का गुण जिस चीज़ में जितना ही अधिक होता है वह चीज़ उतनी ही अधिक क़ीमती भी होती है । हम देखते हैं कि किसी चीज़ की माँग बहुत होती है, किसी की कम । आवश्यकताओं को पूरा करने की कमी-बेशी ही इसका कारण है । अर्थात् जो चीज़ जितनी अधिक उपयोगी है—जो चीज़ आवश्यकताओं को पूरा करने की जितनी अधिक शक्ति रखती है—उसकी माँग भी उतनी ही अधिक होती है । जिन चीज़ों की ज़रूरत लोगों को अधिक होती है उन्हीं का बदला वे अधिक देते हैं । और जिनकी ज़रूरत नहीं होती उनका पहले तो वे बदला देते ही नहीं; और यदि देते भी हैं तो बहुत कम देते हैं । ऐसी चीज़ों का खप कम होता है ।

देहात में जितने तालाब हैं, सूख जाने पर, उनसे जो चाहे मिट्टी ले जाय । प्राय: उसकी कुछ भी क़ीमत नहीं देनी पड़ती । क्योंकि वहाँ उसकी कुछ भी क़दर नहीं । परन्तु वही मिट्टी यदि आसपास के गावों से गाड़ियों में भरकर कोई कानपुर ले जाता है तो वहाँ वह बिक जाती है । उसकी क़ीमत आती है । देहात में ऐसी मिट्टी की क़दर इसलिए नहीं है, क्योंकि वहाँ वह प्रचुर परिमाण में पाई जाती है; उसे दूर से नहीं लाना पड़ता । पर जो लोग शहर में रहते हैं उन्हें प्रचुर परिमाण में पड़ी हुई मिट्टी नहीं मिलती । उसे यदि वे प्राप्त करना चाहें तो दूर जाना पड़े और वहाँ से गाड़ियों में लाना पड़े । ऐसा करने से उन्हें गाड़ियों का किराया और मज़दूरों को मज़दूरी देनी पड़े । इसीसे यदि बाहर से मिट्टी कानपुर आती है तो लोग उसकी क़दर करते हैं और ख़ुशी से क़ीमत देकर मोल लेते हैं । जिस मिट्टी की देहात में कुछ भी क़ीमत नहीं आती वही शहर में क़ीमती हो जाती है । अतएव एक ही चीज़ कहीं क़ीमती समझी जाती है, कहीं नहीं समझी जाती । जो आदमी मिट्टी बेचता है वह उसे क़ीमती समझ कर ही गाड़ी में

लाद कर, या सिर पर रख कर, शहर में बेचने ले जाता है। वह देखता है कि इसकी कटती कहाँ है— इसका खप कहाँ है। जहाँ लोगों को उसकी ज़रूरत होती है वहीं ले जाता है। अर्थात् दुष्प्राप्य या अप्रचुर परिमाण में होने से उसे प्राप्त करने में जहाँ मेहनत पड़ती है वहीं वह क़ीमती समझी जाती है और वहीं उसकी कटती होती है। इसी कटती के तारतम्य के अनुसार कहीं दो आने, कहीं चार आने, कहीं आठ आने और कहीं बारह आने फ़ी गाड़ी मिट्टी बिकती है। जहाँ चार आने देने से एक गाड़ी मिट्टी मिलती है वहाँ यदि उसकी क़ीमत दो ही आने कर दी जाय तो ज़रूर कटती बढ़ेगी। क्योंकि ज़रूरत की चीज़ों की क़ीमत कम होने से ही लोग उन्हें अधिक ख़रीदते हैं।

संग्रह और खप।

खप की अपेक्षा माल कम होने से लेने वाले चढ़ा-ऊपरी करने लगते हैं। चीज़ थोड़ी और ख़रीदार अधिक होने से ऐसा होना ही चाहिए। क्योंकि जो चीज़ जिसे दरकार होती है वह यही चाहता है कि औरों को मिले चाहे न मिले, मुझे मिल जाय। इस चढ़ा-ऊपरी के कारण माल की क़ीमत चढ़ जाती है—उसका भाव महँगा हो जाता है। परन्तु सब बातों की सीमा होती है। कल्पना कीजिए कि किसी साल अनाज कम पैदा हुआ। इससे बाज़ार में बेचने के लिए उसकी आमदनी भी कम हुई। अनाज ऐसी चीज़ है कि चाहिए सब को। उसके बिना किसी तरह काम नहीं चल सकता। अतएव खप अधिक होने से उसका भाव चढ़ने लगा। चढ़ते चढ़ते बहुत महँगा हो गया। यहाँ तक कि रुपये का ५ सेर गेहूँ बिकने लगा। पर इसके पहले ही ग़रीब आदमी लोटा-थाली, वस्त्र-आभूषण, बेच कर भूखों मरने लगेंगे। अतएव वे रुपये का ५ सेर गेहूँ या ६ सेर मकई न ले सकेंगे। फल यह होगा कि ख़रीदार कम हो जायँगे। जो लोग रुपये का ५ या ६ सेर अनाज ले सकेंगे वही लेंगे। इससे अनाज का भाव थम जायगा। अर्थात् संग्रह और खप का समीकरण हो जायगा।

पुराने ज़माने में जब अन्न बहुत महँगा हो जाता था और लोग भूखों

मरने लगते थे तब राजा अन्न की रफ़तनी बन्द कर देता था। वह हुक्म दे देता था कि देश से बाहर अन्न न जाय। अथवा यदि वह ऐसा न करता था तो विदेश जाने वाले अन्न पर इतना अधिक कर लगा देता था कि बाहर भेजने से अन्न के व्यापारियों को नुकसान होता था। इससे अन्न की रफ़तनी बन्द हो जाती थी। और रफ़तनी का बन्द होना ही मानों उसका खप कम हो जाना है। इस दशा में खप कम होने, अर्थात् अनाज मोल लेकर बाहर भेजने वाले व्यापारियों की संख्या घट जाने, से फिर अनाज का भाव गिर जाता था। गिरते गिरते खप और संग्रह का समीकरण हो जाता था। अर्थात् जितना संग्रह उतना ही खप हो जाने से अनाज की क़ीमत स्थिर हो जाती थी। पर आज कल का ज़माना ठहरा अँगरेज़ी। इस देश वाले चाहे भूखों मर जायँ, विदेश माल भेजना बन्द नहीं होता। क्योंकि हमारी सरकार ने निर्बन्ध रहित व्यापार जारी कर रक्खा है। अनाज का भाव महँगे से महँगा हो जाने पर भी वह दस्तंदाज़ी नहीं करती। इससे जहाज़ या रेल के द्वारा और देशों या प्रान्तों से अन्न आये, या नया पैदा हुए, बिना उसका भाव नहीं गिरता। पर इनमें से एक भी कारण उपस्थित होने से वह ज़रूर गिर जाता है।

इसी तरह आमदनी और खप के अनुसार सब चीज़ों का भाव चढ़ा उतरा करता है। खप की अपेक्षा आमदनी अधिक होने से वह गिरता है और कम होने से बढ़ता है। खप और आमदनी का समीकरण अर्थात् समत्व होने ही से प्रायः सब चीज़ों की क़ीमत निश्चित होती है। जब किसी चीज़ की क़ीमत चढ़ जाती है तब खप के अनुसार ही चढ़ती है और जब कम हो जाती है तब भी खप के अनुसार ही कम होती है। कल रुपये का दस सेर गेहूँ बिकता था; पर आज नौ सेरही रह गया। तो आज की यह तेज़ी आज के खप के अनुसार हुई। अब यदि कल ग्यारह सेर हो जाय तो यह मन्दी कल की खप के अनुसार होगी। मतलब यह कि पदार्थों की क़ीमत हमेशा आमदनी और खप के ही तारतम्य पर अवलम्बित रहती है।

अच्छा इस माँग या खप का मतलब क्या है? इसका मतलब किसी चीज़ के उस निश्चित परिमाण या वज़न से है जो किसी निश्चित क़ीमत

पर मोल लिया जाय। पर, हाँ, उस क़ीमत को देने की शक्ति मोल लेनेवाला रखता हो। अर्थात् उस निश्चित परिमाण को मोल लेने के लिए उसके पास काफ़ी रुपया हो। इस लक्षण में "निश्चित क़ीमत" ये दो शब्द याद रखने लायक़ हैं। क्योंकि यदि क़ीमत में कमी-बेशी होगी तो बेची जाने वाली चीज़ के परिमाण में भी कमी-बेशी पैदा हो जायगी। क़ीमत कम होने से माँग बढ़ती है और अधिक होने से कम हो जाती है।

इसी तरह आमदनी या संग्रह से मतलब किसी चीज़ के किसी निश्चित परिमाण या वज़न से है जो किसी निश्चित क़ीमत पर बेच दी जाने के लिए प्रस्तुत हो। ऐसी चीज़ की क़ीमत अधिक मिलने से उसका परिमाण बढ़ता है और कम मिलने से घटता है। जब किसी चीज़ की क़ीमत अधिक आती है तब व्यापारी उस चीज़ की आमदनी को बढ़ाते हैं। नये नये व्यापारी उसका व्यापार शुरू कर देते हैं और बाज़ार को उस चीज़ से पाट देते हैं। विपरीत इसके क़ीमत कम मिलने से उसकी आमदनी कम हो जाती है। आमदनी और संग्रह में कुछ थोड़ा सा फ़र्क़ है। संग्रह किसी चीज़ के समग्र समूह का नाम है और आमदनी उसके उस अंश का जो बाज़ार में बेचने के लिए आवे। अतएव आमदनी से संग्रह अधिक हो सकता है।

संग्रह और खप के लक्षणों में पारस्परिक विरोध है। अर्थात् एक का लक्षण दूसरे के लक्षण का बिलकुल ही उलटा है। परन्तु संग्रह और खप में समता का होना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि यदि समता न होगी—यदि दोनों का समीकरण न होगा—तो चीज़ों का बदला करने में बड़ी कठिनता होगी और क़ीमत का निश्चय न हो सकेगा। अतएव संग्रह और खप, परस्पर एक दूसरे के झोंके खा खा कर, आपही आप समीकरण पैदा कर देते हैं और चीज़ों की क़ीमत निश्चित हो जाती है। इसका एक उदाहरण लीजिए।

कल्पना कीजिए कि एक गाँव में पाँच सौ आदमी रहते हैं। उनके घर फूस के हैं। बरसात सिर पर है। सबको अपना अपना घर छाना है। हर आदमी को एक एक गाड़ी फूस दरकार है। उसके लिए सब लोग दो दो मन अनाज देने को तैयार हैं। इस हिसाब से ५०० गाड़ी फूस की ज़रूरत है, जिनकी क़ीमत फ़ी गाड़ी दो मन अनाज हो। इस क़ीमत पर ५०० गाड़ी

फूस मिल भी सकता है और नहीं भी मिल सकता। इस क़ीमत पर फूस बेचने की अपेक्षा कुछ आदमी शायद कंकड़ या लकड़ी बेचना अधिक लाभदायक समझें। अतएव फूस की क़ीमत यदि बढ़ाई न जायगी तो शायद एक भी गाड़ी फूस बिकने के लिए न आवे, और यदि आवे भी तो बहुत कम। यदि दस पाँच गाड़ी फूस आवेगा तो इन ५०० आदमियों के बीच बँट जायगा। परन्तु यदि कुछ आदमी अधिक क़ीमत देने पर राज़ी होंगे तो फूस की आमदनी बढ़ेगी; क्योंकि उस दशा में फूस बेचनेवाले शायद कंकड़ खोदना या लकड़ी लाना अधिक लाभदायक न समझेंगे। यदि कंकड़, लकड़ी या और कोई व्यवसाय करने का सुभीता न होगा और फूस ज़ियादह मिलेगा तो जब तक उसकी माँग में भी उतनी ही ज़ियादती न होगी तब तक सारे फूस बेचने वाले आपस में चढ़ा-ऊपरी करके उसकी क़ीमत घटाते जायँगे। सब फूस ही का रोज़गार करने लगेंगे और हर आदमी यही चाहेगा कि मेरा फूस बिक जाय। यह संग्रह और खप के तारतम्य की बात हुई।

अब यह देखना है कि संग्रह और खप का समीकरण किस तरह होता है; दोनों बराबर कैसे हो जाते हैं। यह चढ़ा-ऊपरी के प्रभाव से होता है। मुक़ाबले के असर से ही खप और संग्रह में समता या समीकरण पैदा होता है। बेचने वाला चाहता है कि थोड़ी चीज़ देकर ज़ियादह क़ीमत लूँ। मोल लेने वाला चाहता है कि क़ीमत तो थोड़ी देनी पड़े, पर चीज़ ज़ियादह मिले। फल यह होता है कि दोनों के बीच आकर्षण और अपकर्षण शक्तियों का संघर्ष शुरू हो जाता है। उनमें तुल्यबलत्व आते ही सौदा पट जाता है। ऊपर लिखा गया है कि कारण-विशेष से बहुत लोग फूस ही का रोज़गार करने लगेंगे। फल यह होगा कि फूस बहुत आवेगा। कल्पना कीजिए कि फूस की एक हज़ार गाड़ियों का संग्रह है। पर दरकार हैं सिर्फ़ पाँच सौ गाड़ियाँ। अब यदि फ़ी गाड़ी दो मन अनाज दिया जाय तो खप और संग्रह में समीकरण न होगा; क्योंकि जितनी गाड़ियाँ दरकार हैं उससे दूनी बिकने को हैं। इस समय यदि क़ीमत कुछ कम हो जाय तो फूसवाले परता लगायेंगे कि इतनी थोड़ी क़ीमत लेकर वे फूस बेच सकते हैं या नहीं। यदि अधिक फ़ायदे का और कोई काम उन्हें मिल गया तो उनमें से बहुतेरे वही काम करने

लगेंगे। अब कल्पना कीजिए कि एक हज़ार की जगह सिर्फ़ ९०० गाड़ियों का संग्रह रह गया। अर्थात् माँग ५ और संग्रह ६ हुए। इसी तरह ये दोनों एक दूसरे के पास पास पहुँचने की कोशिश करेंगे। अन्त में दोनों का समीकरण होते ही फूस की क़ीमत निश्चित हो जायगी। सम्भव है कुछ फूस लेने वाले अपने खेतों में भी एक एक छोटा सा फूस का बँगला बनाने के लिए कुछ अधिक फूस लेने पर राज़ी हो जायँ—अर्थात् ९०० गाड़ियों की माँग हो जाय। ऐसा होने से, सम्भव है, सौदा पट जाय और फूस की क़ीमत ठहर जाय। किस तरह, सो भी सुनिए।

यदि कोई आदमी फ़ी गाड़ी ढाई मन अनाज के हिसाब से २५ गाड़ियाँ लेने को तैयार हो, और कोई फूस बेचने वाला इससे कम क़ीमत पर फूस इकट्ठा करने पर राज़ी न हो, तो यही क़ीमत फूस की निश्चित हो जायगी। यदि इस २५ गाड़ी फूस लेनेवाले को फ़ी गाड़ी सवा दो मन अनाज के हिसाब से फूस मिले, तो शायद वह २५ की जगह तीस गाड़ी ख़रीद ले। यदि ऐसा हो तो फ़ी गाड़ी सवा दो मन ही फूस की क़ीमत ठहर जायगी। पर हाँ ख़र्च का हिसाब करना होगा। एक गाड़ी फूस इकट्ठा करके बाज़ार में लाने तक जो ख़र्च पड़ा होगा उससे यह सवा दो मन अनाज यदि कम होगा तो सौदा न पटेगा। अर्थात् खप और संग्रह का समीकरण होने में, उत्पादन-व्यय, अर्थात् उत्पत्ति के ख़र्च, का भी असर पड़ता है।

उत्पादन-व्यय।

किसी चीज़ की उत्पत्ति का आरम्भ होने से लेकर, तैयार होने के बाद, उसके बिकने तक, जितना ख़र्च पड़ता है उसका नाम उत्पादन-व्यय है। इसमें मज़दूरों की मज़दूरी, कल-औज़ार आदि की क़ीमत, निगरानी और ज़िम्मेदारी आदि का ख़र्च, और महाजन के रुपये या अपनी पूँजी का ब्याज शामिल समझना चाहिए। कल्पना कीजिए कि आपको गेहूँ पैदा करना है। तो खेत जोतना, बीज बोना, सींचना, निकाना, निगरानी करना, काटना, माँडना और गेहूँ तैयार होने पर उसे लाकर बाज़ार में बेचना—इन सब बातों में जो ख़र्च पड़ेगा उसकी गिनती उत्पादन-व्यय में होगी। बिना मेह-

नत के ये काम नहीं हो सकते और मेहनत करने वालों को मज़दूरी देनी पड़ती है । अतएव मज़दूरी की मद में जो ख़र्च पड़ेगा वह उत्पादन-व्यय समझा जायगा। इसके सिवा हल, बैल और चरसे मोल लेने, कुवाँ खोदने, खलिहान में रात को रहने के लिए छप्पर डालने में भी ख़र्च पड़ेगा। यही नहीं, किन्तु गेहूँ तैयार होने तक, मेहनत के दिनों में खाने पीने में जो ख़र्च होगा, वह भी उत्पादन-व्यय ही गिना जायगा। विचार करने से मालूम होगा कि इस ख़र्च के दो विभाग हो सकते हैं। एक मज़दूरी दूसरी पूँजी। पूँजी पर जो मुनाफ़ा या ब्याज देना पड़ता है वह और मज़दूरी, इन दोनों का समावेश उत्पादन-व्यय में होता है। पदार्थों की क़ीमत इन बातों का ख़याल रख कर निश्चित होती है।

चीज़ों के खप और उनकी आमदनी या संग्रह में कमी-बेशी होने से क़ीमत में फ़र्क़ ज़रूर पड़ जाता है। इस दशा में कभी भाव चढ़ जाता है, कभी उतर जाता है। पर उत्पादन-व्यय का असर भी भाव पर ज़रूर पड़ता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि मामूली तौर पर उसी के आधार पर चीज़ों की क़ीमत का निश्चय होता है। खप अधिक और आमदनी कम होने से मुनाफ़ा अधिक होता है। पर यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रहती। क्योंकि जिस चीज़ का खप अधिक होता है वह अधिक तैयार होने लगती है। आमदनी अधिक होते ही बाज़ार भाव गिर जाता है। गिरते गिरते वह यहाँ तक पहुँच जाता है कि मज़दूरी और मुनाफ़े से अधिक व्यापारी को और कुछ नहीं मिलता। अर्थात् उत्पादन-व्यय के बराबर क़ीमत आ जाती है। यदि खप इतना कम हो गया कि उससे सब ख़र्च न निकला तो उस चीज़ का बनाना ही बन्द हो जायगा और बन्द न होगा तो कम ज़रूर ही हो जायगा। आमदनी कम होने से खप फिर बढ़ेगा और फिर क़ीमत चढ़ने लगेगी। अन्त में फिर क़ीमत ख़र्च के बराबर आजायगी। इससे यह सिद्धान्त निकला कि आमदनी और खप में कमी-बेशी होने से, जैसा कि पहले लिख आये हैं, क़ीमत में भी कमी-बेशी ज़रूर होती है। पर यह कमी-बेशी हमेशा एक सी नहीं रहती। एक निश्चित मर्य्यादा के कभी वह इस तरफ़ हो जाती है, कभी उस तरफ़। इसी मर्य्यादा का दूसरा नाम उत्पादन-व्यय है।

कल्पना कीजिए कि किसी जुलाहे ने एक जोड़ी रेशमी डुपट्टा तैयार किया। तीन रुपये का उसमें रेशम लगा और ६ दिन में उसने उसे तैयार कर पाया। यदि आठ आने रोज़ उसकी मज़दूरी रक्खी जाय ते। तीन रुपये मज़दूरी के हुए। जिन तीन रुपयों का उसने रेशम लिया है, और जो तीन रुपये उसने खाये हैं, उनका ब्याज और दूसरे ख़र्चे जोड़ कर कुल एक रुपया और हुआ। अतएव, सब मिलाकर, एक जोड़ी डुपट्टे में सात रुपये उत्पादन-व्यय लगा। जुलाहा उसे बाज़ार में बेचने गया ते। एक ने ५ रुपये लगाये, दूसरे ने ६, तीसरे ने ७। इस तरह चार ग्राहकों में से तीन ते। निकल गये। चौथा रह गया। उसने साढ़े-सात रुपये लगा दिये। एक जोड़ी डुपट्टा और एक ही ग्राहक। खप और संग्रह बराबर हो गया। जुलाहे ने देखा कि मेरा ख़र्च भी निकला आता है और आठ आने मुनाफ़े के भी मिलते हैं। चलो, सौदा पट गया। उसने डुपट्टे बेच दिये। इस सौदे में उत्पादन-व्यय से आठ आने अधिक क़ीमत मिली। अब यदि जुलाहे को रुपये की ज़रूरत होती और साढ़े सात रुपये लगाने वाला कोई न मिलता ते। सात ही को वह बेच देता। या संभव है आने दो आने कम भी लेलेता। पर अधिक नहीं। अधिक घाटा होने लगेगा ते। शायद वह डुपट्टा बनाना ही बन्द कर देगा। यह इस बात का उदाहरण हुआ कि पदार्थों की क़ीमत हमेशा उत्पादन-व्यय के थोड़ा इधर या उधर हुआ करती है।

निर्बन्धरहित वाणिज्य के कारण लाभ की मात्रा व्यापारियों को बहुतही कम रह गई है। व्यापार में इतनी चढ़ा-ऊपरी बढ़ गई है जिसका ठौर ठिकाना नहीं। स्वदेशी चीज़ों का व्यापार करने वालों की दशा ते। और भी ख़राब है। जिस जुलाहे का उदाहरण ऊपर दिया गया है उसके साथ उसके ही देश के जुलाहे चढ़ा-ऊपरी नहीं करते, किन्तु दूसरे देशों के भी करते हैं। व्यापार में किसी तरह की रोक टोक न होने के कारण विदेश से अपरिमित माल यहाँ आता है। इससे माल का संग्रह और आमदनी अधिक हो जाती है और भाव गिर जाता है। लोगों को हानि होने लगती है। हानि होने से कौन बहुत दिन तक हानिकारी व्यवसाय कर सकेगा? फल यह हुआ है कि देश का व्यापार कम होता जाता है; क्योंकि यहाँ के माल की तैयारी में जो

ख़र्च पड़ता है वही नहीं निकलता, लाभ तो दूर रहा। बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं जो विदेश में कलों से बनाई जाती हैं; यहां हाथ से। कलों से बनी हुई चीज़ों पर हाथ से बनी हुई चीज़ों की अपेक्षा ख़र्च कम बैठता है। इससे इस देश वाले विदेशी व्यापारियों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। ख़ैर विदेशी लोगों की चढ़ा-ऊपरी की बात जाने दीजिए, स्वदेशी व्यापारियों में भी तो चढ़ा-ऊपरी होती है। एक को कोई व्यवसाय करते देख दूसरा भी वही व्यवसाय करने लगता है। इससे लाभ का परिमाण कम हुए बिना नहीं रहता। इस प्रतियोगिता—इस चढ़ा-ऊपरी—के ज़माने में ख़र्च बाद देकर थोड़ा सा लाभ हो जाना ही ग़नीमत है। अतएव पदार्थों की क़ीमत ख़र्च और थोड़े से लाभ के ही ऊपर अवलम्बित रहती है।

जिस चीज़ की तैयारी में जो ख़र्च पड़ता है वह, और थोड़ा सा मुनाफ़ा, इन्हीं दो के जोड़ का नाम असल क़ीमत है। संग्रह कम, खप अधिक और संग्रह अधिक, खप कम होने से पदार्थों की क़ीमत में जो अचिरस्थायी कमी-बेशी होती है वह बाज़ार दर है।

सीमाबद्ध संग्रह।

संसार में कुछ चीज़ें ऐसी भी हैं जिनका परिमाण या संख्या नहीं बढ़ाई जा सकती—जितनी है उतनी ही रहती है। उदाहरण के लिए—किसी पुराने चित्रकार का चित्र, पुराने मूर्तिकार की बनाई हुई मूर्ति, पुराने सिक्के आदि। ऐसी चीज़ों की क़ीमत पर ख़र्च के तारतम्य का बहुत ही कम असर पड़ता है, अथवा यों कहिए कि बिलकुल ही नहीं पड़ता। उनकी क़ीमत संग्रह और खप के समीकरण से ही निश्चित हो जाती है। कल्पना कीजिए कि किसी के पास महाराना प्रतापसिंह का एक नायाब चित्र है। उसके बनाने में जो ख़र्च पड़ा होगा उसका विचार बेचने के समय न किया जायगा। ख़र्च चाहे जितना कम पड़ा हो, यदि ग्राहक बहुत होंगे तो क़ीमत चढ़ती जायगी। चढ़ते चढ़ते जब एक ही ग्राहक रह जायगा तब क़ीमत ठहर जायगी। क्योंकि सब ग्राहक एक ही क़ीमत तो देंगे नहीं। जिसको उसे लेने की सबसे अधिक इच्छा होगी, और उसके पास उतना रुपया भी होगा, वही सबसे

बढ़कर क़ीमत लगावेगा। चित्र एक है। अतएव चढ़ा-ऊपरी करते करते जब ग्राहक भी एक ही रह जायगा तब खप और संग्रह का समीकरण हो जायगा और क़ीमत निश्चित होकर चित्र बिक जायगा। तात्पर्य्य यह कि इस सौदे में उत्पादन-व्यय का क़ीमत पर कुछ भी असर न पड़ेगा। केवल संग्रह और खप के समीकरण से ही क़ीमत निश्चित होगी।

पुराने चित्र और सिक्के आदि ऐसे पदार्थ हैं जिनका संग्रह चिरस्थायी रीति से सीमाबद्ध होता है। अर्थात् उनका संग्रह कभी बढ़ता ही नहीं। उनके सिवा बहुत सी चीज़ें संसार में ऐसी भी हैं जिनका संग्रह सीमाबद्ध तो होता है, पर हमेशा के लिए नहीं। कुछ समय तक तो वह जितना है उतना ही रहता है। उसके बाद वह बढ़ भी सकता है। खेत और खानि से पैदा होने वाली चीज़ें इसी तरह की हैं। गेहूँ की एक फ़सल कट जाने के बाद उसका जितना संग्रह होता है, दूसरी फ़सल होने तक बढ़ नहीं सकता। यदि पृथ्वी में अनाज कम पैदा हो, अतएव उसकी माँग बहुत अधिक हो जाय, तो भी, चाहे कोई जितना रुपया ख़र्च करना चाहे, नया अनाज होने तक, उसकी आमदनी नहीं बढ़ सकती। कल्पना कीजिए कि दुनिया भर में एक करोड़ मन गेहूँ होता है। परन्तु किसी देश में समय पर पानी न बरसने से उसकी फ़सल मारी गई और सब कहीं मिलाकर केवल ७० लाख मन गेहूँ हुआ। इस दशा में गेहूँ की दूसरी फ़सल कटने तक इससे अधिक उसका संग्रह न हो सकेगा। परन्तु हर आदमी और हर देश मामूली तौर पर गेहूँ की पैदावार बढ़ा सकता है। हाँ ख़र्च उसे ज़्यादह करना पड़ेगा। याद रखिए हम अवर्षण की बात नहीं कहते। हम परती ज़मीन में गेहूँ बोकर, और जो ज़मीन जोती जाती है उसे खाद आदि से उर्वरा बनाकर, पैदावार बढ़ाने की बात कह रहे हैं। इन तरकीबों से पैदावार बढ़ जायगी ज़रूर, पर ख़र्च करना पड़ेगा। जितना ही अधिक ख़र्च किया जायगा उतना ही अधिक गेहूँ पैदा होगा और उतना ही अधिक उसका संग्रह भी बढ़ेगा। इस ख़र्च का असर गेहूँ की क़ीमत पर ज़रूर पड़ेगा।

खानि से जो चीज़ें निकलती हैं उनका भी यही हाल है। जितना ही अधिक ख़र्च उनके निकालने में किया जायगा उतनी ही अधिक वे निकलेंगी

और उतना ही अधिक उनका संग्रह भी बढ़ेगा। इन चीज़ों का भी संग्रह सीमाबद्ध होता है। जब तक कोई नई खान नहीं निकलती तब तक इनका संग्रह पूर्ववत् ही रहता है।

हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है। अतएव अधिक ख़र्च करके खेती की पैदावार बढ़ाने के विषय में इस देश की बातों का विचार करना ज़रूरी है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रभुता के पहले, और उसके कुछ समय बाद तक भी, इस देश में उद्योग-धन्धे की बड़ी अधिकता थी। प्रायः सब तरह का माल तैयार होता था और देश-देशान्तरों को जाता था। पर कम्पनी ने अपनी शासन-शक्ति के बल से युक्तिपूर्वक उसका सर्वनाश कर दिया। यहाँ के कला-कौशल और व्यापार-वाणिज्य की तरफ़ गवर्नमेंट का भी यथेष्ट ध्यान नहीं। इससे देश का निर्वाह अब प्रायः एक मात्र खेती की पैदावार पर रह गया है। सैकड़ों वर्ष से यह हाल है। खेती ही से लोगों की जीविका चलती है। इस कारण अच्छी ज़मीन बहुत कम पड़ी रह गई है। सब जुत गई है। उधर आबादी भी बढ़ रही है। खाने के लिए अन्न चाहिए सब को। अतएव या तो पड़ी हुई अनुर्वरा—बुरी—ज़मीन जोती बोई जाय, या निःसत्व हुई पुरानी ज़मीन खाद इत्यादिक डालकर अच्छी बनाई जाय। ख़र्च दोनों बातों में ज़रूर बढ़ेगा। बिना ख़र्च आमदनी न बढ़ेगी। परन्तु जिस परिमाण में ख़र्च बढ़ेगा उस परिमाण में आमदनी न बढ़ेगी। जिस खेत में ५ रुपये की खाद डाली जायगी उसमें उतनी खाद के दाम, और डालने की मज़दूरी, के बराबर आमदनी न बढ़ेगी। इधर खाने वाले भी ज़ियादह। फल यह होगा कि अनाज महँगा हो जायगा। इसपर भी यदि अनाज देशान्तर को रवाना होगा तो उसका "स्टाक"—उसका संग्रह—और भी कम हो जायगा। आज कल हिन्दुस्तान में यही हो रहा है। इसी से अनाज दिनों दिन महँगा होता जाता है। परती ज़मीन जोतने से ख़र्च बढ़ता है, और ख़र्च बढ़ने से अनाज महँगा होता है।

कोई शायद यह समझे कि अनाज महँगा होने से किसानों को मुनाफ़ा होता होगा। यह भ्रम है। ज़मीन का लगान कितना देना पड़ता है, इसका स्मरण होते ही विचारवान् आदमियों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर, जहाँ

इस्तमरारी बन्दोबस्त है वहाँ छोड़कर, और प्रान्तों में कहीं दश वर्ष बाद, कहीं बीस वर्ष बाद, कहीं तीस वर्ष बाद नया बन्दोबस्त होता है और लगान बढ़ जाता है। इससे बेचारे किसानों को और भी आफ़तों का सामना करना पड़ता है—उनकी आमदनी और भी कम हो जाती है। अनाज पैदा करने में जो ख़र्च पड़ता है उसके बोझ से वे बिलकुल ही दब जाते हैं। मुनाफ़ा क्या उनको होगा ख़ाक। मुनाफ़ा होता तो क्या वे भूखों मरते ?

अनाज महँगा होने से किसानों ही पर आफ़त नहीं आती; किन्तु मेहनत मज़दूरी करने वाले और लोगों पर भी आती है। यही नहीं, सभी लोगों पर उसका असर पड़ता है। क्योंकि एक तो यह देश कृषि-प्रधान ठहरा, दूसरे अनाज एक ऐसी चीज़ है कि राजा-प्रजा सब की प्राण-रक्षा उसीसे होती है। उसकी जब यह दशा है तब पूँजी का बढ़ना एक प्रकार असम्भव है। क्योंकि खेती से कुछ लाभ होता नहीं और दूसरे उद्यम—रोज़गार—लोग करते नहीं। कहीं सौ दो सौ आदमियों में एक आध ने किया भी तो वह करना नहीं कहलाता। फिर पूँजी कैसे बढ़ सकती है ? यदि किसी की इच्छा हुई भी कि वह कोई उद्यम-धन्धा करे तो पूँजी के बिना उसकी इच्छा मन की मन ही में रह जाती है। अतएव इस देश की दशा यदि निकृष्ट हो जाय तो क्या आश्चर्य्य ! ख़ैर लिखने का मतलब यह कि ख़र्च बढ़ाने से कुछ चीज़ों की आमदनी बढ़ती ज़रूर है; पर अवस्था-विशेष में आमदनी के हिसाब से ख़र्च अधिक पड़ता है। इससे चीज़ों की क़ीमत बढ़ जाती है और परिणाम भयंकर होते हैं।

चित्र इत्यादि चीज़ें ऐसी हैं जिनका संग्रह हमेशा के लिए सीमाबद्ध रहता है। पर अनाज और खानि से निकलने वाली चीज़ों का संग्रह वैसा नहीं। वह सीमाबद्ध तो होता है, पर कुछ काल बाद बढ़ाया भी जा सकता है। इन बातों का विचार यहाँ तक हुआ। साथही यह भी दिखलाया गया कि संग्रह की सीमाबद्धता तथा और और कारणों से इन चीज़ों की क़ीमत पर क्या असर पड़ता है। यह सीमाबद्धता स्वाभाविक है। पर कारण-विशेष से कृत्रिम अर्थात् अस्वाभाविक कारणों से भी पदार्थों का संग्रह सीमाबद्ध हो जाता है। यदि कोई किसी चीज़ के व्यापार या व्यवसाय

को पूरे तौर पर अपने ही अधिकार में करले तो वह उस चीज़ के संग्रह को इच्छानुसार सीमाबद्ध कर सकता है। इस तरह के अधिकार का नाम इजारा या एकाधिकार है। इस देश में नमक और अफ़ीम का कारोबार इसी तरह का है। इसे गवर्नमेंट ने अपने ही हाथ में रक्खा है। उसने इन चीज़ों का इजारा लेलिया है। उसे छोड़कर और कोई इन चीज़ों का व्यवसाय नहीं कर सकता। गवर्नमेंट दो चार वर्ष के खप का अन्दाज़ लगाकर इन चीज़ों के संग्रह को सीमाबद्ध कर देती है और उनकी मनमानी क़ीमत लेती है। वह उतना ही संग्रह करती है जितना कि वह समझती है खप होगा। अर्थात् इन चीज़ों की भी कटती या आमदनी खप के ही अनुसार होती है।

मनुष्य की इच्छा और अभाव को पूरा करने ही के लिए सब चीज़ों की ज़रूरत होती है। यदि मनुष्य किसी चीज़ की इच्छा न करे, अथवा किसी चीज़ के अभाव को कोई और चीज़ प्राप्त करके पूरा करले, तो उस चीज़ का संग्रह सीमाबद्ध हो जायगा। इस सीमाबद्धता का भी कारण कृत्रिम, अर्थात् अस्वाभाविक, है। कुछ दिनों से इस देश में जो स्वदेशी और "बायकाट" की धूम मची है वह इसी तरह के कारण का फल है। लोगों ने ठान ली है कि विलायती कपड़ा, शक्कर और खिलौने आदि न लेंगे। उनके बदले स्वदेशी चीज़ें लेंगे। इससे इन विदेशी चीज़ों का संग्रह विलायत में सीमाबद्ध हो गया है। यह बात यद्यपि इस देश के लिए नई है, तथापि और देशों के लिए नहीं। एक समय था जब इँगलेंड वालों ने हिन्दुस्तान के कपड़े की आमदनी इस "बायकाट" अर्थात् विदेशी-बहिष्कार द्वारा बन्द कर दी थी। १७६५ ईसवी में अमेरिका वालों ने इँगलेंड की चीज़ों का व्यवहार बन्द कर दिया था। आज कल चीन वाले अमेरिका की चीज़ों का बहिष्कार कर रहे हैं। और सब बातें यथास्थित होने पर बहिष्कार से बड़े लाभ होते हैं। विदेशी चीज़ें देशी चीज़ों के साथ चढ़ा-ऊपरी नहीं कर सकतीं। इससे जिन चीज़ों का बहिष्कार होता है उनकी क़ीमत कम हो जाती है और उनके व्यवसायियों को बेहद हानि उठानी पड़ती है। जिस देश वाले विदेशी चीज़ों का वर्ज्जन करते हैं उस देश का व्यवसाय-वाणिज्य बहुत जल्द उन्नत हो उठता है। नये नये कारख़ाने खुल जाते हैं। नये नये व्यवसाय होने लगते

हैं। पूँजी बढ़ जाती है। स्वदेश-प्रेम जग उठता है। यह हो चुकने पर यदि वर्ज्जन बन्द भी कर दिया जाय तो कुछ हानि नहीं होती। क्योंकि कोई भी व्यवसाय यदि एक बार उन्नत हो गया तो अबाध-वाणिज्य के पुनरुत्थान से फिर वह पहले की तरह नहीं दब सकता। वर्जनीय वस्तुओं में यदि मादक और विलास के पदार्थ भी हुए तो वर्जनकारी देश की विलासिता और मादकप्रियता भी बहुत कम हो जाती है। विदेशी-वर्जन से यह भी एक बहुत बड़ा लाभ है।

कुछ चीज़ें ऐसी हैं जिनका संग्रह लाचार होकर सीमाबद्ध करना पड़ता है। कलों से जो चीज़ें बनाई जाती हैं उनके बनाने में दिन की अपेक्षा रात को यदि अधिक ख़र्च पड़े, और माल की बिक्री से उस ख़र्च के निकल आने की गुंजायश न हो, तो उनके संग्रह को सीमाबद्ध करना पड़ेगा। हाँ, यदि खप अधिक होने लगे, अतएव मूल्य भी यदि इतना बढ़ जाय कि रात को काम करने से भी माल की बिक्री से ख़र्च निकल आवे, तो संग्रह सीमाबद्ध न होकर फिर खप के बराबर हो जायगा।

इस देश में जिस साल अनाज अधिक पैदा होता है उस साल किसानों को चाहिए कि, यदि उनकी दशा अच्छी हो, अर्थात् यदि सारा अनाज बेच दिये बिना उनका काम चल सके तो, खप या कटती के अनुसार ही वे अनाज बेचें। यदि वे ऐसा करेंगे, और खप का ख़ूब ख़याल रख कर बाज़ार में अनाज की आमदनी करेंगे, तो भाव न गिरेगा। आमदनी और खप बराबर होने से भाव भी पूर्ववत् बना रहेगा। अनाज अधिक पैदा होने से भी उसकी आमदनी सीमाबद्ध कर देने से उसका भाव बहुत कुछ एक सा रक्खा जा सकता है। ऐसा करने से आगे, कुछ दिन बाद, या अगले साल, अनाज का भाव ज़रूर चढ़ता है। उस समय बचे हुए संग्रह को बेच कर किसान लोग बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। पर यहाँ के किसान इतने ग़रीब हैं और उन्हें इतना लगान देना पड़ता है कि लाचार होकर अपने खेतों की पैदावार एक-दम उन्हें बेच देनी पड़ती है। इससे माल की आमदनी बढ़ जाती है और भाव गिर जाता है। महाजन और व्यापारी सस्ते भाव पर अनाज ख़रीद लेते हैं और उसका संग्रह करके ख़ूब लाभ उठाते हैं। वे खप और आमदनी का

समीकरण करते रहते हैं। इससे कोई कारण विशेष उपस्थित न होने से उनके मारे अनाज का भाव नहीं गिरने पाता। वे बाज़ार का रुख देखा करते हैं। जितना खप होता है उतनाही अनाज वे बिक्री के लिए प्रस्तुत करते हैं। किसानों की तरह यह नहीं करते कि फ़सल कटी नहीं कि बाज़ारों को अनाज से पाट दिया। किसी चीज़ की आमदनी को खप की सीमा के भीतर रखने से—अर्थात् उसे सीमाबद्ध करने से—लाभ के सिवा हानि होने की सम्भावना बहुत कम होती है। हमारे देश के किसानों की मूर्खता भी अनाज की आमदनी को सीमाबद्ध करने से उन्हें बहुत कुछ रोकती है।

सीमारहित संग्रह।

चित्र आदि पुरानी और दुष्प्राप्य चीज़ों का संग्रह हमेशा के लिए सीमाबद्ध रहता है। और अनाज आदि का कुछ काल के लिए। पर बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं जिनका संग्रह खप के अनुसार बराबर बढ़ाया जा सकता है। जितनाहीं खप बढ़ेगा उतनाहीं उनका संग्रह भी बढ़ेगा। उनके संग्रह की कोई सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। जिन चीज़ों का संग्रह ख़ूब बढ़ाया जा सकता है उनका अधिक खप होने से उनके व्यवसायियों में चढ़ा-ऊपरी शुरू हो जाती है। फल यह होता है कि क़ीमत कम हो जाती है। क़ीमत कम होने से उनका खप और भी बढ़ता है। अतएव खप की अपेक्षा जब माल का संग्रह अधिक होता है, अर्थात् वह सीमाबद्ध नहीं होता, तब खप के ऊपर मूल्य अवलम्बित नहीं रहता, किन्तु मूल्य के ऊपर खप अवलम्बित हो जाता है। जितनाहीं मूल्य कम, उतनाही खप ज़ियादह।

कलों से जो चीज़ें बनाई जाती हैं उनका संग्रह सीमा-रहित हो सकता है। अधिक खप होने से दिन रात कलें चल सकती हैं और यथेच्छ माल बाज़ार में पहुँचाया जा सकता है। यह नहीं कि अनाज की तरह उनकी उत्पत्ति के लिए फिर अगली फ़सल तक ठहरना पड़े। जितना ही लोग इस तरह का माल माँगते हैं उतना ही बनता है। माल बेचने और बनानेवालों में चढ़ाऊपरी भी उतनीही होती है। यथासम्भव सब अपने अपने माल को सस्ते भाव बेचना चाहते हैं। परन्तु उत्पादन-व्यय का सबको ख़याल रखना पड़ता है।

जहाँ तक उनका ख़र्च निकल आता है तहाँ तक भाव कम करते जाते हैं, आगे नहीं। यदि भाव यहाँ तक गिर जायगा—यहाँ तक क़ीमत कम हो जायगी—कि ख़र्च भी न निकल सके तो लोग उस रोज़गार ही को बन्द कर देंगे। इससे संग्रह फिर कम हो जायगा और क़ीमत चढ़ने लगेगी।

कपड़े इत्यादि जो चीज़ें कलों से बनाई जाती हैं उनके विषय में एक बात याद रखने लायक़ है। वह यह कि ऐसी चीजों की उत्पत्ति, ख़र्च के हिसाब से अधिक होती है। अर्थात् उनकी तैयारी में ख़र्च कम पड़ता है। इसीसे उनकी क़ीमत भी कम होती है। जहाँ तक क़ीमत से सम्बन्ध है, हाथ से बना हुआ कपड़ा कभी कलों से बने हुए कपड़े की बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि उत्पत्ति का ख़र्च जितना ही अधिक होता है, क़ीमत उतनी ही अधिक बढ़ती है। कल्पना कीजिए कि आपको ढाँके की मलमल का एक थान दर-कार है। उसमें जो रुई लगी है उसकी क़ीमत बहुत होगी तो दो रुपये, अधिक नहीं। पर उसे हाथ से तैयार करने में मेहनत बहुत पड़ती है। इसीसे क़ीमत ज़ियादह देनी पड़ती है। मेहनत ही के हिसाब से उसकी क़ीमत १०, २०, ३०, या ४० रुपये आपको देने पड़ेंगे। पर यही थान यदि किसी पुतलीघर में कलों की सहायता से बनेगा तो बहुतही थोड़ी लागत में तैयार होगा। अतएव क़ीमत भी उसकी कम पड़ेगी। रेल के यञ्जिन को देखिए। जो बोझ हज़ार आदमी लगने से भी नहीं ढोया जा सकता वही यञ्जिन की सहायता से, सैकड़ों कोस दूर, कुछही घंटों में पहुँच जाता है। चीज़ों की क़ीमत प्रायः मज़दूरी ही के कारण बढ़ती है। अतएव सस्ती चीज़ें तभी मिल सकती हैं, और उनका संग्रह तभी बढ़ सकता है, जब कलों से काम लिया जाय। जितना ही बड़ा कारख़ाना होगा, और जितना ही अधिक कलों से काम लिया जायगा, उतना ही माल अधिक तैयार होगा और उतनी ही लागत भी कम लगेगी।

भारतवर्ष की ज़िन्दगी खेती से ही है। पर खेती से उत्पन्न हुई चीज़ों का संग्रह बढ़ाने में साथ ही साथ ख़र्च भी अधिक पड़ता है। फिर, खेती का व्यवसाय दैवाधीन है। यदि पानी न बरसे तो एक दाना भी न पैदा हो। इससे यदि यहाँ कारख़ाने खोले जायँ और कलों की सहायता से चीज़ें

तैयार हों तो ख़र्च कम पड़े, माल सस्ता बिके और लाखों आदमियों का पेट पले । कल-कारख़ाने खोलने और चलाने में रुपया ज़रूर दरकार होता है, और रुपये की इस देश में है कमी । यदि कुछ आदमी मिल कर कम्पनियाँ खड़ी करें तो यथेष्ट पूँजी एकत्र हो सकती है । उससे यदि उपयोगी चीज़ों के कारख़ाने खोले जायँ तो विदेश से आने वाले माल की कटती कम हो जाय । देश का धन देश ही में रहे । दैन्य भी बहुत कुछ कम हो जाय । और अकेली खेती के भरोसे रहने से जो हानियाँ होती हैं उनसे भी रक्षा हो ।

क़ीमत और मेहनत का सम्बन्ध ।

मेहनत से चीज़ों की क़ीमत ज़रूर बढ़ जाती है; पर वह उनकी क़ीमत का एक मात्र कारण नहीं । यह नहीं कि मेहनत करने ही से सब चीज़ें क़ीमती हो जाती हों । कल्पना कीजिए कि किसी बढ़ई ने एक मेज़ तैयार की । उसकी तैयारी में उसे ज़रूर मेहनत करनी पड़ी । पर यदि कोई उस मेज़ को न ले तो उसकी कुछ भी क़ीमत नहीं । किसी खान से सोना निकालने में कम मेहनत पड़ती है, किसी में अधिक । पर दोनों का सोना यदि एकही तरह का है तो क़ीमत में कुछ भी फ़र्क़ न होगा । दोनों एकही भाव बिकेंगे । मेहनत का कुछ भी ख़याल न किया जायगा । मोती सीप के भीतर निकलता है । पर मोती बहुत क़ीमती समझा जाता है, सीप नहीं । यद्यपि दोनों एकही साथ निकलते हैं और उनके निकालने में मेहनत भी प्रायः बराबर पड़ती है । अतएव क़ीमत का एकमात्र कारण मेहनत नहीं । क़ीमत का कारण वही उपयोगिता और अप्रचुरता है । यदि मेहनत से उपयोगिता न पैदा होगी तो कोई चीज़ क़ीमती न समझी जायगी । और जो चीज़ उपयोगी होती है उसी के पाने की लोग इच्छा करते हैं । अतएव जिस चीज़ को प्राप्त करने की जितनी ही अधिक इच्छा लोगों की होगी उतनी ही वह अधिक क़ीमती भी होगी ।

सारांश ।

चीज़ों की तभी क़दर होती है जब उनमें आदमियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के कोई गुण होते हैं और वे ऐसी होती हैं कि प्रचुर परिमाण में

योंही नहीं मिलतीं। अर्थात् क़ीमत देकर लोग तभी चीज़ों को मोल लेते हैं—तभी उनका बदला करते हैं—जब उनमें ये दो गुण विद्यमान होते हैं। इन गुणों के बिना कोई चीज़ क़ीमती नहीं हो सकती।

मेहनत से सब चीज़ों की क़ीमत बढ़ती है, पर वह क़ीमत का एकमात्र कारण नहीं। उसका प्रधान कारण उनके प्राप्त करने के लिए आदमियों की अभिलाषा और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता है। ऐसा न होता तो हीरे और मामूली पत्थर पर बराबर मेहनत करने से दोनों की क़ीमत तुल्य हो जाती।

सब चीज़ों की क़ीमत का निर्ख़ उनकी आमदनी और खप के तारतम्य पर अवलम्बित रहता है। किसी चीज़ के उस परिमाण को आमदनी कहते हैं जिसे लोग ख़ुशी से बदले में देने पर राज़ी हों। इसी तरह किसी चीज़ के उस परिमाण को माँग या खप कहते हैं जिसे लोग बदले में लेने को तैयार हों। निर्ख़ मँहगा होने से आमदनी अधिक और माँग कम हो जाती है और निर्ख़ सस्ता होने से आमदनी कम और माँग अधिक हो जाती है। इसी तरह आमदनी की अधिकता या माँग की कमी से निर्ख़ घटता है; और आमदनी की कमी और माँग की अधिकता से वह बढ़ता है। इस बढ़ाव घटाव में चीज़ों के उत्पादन-व्यय का बड़ा असर पड़ता है। जिस चीज़ के तैयार करने में जो ख़र्च पड़ता है उसी के आस पास उसका निर्ख़ रहता है—कभी वह कुछ इधर हो जाता है, कभी उधर। तैयारी के ख़र्च का नाम असल क़ीमत है और उसके कमी-बेशी-पन का नाम बाज़ार दर है।

कुछ चीज़ें ऐसी हैं जिनका संग्रह हमेशा के लिए सीमाबद्ध होता है; वह बढ़ाया नहीं जा सकता—जैसे पुराने चित्र, पुराने सिक्के आदि। इनकी क़ीमत खप और आमदनी के समीकरण से ही निश्चित हो जाती है; उत्पादन-व्यय का उस पर असर नहीं पड़ता।

कुछ चीज़ों का संग्रह सीमाबद्ध तो होता है, पर हमेशा के लिए नहीं। कुछ दिन बाद, यथासमय, वह बढ़ाया भी जासकता है। अनाज और खानि से निकलने वाली चीज़ों की गिनती इसी वर्ग में है। इन चीज़ों का निर्ख़ निश्चित करने में उत्पादन-व्यय का असर पड़ता है। उसका ख़याल रख

कर खप और संग्रह के समीकरण से ऐसी चीज़ों का निर्ख़ निश्चित होता है। तैयारी में अधिक ख़र्च करने से इनका संग्रह बढ़ सकता है। पर जिस अन्दाज़ से ख़र्च बढ़ता है उसी अन्दाज़ से संग्रह या आमदनी नहीं बढ़ती। अर्थात् जितना ख़र्च बढ़ जाता है उतनी आमदनी नहीं बढ़ती।

कलों की मदद से जो चीज़ें तैयार होती हैं उनका संग्रह मनमाना बढ़ाया जा सकता है। उसे सीमारहित कहना चाहिए। ऐसी चीज़ों की तैयारी में जितना ही अधिक ख़र्च किया जाता है उतना ही अधिक संग्रह भी बढ़ता है। अतएव इस देश के लिए ऐसी चीज़ें तैयार करने की बड़ी ज़रूरत है। ऐसी चीज़ों का भी निर्ख़ खप और संग्रह के समीकरण से, उत्पादन-व्यय के कुछ इधर या उधर, निश्चित होता है।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

रुपये की क़ीमत ।

हम लोगों को हमेशा चीज़ों ही की क़ीमत लेनी देनी पड़ती है। इस लिए रुपये की क़ीमत का नाम सुनकर यदि किसी को आश्चर्य्य हो तो हो सकता है। रुपये, पैसे या सिक्के की क़ीमत से मतलब उसके अदला-बदल के सामर्थ्य से है। रुपया देने से जब और चीज़ें बहुत मिलती हैं, अर्थात् वे सस्ती बिकती हैं, तब रुपये की क़ीमत अधिक होती है। इसी तरह जब उसके बदले और चीज़ें थोड़ी मिलती हैं, अर्थात् वे महँगी बिकती हैं, तब रुपये की क़ीमत कम होती है। अतएव रुपये में मोल लेने की जो शक्ति है वही उसकी क़ीमत है। रुपये की क़ीमत और अन्यान्य चीज़ों की क़ीमत एक दूसरी से विपरीत भाव रखती हैं। अर्थात् जब एक की क़ीमत घटती है तब दूसरी की बढ़ती है और जब दूसरी की बढ़ती है तब पहली की कम हो जाती है। उनका सम्बन्ध तराज़ू के पल्लों की तरह है। अर्थात् एक ऊँचा होने से दूसरे को नीचे जानाही चाहिए।

जब हम यह कहते हैं कि किसी चीज़ की आमदनी हुई है तब उससे यह अर्थ निकलता है कि वह चीज़ बदली जाने के लिए तैयार है। उसे

देकर उसके बदले रुपया लेना, या उसे लेकर उसके बदले रुपया देना, मानो रुपया ख़रीद करना या मोल लेना है। जब कोई चीज़ बेची जाती है तब उसके बदले रुपया ख़रीदा जाता है और जब कोई चीज़ मोल ली जाती है तब उसके बदले रुपया बेचा जाता है। अतएव जितनीहीं अधिक बिक्री होगी उतना ही अधिक रुपया आवेगा। इससे साबित है कि रुपया भी आमदनी और खप के सिद्धान्तों के अधीन है।

अन्यान्य खनिज पदार्थों की तरह खप बढ़ने से रुपये की भी क़ीमत बढ़ जाती है और उसका संग्रह भी अधिक होने लगता है। रुपया धातु से बनता है। धातु खानों से निकलती है। यदि खानों से चाँदी कम निकले और रुपये का ख़र्च लोग बढ़ाते जायँ तो किसी दिन उसकी वृद्धि ज़रूर कम हो जायगी और उसका मोल चढ़ जायगा। परन्तु यदि खानों से अधिक परिमाण में चाँदी निकलने लगे और रुपये का संग्रह प्रतिदिन बढ़ताही जाय तो ज़रूर उसकी क़ीमत कम हो जायगी। क्योंकि आमदनी और खप का सिद्धान्त ही ऐसा है। अमेरिका और आट्रेलिया में चाँदी की नई नई खानों का पता लगा। उनसे बहुत चाँदी निकलने लगी। फल यह हुआ कि चाँदी सस्ती हो गई। इसका असर हिन्दुस्तान पर भी पड़ा। देखिए अब तक यहाँ चाँदी सस्ती बिक रही है। यहाँ का सिक्का चाँदी का है। और चाँदी सस्ती हो रही है। इससे यदि इँगलेंड रुपया भेजना पड़ता है तो नुक़सान होता है। क्योंकि इँगलेंड में सोने का सिक्का है। और सोना सस्ता हुआ नहीं। उसके बदले चाँदी के अधिक रुपये देने पड़ते हैं। इस तरह के अदला बदल में चाँदी के सिक्कों की क़ीमत उसकी मूल धातु, अर्थात् चाँदी, की क़ीमत के हिसाब से ली जाती है। सोने और चाँदी की क़ीमत का तारतम्य देखकर जितनी चाँदी जितने सोने के बराबर होती है उतनीहीं इँगलेंडवाले लेते हैं। कम नहीं लेते।

सोने और चाँदी पर आमदनी और खप का जो असर पड़ता है उसका एक उदाहरण लीजिए। नोटों और हुंडियों का उपयोग रुपये की जगह होता है। कल्पना कीजिए कि देश में कोई नोट और हुंडियाँ नहीं हैं, और न कहीं किसी देश या किसी खानि से सोने, चाँदी की आमदनी ही की

आशा है। इधर देश में सम्पत्ति की ख़ूब वृद्धि हो रही है। कल कारख़ानों में दूना माल तैयार हो रहा है। और आबादी भी बढ़ रही है। रुपया देश में जितना था उतनाहीं है। उतनेहीं से दूने माल की ख़रीद बेंच जारी है। अर्थात् माल तो दूना पर रुपया आवश्यकता से आधा। इसका मतलब क्या हुआ ? यही कि रुपये की क़ीमत दूनी हो गई है और बाक़ी सब चीज़ों की क़ीमत आधी रह गई है! अब कल्पना कीजिए कि किसी देश की आबादी पूर्ववत् है और माल भी पहले ही का इतना तैयार होता है। पर बाहर से इतनी चाँदी आ गई कि पहले की अपेक्षा रुपये की संख्या डेवढ़ी हो गई। इस दशा में मज़दूरों की मज़दूरी और माल की क़ीमत ज़रूरही अधिक हो जायगी। क्योंकि चाँदी का मोल, अर्थात् अदलाबदल करने का सामर्थ्य, पहले से ५० फ़ी सदी कम हो गया है। इससे स्पष्ट है कि यदि और कोई बाधक बातें न हों तो, सिक्के की धातु अधिक हो जाने से उसका मोल, अर्थात् उसका क्रय-विक्रय-सामर्थ्य, ज़रूर कम हो जाता है। इन दोनों उदाहरणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि रुपये की भी क़ीमत होती है और वह आमदनी और खप के ही नियमों के अधीन रहती है।

जितने देश हैं सब में पहलेही से यह बात निश्चित हो जाती है—पहले ही से इस विषय का क़ानून बना दिया जाता है—कि कितने सोने या कितनी चाँदी के कितने सिक्के बनाये जायँगे। उदाहरण के लिए इँगलेंड में ४० पौंड सोने के १८६९ सिक्के गढ़े जाते हैं। ये सिक्के "सावरन" कहलाते हैं। इस हिसाब से इन १८६९ सिक्कों की मालियत ४० पौंड सोने की मालियत के बराबर हुई। अथवा यों कहिए कि उनकी क़ीमत ४० पौंड सोना हुआ। अब ४० पौंड सोने के यदि १८६९ मामूली टुकड़े किये जायँ तो एक एक टुकड़ा एक एक सावरन के बराबर हो। अर्थात् दोनों की क़ीमत तुल्य हो। परन्तु सिक्के हमेशा व्यवहार में आते हैं; एक हाथ से दूसरे में जाया करते हैं। इससे वे घिस जाते हैं और उनका वज़न क़ानूनी वज़न से कम हो जाता है। टकसाल से निकलने पर उनका जो वज़न था वह नहीं रहता। वज़न की इस कमी पर लोगों का ध्यान कम जाता है। वज़न में कुछ कम हो जाने पर भी ऐसे सिक्के लेन देन में बराबर आते हैं।

१६ आने के रुपये में कोई १४$\frac{1}{2}$ आने भर चाँदी रहती है। अब यदि घिसते घिसते १३ ही आने भर चाँदी रह जाय तो लेन देन के वक्त इस कमी का ख़याल लोग नहीं करेंगे। वे हर रुपये को परख कर और तोल कर यह नहीं देख लेते कि उसमें क़ानून की रू से जितनी चाँदी होनी चाहिए उतनी है या नहीं। फल यह होता है कि ऐसे सिक्के बहुत दिनों तक चला करते हैं। परन्तु यदि कोई आदमी ऐसे सिक्कों को चाँदी से बदलने जाय तो उनके बदले उसे उतनी चाँदी कभी न मिलेगी जितनी कि टकसाल में ढलने के समय उनमें थी। उस समय तो उसे उतनीही चाँदी मिलेगी जितनी कि सिक्कों में रह गई होगी। सम्भव है उसे उस समय १०० सिक्कों के बदले उतनीही चाँदी मिले जितनी कि पूरे वज़न के ९५ सिक्कों में होती है। यह उनके बदले की क़ीमत हुई। इसी बात को यदि दूसरी तरह कहें तो यों कह सकते हैं कि ९५ टकसाली सिक्कों की क़ीमत १०० चलतू सिक्के हुए। अर्थात् चलतू सिक्कों की क़ीमत पाँच टकसाली सिक्कों के बराबर घट गई। यदि चलतू सिक्कों की क़ीमत का मुक़ाबला, साधारण चाँदी की क़ीमत से किया जाय, तो भी फल वही होगा। ऐसे मुक़ाबले से यही नहीं मालूम हो जाता कि सिक्कों की क़ीमत कम हो गई है या नहीं, किन्तु यह भी मालूम हो जाता है कि कितनी कम हो गई है।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि चाँदी या सोने के किसी निश्चित वज़न को बहुत से टुकड़ों में बाँट देने से उसकी क़ीमत कम हो जाती है। अर्थात् एक टुकड़े को काट कर सिक्के के रूप में उसके अनेक टुकड़े कर डालने से यह कमी पैदा होती है। यह ठीक नहीं। सोने-चाँदी के टुकड़े करने से यदि उनकी क़ीमत कम हो जाती तो उनके सिक्के बनाये ही न जाते। जिन धातुओं में सम-विभाज्यता का गुण होता है उन्हीं के सिक्के बनते हैं। और, सोने-चाँदी में यह गुण विद्यमान है। विभाग करने से उनकी क़ीमत कम नहीं होती। एक कुप्पे घी को यदि आप ४० बोतलों में भर दें तो क्या उसकी क़ीमत कम हो जायगी? क़ीमत तो तभी कम होगी जब उसका वज़न कम हो जायगा। सोना, चाँदी और घी, हीरा-मोती नहीं हैं।

सिक्के ढालने का सबको अख़तियार नहीं। क़ानून का रू से सिर्फ़ सर-

कार ही को सिक्के ढालने का अख़तियार है । यदि और कोई सिक्के ढाले और यह बात ज़ाहिर हो जाय तो उसे सज़ा मिले । इस तरह के मुक़द्दमे अकसर हुआ करते हैं । सिक्के ढालने के लिए गवर्नमेंट को टकसाल खोलनी पड़ती है और बहुत से मुलाज़िम रखने पड़ते हैं । इसमें जो ख़र्च पड़ता है वह सरकार प्रजा से वसूल कर लेती है । पर प्रजा को मालूम नहीं पड़ता । एक रुपये की क़ीमत सोलह आने क़रार दी गई है । पर उसमें १६५ ग्रेन चाँदी और १५ ग्रेन ताँबा आदि अन्य धातुओं का मेल है । अर्थात् ११ भाग चाँदी और १ भाग मेल है । यह १ भाग एक आना चार पाई के बराबर हुआ । रुपया पीछे यह एक आना चार पाई उसके ढालने के ख़र्च के लिए है । मतलब यह कि एक रुपया ढालने में एक आना चार पाई सर्फ़ पड़ेगा और चौदह आने आठ पाई की चाँदी ख़र्च होगी । इस दशा में सिक्के ढालने से गवर्नमेंट को न कुछ हानि होगी, न लाभ । पर यदि एक आने चार पाई से कम ख़र्च पड़े तो गवर्नमेंट को ज़रूर लाभ होगा ।

किसी किसी देश में सिक्के ढालने का ख़र्च सरकार नहीं लेती । इँगलेंड में यही बात है । कहीं कहीं की प्रजा को यह अधिकार रहता है कि वह सोना-चाँदी देकर उसके सिक्के ढला ले । यदि सरकार क़ानून की रू से ढलाई का ख़र्च लेती है तो प्रजा को भी वह देना पड़ता है और यदि नहीं लेती तो नहीं देना पड़ता । इँगलिस्तान की प्रजा बिना ढलाई का ख़र्च दिये ही सोने के सिक्के सरकारी टकसाल में ढला सकती है । वहाँ सरकार ढलाई का ख़र्च नहीं लेती । यहाँ, हिन्दुस्तान में, ढलाई का ख़र्च सरकार लेती है । इससे १८९४ ईसवी के पहले जो लोग सिक्के ढलाते थे उनको ख़र्च देना पड़ता था । १८९४ ईसवी से गवर्नमेंट ने प्रजा के लिए सिक्के ढालने का क़ानून रद कर दिया । अब वह प्रजा के लिए सिक्के नहीं ढालती । जितना सिक्का दरकार होता है, ख़ुद ही ढालती है ।

सिक्के में जितनी धातु रहती है उसकी क़ीमत, और सिर्फ़ ढालने का ख़र्च, लेकर ही जो गवर्नमेंट सिक्के बनाती है उसे न हानि होती है, न लाभ । उसका जमाख़र्च बराबर हो जाता है । सिक्के ढालने का यह पहला प्रकार हुआ । पर बिना ढलाई का ख़र्च लिये ही यदि गवर्नमेंट सिक्के ढाले, जैसा

कि इँगलेंड में होता है, तो गवर्नमेंट को हानि होती है, क्योंकि उसे ढलाई का ख़र्च नहीं मिलता। यह दूसरा प्रकार हुआ। तीसरा प्रकार वह है जिसमें सिक्के ढाल कर गवर्नमेंट फ़ायदा उठाती है। हिन्दुस्तान में यही होता है। यहाँ एक रुपये की क़ीमत १६ आने रक्खी गई है, पर उसमें जितने की चाँदी कम रहती है उतना ढलाई में ख़र्च नहीं होता। अतएव ख़र्च होने से जो कुछ बचता है वह गोया गवर्नमेंट को फ़ायदा होता है। वह उसका हक़ है।

अब यहाँ पर यह विचार उपस्थित होता है कि न्यायसङ्गत कौन सा प्रकार है।

किसी चीज़ के बनाने में मेहनत पड़ती है। और मेहनत से क़ीमत और क़दर ज़रूर बढ़ जाती है। आपके चाक़ू में जितना फ़ौलाद लगा है उसकी क़ीमत से चाक़ू की क़ीमत अधिक है या नहीं? ज़रूर है। फिर चाँदी और सोने की बनी हुई चीज़ों की क़ीमत उतने ही वज़न की उन धातुओं की क़ीमत से क्यों न अधिक होनी चाहिए? सिक्के बनने के पहले सिक्के की धातु उतनी लाभदायक नहीं होती जितनी सिक्के बन जाने पर होती है। अतएव यदि गवर्नमेंट १४ आने ८ पाई की चाँदी का सिक्का बना कर १६ आने को बेचे और ख़र्च निकाल कर उसे कुछ बच जाय तो कोई अन्याय की बात न हुई। यदि गवर्नमेंट को कुछ बच जायगा तो वह भी तो प्रजा ही के काम आवेगा। हाँ यदि ऐसा न हो, यदि इस तरह की बचत का दुरुपयोग किया जाय, तो बात दूसरी है। टकसाल की आमदनी से जो बचत गवर्नमेंट को होती है उसे एक तरह का टैक्स (कर) समझना चाहिए। यदि प्रजा की साम्पत्तिक अवस्था इस तरह का टैक्स देने के योग्य नहीं, तो यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि गवर्नमेंट का यह काम अनुचित हुआ।

अब देखना चाहिए कि यदि गवर्नमेंट सिक्कों की ढलाई का ख़र्च न ले, अर्थात् ढले हुए सिक्कों की क़ीमत उतनेही वज़न की धातु के बराबर हो जितनी कि उनमें डाली गई है, तो क्या परिणाम होगा? परिणाम यह होगा कि सिक्कों की धातु और साधारण धातु में कुछ भी फ़र्क़ न होने के कारण जब ज़ेवर वग़ैरह बनाने के लिए लोगों को धातु दरकार होगी तब वे सिक्कों

को गला डालेंगे और जब सिक्के दरकार होंगे तब धातु की ईंटें लाद कर टकसाल पहुँचेंगे और सरकार से कहेंगे कि हमें सिक्के बना दीजिए। बस यही उलट फेर लगा रहेगा और गवर्नमेंट का व्यर्थ ख़र्च होगा और व्यर्थ तकलीफ़ उठानी पड़ेगी। इस पर भी उसे एक कौड़ी का फ़ायदा न होगा। तथापि कई देश ऐसे हैं जिनकी गवर्नमेंट सिक्कों की ढलाई का कुछ भी ख़र्च प्रजा से नहीं लेती। इँगलेंड में यही हाल है। वहां ढलाई का ख़र्च नहीं देना पड़ता; गवर्नमेंट प्रजा के लिए मुफ़्त सिक्के बनाती है। कारण यह है कि इँगलेंड में बहुत व्यापार होता है। वह बनियों का देश है; वह तिजारती मुल्क है। इससे वहाँ के सिक्के कभी बेकार नहीं रहते। और बेकार न रहने से उनकी क़दर कम नहीं होती। इससे उन्हें गलाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इँगलेंड के व्यापारी दुनिया भर में व्यापार करते हैं। उनका सिक्का और देशों में खप जाता है। उसे लेने में और देशवालों को कुछ भी इनकार नहीं होता; क्योंकि उनकी क़ीमत धातु की क़ीमत के बराबर होती है। उन्हें गला कर जो चाहे धातु के दामों बेच सकता है। कल्पना कीजिए कि चीन में चांदी का जो सिक्का जारी है वह दस आने का है और उसमें चांदी भी दस ही आने की है। इस दशा में यदि आप को चाँदी दरकार है तो आप दस आना फ़ी सिक्के के हिसाब से चीन के सिक्के ख़ुशी से ले लेंगे। पर चीनवाले आप का रुपया सोलह आने को न लेंगे; क्योंकि उसमें साढ़े चौदह ही आने की चांदी है।

जिस देश में सोने चांदी का परिमाण बढ़ जाता है, अर्थात् ये धातुएँ ज़रूरत से अधिक हो जाती हैं, उस देश में जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उनकी क़दर भी कम हो जाती है। इस दशा में सिक्कों की भी क़दर कम हो जाती है, क्योंकि सिक्के भी तो इन्हीं धातुओं के बनते हैं। इसी नियम के अनुसार जब सोना-चांदी कम हो जाती है तब उनकी क़दर बढ़ने से सिक्कों की भी क़दर बढ़ जाती है। जो चीज़ बहुत होती है उसकी क़दर कम और जो थोड़ी होती है उसकी क़दर अधिक होना एक ऐसी बात है जो हर रोज़ हम अपनी आँखों देखते हैं। सिक्कों की क़दर का कम-ज्यादह होना भी इसी नियम पर अवलम्बित रहता है।

कल्पना कीजिए कि किसी मुल्क में बहुत व्यापार होता है; पर उस व्यापार के चलाने के लिए जितना रुपया दरकार है उतना नहीं है। इस दशा में रुपये की क़दर ज़रूर बढ़ जायगी। अथवा यों कहिए कि और चीज़ों की क़ीमत कम हो जायगी और व्यापारियों के कारोबार में बाधा आयेगी। अब, यदि, जो रुपया देश में है वह, किसी तरह, बड़ी तेज़ी से एक हाथ से दूसरे हाथ में जाय—उसके अदला-बदल में देरी न हो—तो सारा कारोबार बिना विघ्न-बाधा के चला जायगा और अधिक रुपये ढाले जाने की ज़रूरत न होगी। क्योंकि इस अवस्था में सम्भव है एक सिक्का दस दफ़े काम आवे। अर्थात् वह उतना ही काम दे जितना कि, देश में अधिक रुपया होने की दशा में, दश सिक्कों से होता। ऐसे देशों में वाणिज्य-व्यवसाय के काम तब तक आसानी और सुभीते से न हो सकेंगे जब तक अधिक रुपया न ढाला जायगा, या फुर्ती के साथ रुपये के हस्तान्तर होने की कोई तदबीर न निकाली जायगी, या नक़द रुपया दिये बिना लेन-देन कर सकने के लिए व्यापारियों और व्यवसायियों की साख न बढ़ेगी। रुपये से जितना ही अधिक काम लिया जायगा उतनी ही मानों उसकी संख्या बढ़ जायगी। और उसकी संख्या का बढ़ना मानों उसकी आमदनी का बढ़ना है। जिस चीज़ की आमदनी बढ़ जाती है उसकी क़दर ज़रूर कम हो जाती है। इस हिसाब से रुपये का फुर्ती के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में जाना उसकी क़दर को कम करना और दूसरी चीज़ों की क़दर को बढ़ाना है। इसका उलटा यदि कहा जाय तो इस तरह कहा जा सकता है कि रुपये की क़दर का बढ़ना उसकी संख्या, उसके हस्तान्तर होने की शक्ति और अन्यान्य चीज़ों की क़ीमत की कमी पर अवलम्बित रहता है।

अतएव जिस देश में रुपयों की संख्या व्यापार-सम्बन्धी ज़रूरतों से कम हो जाय उस देश में इस कमी का यही इलाज हो सकता है कि या तो रुपयों की संख्या बढ़ाई जाय या उनका हस्त-परिवर्तन फुरती से होने के लिए कोई तदबीर निकाली जाय। परन्तु जिस देश में रुपयों की संख्या ज़रूरत से अधिक हो जाय, अथवा यों कहिए कि सब चीज़ों की क़ीमत बढ़ जाय, तो क्या करना चाहिए? इसका जवाब यही है कि रुपयों की आमदनी कम

कर दी जाय । १८९४ ईसवी के पहले चाँदी की कई एक नई नई खानों का पता लगा और बहुत चाँदी यहाँ आने लगी । इधर सरकारी टकसाल सर्वसाधारण के लिए खुली थी । इसलिए लोग चांदी ले लेकर बेहद रुपया ढलवाने लगे । फल यह हुआ कि, इस देश में, ज़रूरत से अधिक रुपया बन गया । इससे उसकी क़दर कम हो गई । यहाँ तक कि धीरे धीरे एक रुपये की क़ीमत सिर्फ़ १३ पेंस रह गई । सरकार को हानि होने लगी । क्योंकि सरकारी मालगुज़ारी से पेंशन वग़ैरह के लिए करोड़ों रुपये इँगलिस्तान भेजना पड़ता है । इँगलिस्तान का सिक्का सोने का है । जहाँ पहले एक पौंड के लिए सरकार को १० रुपये देने पड़ते थे वहाँ चाँदी की क़दर कम हो जाने से १६ रुपये देने पड़े । फिर भला हानि क्यों न हो ? इसका इलाज सरकार ने यह किया कि हिन्दुस्तान में सर्वसाधारण के लिए टकसाल बन्द करके एक पौंड का क़ीमत १५ रुपये मुक़र्रर कर दी । इससे रुपये की आमदनी भी रुक गई और उसकी क़ीमत भी स्थिर हो गई । अब सरकार सर्वसाधारण के लिए रुपये नहीं ढालती । देश के लिए जितने रुपये की ज़रूरत होती है वह ख़ुद ढालती है । इससे रुपये की आमदनी नहीं बढ़ने पाती और एक रुपया १३ पेंस की जगह १६ पेंस का हो गया है ।

इससे सिद्ध है कि रुपये की आमदनी बढ़ने से उसकी क़दर कम हो जाती है और घटने से अधिक । रुपया ढालने में सरकार का जो ख़र्च पड़ता है उससे चाहे वह अधिकही क्यों न ले, रुपये की क़ीमत पर उसका कुछ भी असर नहीं पड़ता । उसकी क़ीमत जो मुक़र्रर कर दी जाती है वही रहती है । क्योंकि रुपया तो लेन देन में सिर्फ़ मध्यस्थ का काम करता है । उसकी क़ीमत एक तरह से कल्पित होती है । यदि चाँदी-सोने के सिक्के के बदले मिट्टी का सिक्का चलाया जाय तो वह भी ख़रीद-फ़रोख़्त में चाँदी-सोने के सिक्के ही की तरह काम देगा । क्योंकि रुपया लेने में कोई इस बात का विचार नहीं करता कि ख़ुद उसकी क़ीमत कितनी है । वह उसे इसी विश्वास पर लेता है कि जितनी क़ीमत उसकी मान ली गई है उतनीहीं और लोग भी मानते हैं । अतएव उस क़ीमत पर रुपया लेने या देने में मेरी कोई हानि नहीं हो सकती ।

सारांश यह कि रुपये की क़दर या क़ीमत की कमी-बेशी उसकी आमदनी की कमी-बेशी पर अवलम्बित रहती है। ढलाई के ख़र्च की कमी-बेशी से उसकी क़दर से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि रुपये में चौदह आने आठ पाई भर चाँदी की जगह सिर्फ़ आठ ही आने भर चाँदी डाली जाय अर्थात् फ़ी रुपया एक आना चार पाई की जगह ८ आने ढलाई का ख़र्च सरकार ले, तो भी रुपये की क़दर में कमी न होगी। वह पदार्थों के विनिमय में पहले ही की तरह १६ आने को चलेगा। यह अपने देश की बात हुई। दूसरे देशों को यदि यहाँ का रुपया भेजा जाय तो बात दूसरी हो जायगी। उस समय उसकी असल क़ीमत देखी जायगी।

छठा परिच्छेद।

कागज़ी रुपया।

जैसा लिखा जाचुका है, इस देश में चाँदी का सिक्का चला कर सरकार फ़ी रुपया १ आना ४ पाई ख़र्च, अथवा अपना हक़, लेती है। परन्तु इससे ख़रीद-फ़रोख़्त या लेन देन में कोई बाधा नहीं आती। यदि चार आने फ़ी रुपया भी सरकार अपना हक़ ले तो भी पदार्थों का विनिमय करनेवालों की कोई हानि न हो। चार नहीं यदि पन्द्रह आने भी गवर्नमेंट का हक़ हो जाय तहाँ तक कोई विघ्न-बाधा न उपस्थित होगी। क्योंकि सिक्का सिर्फ़ अदला-बदल करने का एक साधन-मात्र है। वह सम्पत्ति तौलने का काँटा है। बस; और कुछ नहीं। किसी देश में सिक्का चलाने का हक़ कम लिया जाता है, किसी में अधिक। किसी में ५ फ़ी सदी, किसी में १० फ़ी सदी, किसी में २० फ़ी सदी। यहाँ तक कि १०० फ़ी सदी तक भी हक़ लिया जाता है! हक़ जितनाहीं ज़ियादह होता है सिक्के की निज की क़ीमत उतनीहीं कम होती है। इस हिसाब से १०० फ़ी सदी का मतलब हुआ कि जिस रुपये अथवा जिस सिक्के पर सरकार इतना हक़ लेती है उसकी निज की क़ीमत कुछ भी नहीं होती। कागज़ी रुपया इसी तरह का होता है।

कागज़ी रुपये, अर्थात् करन्सी नोटों, की निज की कुछ भी क़ीमत नहीं। वे सिर्फ़ कागज़ के छोटे छोटे टुकड़े हैं। लेन देन में ये टुकड़े नहीं बिकते। सरकार की साख बिकती है। अगर सरकार नोटों को बन्द कर दे तो उन्हें रद्दी क़ागज़ के भाव भी कोई न ले। क्योंकि वे इतने छोटे होते हैं कि पंसारियों की दुकान में पुड़िया बनाने के भी काम नहीं आ सकते। हुंडी और चेक आदि की गिनती भी कागज़ी रुपये में है। कागज़ी रुपये से सरकार का बड़ा काम होता है। जितने के नोट गवर्नमेंट ने चलाये हैं मानों उतनाहीं रुपया गवर्नमेंट ने बचा लिया है। कल्पना कीजिए कि आपके पास सौ रुपये का एक क़िता नोट है। अब यदि यह नोट न बनाया गया होता तो गवर्नमेंट को सौ रुपये ढालने पड़ते और उनमें फ़ी रुपया १४ आने ८ पाई चांदी डालनी परती। यह उसे नहीं करना पड़ा। इसका अर्थ हुआ कि उसने एक कागज़ का टुकड़ा छाप कर अपना हक़ पूरा सौ फ़ी सदी लेलिया। इस देश में जो करन्सी नोट जारी हैं वे अँगरेज़ी गवर्नमेंट के चलाये हुए हैं और ५,१०,२०,५०,१००,५००,१००० और १०००० रुपये के हैं। उन पर लिखा रहता है कि यह नोट इस हाते का है और इतने का है। जो नोट जिस हाते का है उस हाते के किसी सरकारी ख़ज़ाने में वह भुन सकता है। अन्यत्र भी वह इस देश में भुनाया जा सकता है। चाहे जिसके क़बज़े में नोट हो, ख़ज़ाने से उसके रुपये फ़ौरन मिल जाते हैं। हर नोट पर लिखा रहता है कि माँगने पर इसकी रक़म दे दी जायगी। ऐसा ही होता भी है। इसीसे नोट यद्यपि कागज़ के टुकड़े हैं और ख़ुद कुछ भी क़ीमत नहीं रखते, तथापि गवर्नमेंट की साख बिकती है। लोगों को इस बात का दृढ़ विश्वास रहता है कि नोटों पर लिखी हुई रक़म जब चाहेंगे मिल जायगी। इसीसे वे नोटों को रुपया ही समझते हैं और लेन देन में, बिना ज़रा भी शङ्का या सोच-विचार के, काम में लाते हैं। किसी किसी देश में बैंकों के भी नोट चलते हैं। पर इस देश में ऐसे नोटों का रवाज नहीं है। नोटों के प्रचार से बहुत सुभीता होता है। करोड़ों रुपये का लेन देन, बिना सोने चाँदी के सिक्के का व्यवहार किये ही, हो जाता है। जो राजा या जो बैंक नोट निकालता है उसे इसका हमेशा ख़याल रखना पड़ता है कि नोटों की कुल रक़म के बरा-

बर उसके पास सिक्के के रूप में द्रव्य है या नहीं। क्योंकि यदि सब लोग एकदम से अपने अपने नोट भुनाने पर आमादा हो जायँ और नोट जारी करनेवाला सब का भुगतान न कर सके तो उसकी साख मारी जाय और बहुत बड़ी आफ़त का सामना करना पड़े।

सभ्यता और शिक्षा की वृद्धि के साथ साथ नोटों के प्रचार और व्यवहार की वृद्धि होती जाती है। बहुत सा रुपया साथ ले जाना बोझ मालूम होता है। घर में भी दस पाँच हज़ार रुपया रखने से बहुत जगह रुकती है। इससे लोग नोट रखना अधिक पसन्द करते हैं। पचास रुपये और उससे ऊपर के नोट खो जायँ, चोरी जायँ, जल जायँ या और किसी तरह ख़राब जायँ तो रुपया डूबने का डर भी नहीं रहता। यदि उनका नम्बर मालूम हो तो लिखने पर गवर्नमेंट उतना रुपया अपने ख़ज़ाने से दे देती है।

जैसा हम कह चुके हैं, करन्सी नोटों की तरह चेक और हुंडी भी रुपये का काम देती हैं। जिन सभ्य और शिक्षित देशों में व्यापार बहुत होता है और हर रोज़ करोड़ों रुपये का भुगतान करना पड़ता है वहाँ धातु के सिक्के की अपेक्षा कागज़ी रुपया ही अधिक काम में लाया जाता है। लन्दन इस समय व्यापार का केन्द्र है। एक साहब ने एक साल का लेखा लगाया है कि लन्दन में जितना कारोबार उस साल हुआ उसमें कितने का सोने का सिक्का, कितने के नोट और कितने का हुंडी-पुर्ज़ा काम में आया। यह हिसाब हम नीचे देते हैं। हिसाब १८८१ ईसवी का है:—

सोने का सिक्का	फ़ी सदी	०·९५
बैंक के नोट	"	२·४८
चेक और हुंडी	"	९६·५७
	कुल	१००·००

इससे स्पष्ट है कि चेक और हुंडी ही से ज़ियादह काम लिया गया। वह भी एक तरह का कागज़ी रुपया है। इँगलेंड में सरकार ख़ुद नोट नहीं बनाती; वहाँ का प्रसिद्ध "बैंक आव् इँगलेंड" बनाता है। ऊपर के लेखे में फ़ी सदी २·४८ जो नोट व्यवहार किये गये हैं वे उसी बैंक के नोट हैं।

यदि सब लोग सब काम में रुपये ही व्यवहार करने पर उतारू हों तो न मालूम गवर्नमेंट को कितना रुपया बनाना पड़े। इसीसे नोट, हुंडी और चेक आदि का चलन है। कागज़ी रुपया जारी करना सहज भी है और उसके व्यवहार से वाणिज्य-व्यवसाय में सुभीता भी बहुत होता है। आवश्यकतानुसार कागज़ी रुपया जारी होता है और काम हो जाने पर नष्ट कर दिया जाता है। उसका आकुञ्चन और प्रसारण—उसकी कमी-बेशी—हमेशा आवश्यकता ही पर अवलम्बित रहती है। उसके प्रचार से रुपये की कमी नहीं खलती। रुपये की कमी के कारण व्यापार और लेन देन में जो बाधा आती है वह हुंडी, पुर्ज़े और नोटों के व्यवहार से दूर हो जाती है।

कागज़ी रुपये का पहले पहल प्रचार चीन में हुआ। जब और लोगों ने देखा कि नोट जारी करने से बहुत सुभीता होता है तब उन्होंने भी चीन की नक़ल की। धीरे धीरे उनका प्रचार सभी सभ्य देशों में हो गया। जैसे जैसे वाणिज्य-व्यवसाय की वृद्धि होती है वैसे ही वैसे नोट जारी करने और हुंडी पुर्ज़े लिखने की अधिकाधिक ज़रूरत पड़ती है।

नक़द रुपये की तरह कागज़ी रुपये की भी क़दर आमदनी और खप के सिद्धान्तों के अधीन रहती है। देश के लिए जितने कागज़ी रुपये की ज़रूरत है उससे यदि वह अधिक हो जायगा तो उसकी क़दर कम हो जायगी; और यदि ज़रूरत से कम हो जायगा तो क़दर बढ़ जायगी।

पाँचवाँ भाग।

सम्पत्ति का वितरण।

पहला परिच्छेद।

विषयोपक्रम।
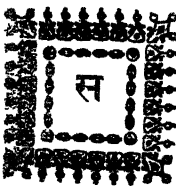
समाज की प्रथमावस्था में लोगों को स्वामित्व का कुछ भी ख़याल न था। मिलकियत क्या चीज़ है, इस बात को लोग बिलकुल ही न जानते थे। यह चीज़ मेरी है, यह पराई है— इसका स्वप्न में भी किसी को ज्ञान न था। जो जिस पेड़ से चाहता था फल तोड़ लेता था; जो जिस ज़मीन से चाहता था कन्द-मूल खोद लेता था; जो जिस जानवर को चाहता था अपना शिकार बनाता था; जो जिस तालाब में चाहता था मछली मारता था। वह एक अजीब ज़माना था। न ज़मींदार थे, न महाजन थे, न मज़दूर थे। सब आदमी सब चीज़ों के बराबर हक़दार थे। सभ्यता के सञ्चार ने धीरे धीरे मिलकियत का ख़याल लोगों के दिलों में पैदा कर दिया। जैसे जैसे सभ्यता बढ़ती गई वैसेही वैसे यह ख़याल भी जड़ पकड़ता गया कि यह मेरा घर है, यह मेरा खेत है, यह मेरी ज़मीन है। अर्थात् खेत, ज़मीन, आदि के रूप में सम्पत्ति को सब लोग अपनी अपनी समझने लगे। यह ज़मीन हमारी है, यह रुपया तुम्हारा है, यह खेत उनका है—इस तरह की बातें मनुष्यों के मन में धीरे धीरे दृढ़ हो गईं। सब लोग अपनी अपनी चीज़ पर अपना अपना हक़ बतलाने लगे। सम्पत्ति के विभाग हो गये। वह बँट गई। शुरू शुरू में न कोई महाजन था, न कोई मालिक था, न कोई मुलाज़िम था, न कोई मज़दूर था। धीरे धीरे ये सब हो गये और सम्पत्ति को आपस में बाँट लेने लगे।

मिलकियत का होना—यह मेरा है, यह पराया है, इस बात का माना जाना—सारी बुराइयों की जड़ है । अनेक विद्वानों और विचारशील जनों की यही राय है । भला और बातों में मिलकियत का दावा यदि कोई करे तो विशेष आक्षेप की बात नहीं; पर ज़मीन को क्या कोई मा के पेट से अपने साथ लाता है, अथवा क्या ज़मीन किसी की बनाई बनती है ? फिर भला ज़मीन पर किसी की मिलिकियत कैसी ! परन्तु इस बहस की यहाँ ज़रूरत नहीं । क्योंकि मिलकियत का हक़ सर्वमान्य हो गया है । हर आदमी अपने को अपनी सम्पत्ति का मालिक समझता है । अतएव हम यहाँ पर सिर्फ़ इस बात का विचार करेंगे कि सम्पत्ति के हिस्सेदार कौन कौन हैं—वह किन किन आदमियों में वितरित होती है ।

यह लिखा जा चुका है कि ज़मीन, मेहनत और पूँजी के बिना सम्पत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यही तीन चीज़ें उसकी उत्पत्ति के कारण हैं । अतएव उत्पन्न हुई सम्पत्ति का वितरण भी इन्हीं तीन चीज़ों के मालिकों में होना चाहिए । अर्थात् उसका कुछ हिस्सा ज़मीन के मालिकों को, कुछ मेहनत करने वालों को और कुछ पूँजी लगाने वालों को मिलना चाहिए । सम्पत्ति के यही तीन हिस्सेदार हैं । इसका स्पष्टीकरण दरकार है ।

इस देश में जो किसान अपने हाथ से हल जोतते हैं उनमें से अधिकांश ऐसेही हैं जिनके पास न तो निज की ज़मीन ही है और न पूँजी ही है । ज़मीन तो वे ज़मींदार से लेते हैं और पूँजी महाजन से । सिर्फ़ मेहनत ही उनकी निज की है । सब मेहनत भी उनकी नहीं । बहुधा खेत निकाने, सींचने और काटने इत्यादि के लिए उन्हें मज़दूर डालने पड़ते हैं । इसी से फ़सल कटने पर जब जिन्स तैयार होती है तब बेचारे किसानों के हाथ उसका बहुत ही थोड़ा हिस्सा लगता है । पहले उन्हें ज़मींदार को ज़मीन का लगान देना पड़ता है, फिर जिस महाजन से क़र्ज़ लेकर बीज आदि लिया था और अनाज पैदा होने तक खाया पिया था उसे सूद-सहित क़र्ज़ अदा करना पड़ता है । इसके सिवा मज़दूरों की मज़दूरी भी उन्हें देनी पड़ती है । मज़दूरी का अधिकांश तो जिन्स तैयार होने के पहलेही दे दिया जाता है । बाक़ी जो कुछ रह जाता है उनके हाथ लगता है । अतएव किसानों को खेत

से उत्पन्न हुई सम्पत्ति का सर्वांश भोग करने को नहीं मिलता। उनकी उत्पन्न की हुई सामग्री का—

(१) कुछ अंश ज़मींदार को देना पड़ता है।

(२) कुछ अंश महाजन को देना पड़ता है।

(३) कुछ अंश मज़दूरों को देना पड़ता है।

अर्थात् ज़मींदार, महाजन और मज़दूर ही सम्पत्ति के हिस्सेदार हैं। सम्पत्ति का वितरण विशेष करके इन्हीं तीन लोगों में होता है। इनके सिवा सम्पत्ति के दो हिस्सेदार और भी हैं। कल-कारख़ानों की बदौलत जो सम्पत्ति पैदा होती है उनके मालिकों को भी कुछ देना पड़ता है। इस लिए सम्पत्ति के हिस्सेदारों का यह चौथा वर्ग भी माना जाता है। हिन्दुस्तान ऐसे पराधीन देश की सम्पत्ति की हिस्सेदार हमारी गवर्नमेंट भी है। अतएव उसे भी शामिल कर लेने से हिस्सेदारों के पाँच वर्ग हो जाते हैं; यथाः— ज़मींदार, गवर्नमेंट, महाजन, कारख़ाने के मालिक और मज़दूर—

(१) जो हिस्सा ज़मींदार को मिलता है उसका नाम है लगान

(२) जो गवर्नमेण्ट को मिलता है उसका नाम है मालगुज़ारी।

(३) जो महाजन को मिलता है उसका नाम है सूद।

(४) जो कारख़ानों के मालिकों को मिलता है उसका नाम है मुनाफ़ा।

(५) जो मज़दूरों को मिलता है उसका नाम है मज़दूरी या वेतन।

इस भाग में इन्हीं बातों का संक्षेप-पूर्वक विचार करना है। लगान, मालगुज़ारी, सूद, मुनाफ़ा और मज़दूरी के नियम क्या हैं; उनका परस्पर सम्बन्ध कैसा है; एक में कमी-बेशी होने से दूसरे में किस प्रकार और कैसे फेरफार होते हैं—इन विषयों के सम्बन्ध में सम्पत्तिशास्त्र में अनेक सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं। उन्हीं का दिग्दर्शन इस भाग में किया जायगा। सूद भी एक तरह का मुनाफ़ा है। पर उसमें और कारख़ाने के मालिकों के मुनाफ़े में कुछ फ़र्क़ है। इससे इन दोनों का विवेचन अलग अलग करना पड़ता है।

लगान, सूद और मज़दूरी कहीं कहीं एकही आदमी को मिलती है, कहीं कहीं जुदा जुदा आदमियों को। जिसकी ज़मीन है वही यदि पूँजी-

भी लगावे और मेहनत भी करे तो सम्पत्ति के ये तीनों हिस्से उसे ही मिल जायँ। पर हिन्दुस्तान ऐसे अभागी देश के लिए यह बात कहाँ ! यहाँ की गवर्नमेंट ने ज़मीन पर अपना दख़ल कर लिया है। वह कहती है यहाँ की ज़मीन उसी की है—वही उसकी मालिक है। अतएव यदि कोई पूँजी और मेहनत दोनों अपनी ही लगावे तो भी उसे लगान गवर्नमेण्ट को देना पड़ता है। पर ऐसा बहुत कम होता है। यहाँ के किसानों को पूँजी भी महाजन से लेकर लगानी पड़ती है। इससे उन बेचारों को ज़मीन से उत्पन्न हुई सम्पत्ति का सिर्फ़ एक अंश अर्थात् केवल मज़दूरी, मिलती है। बहुधा उन्हें मज़दूरी भी और लोगों से करानी पड़ती है। इस दशा में मज़-दूरी में से भी कुछ हिस्सा औरों को बांट देना पड़ता है। यह सब करने के बाद शायद ही किसी को कुछ बचता हो।

ज़मीन, मेहनत और पूँजी से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति का विभाग भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से होता है। योरप के कई देशों में सम्पत्ति की उत्पत्ति के तीनों साधन—ज़मीन, मेहनत और पूँजी—एकही आदमी के अधीन है। पर इस देश के भाग्य में यह बात नहीं। लगान, सूद और मज़दूरी आदि का परिमाण भी सब देशों में एकसा नहीं होता। कहीं कम होता है, कहीं अधिक। हिन्दुस्तान के महाजनों को जितना सूद मिलता है, इँगलेंड वालों को उतना नहीं मिलता। इसी तरह इँगलेंड के मज़दूरों को जितनी मज़दूरी मिलती है, हिन्दुस्तान वालों को उतनी नहीं मिलती। यही हाल लगान का भी है। इँगलेंड में लगान का निर्ख़ चढ़ा-ऊपरी से निश्चित किया जाता है। इससे उसमें बचत की जगह रहती है। हिन्दुस्तान में गवर्नमेंट अपनी समझ के अनुसार मनमाना लगान लगाती है और उसे दस, बीस या तीस वर्ष बाद बढ़ाती रहती है। इससे इस देश में ज़मीन का लगान बहुत बढ़ गया है—इतना कि हर साल हज़ारों किसानों को लोटा थाली बेचकर भीख माँगने की नौबत आती है।

जिस तरह ज़मीन से उत्पन्न हुई उपज का विभाग होता है प्रायः उसी तरह कल-कारख़ानों से उत्पन्न हुई चीज़ों का भी विभाग होता है। क्योंकि जो चीज़ें कलों की मदद से तैयार होती हैं, या हाथ से बनाई जाती हैं,

वे भी तो किसी न किसी रूप में ज़मीन ही से पैदा होती हैं। सारा कच्चा बाना ज़मीन ही की बदौलत प्राप्त होता है। इस तरह की चीज़ों के विभाग में जो थोड़ा सा अन्तर है वह मुनाफ़े का प्रकरण पढ़ने से मालूम हो जायगा।

दूसरा परिच्छेद।

लगान।

किसी की ज़मीन, जंगल, नदी, तालाब, खान, मकान आदि का व्यवहार करने के लिए जो कुछ बदले में दिया जाता है उसका नाम लगान है। समाज की आदिम अवस्था में आदमी जितनी ज़मीन जोतना चाहते थे, जितनी लकड़ी काटना चाहते थे, जितनी मछली पकड़ना चाहते थे, जितनी धातु खान से खोदना चाहते थे, सब स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते थे। उन्हें कोई रोकने वाला न था। क्योंकि उस समय इस विशाल पृथ्वी का कोई भी अधिकारी न था। उस समय न शासन की कोई शृंखला थी, न स्वामित्व का किसी को ख़याल था। उस समय "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाला सिद्धान्त सब कहीं चलता था। एक साल जो आदमी ज़मीन जोतता था, दूसरे साल उससे अधिक बलवान आदमी उसे बेदख़ल कर सकता था। तात्पर्य्य यह कि शक्ति पर ही स्वामित्व अवलम्बित था। जो अधिक बलवान् और शक्तिशाली थे वे चिरकाल तक ज़मीन पर क़ाबिज़ रहते थे। इसी तरह धीरे धीरे ज़मीन पर एक एक व्यक्ति का अधिकार हो गया। इस अधिकार को लोग मानने लगे और जिस ज़मीन पर जिसका अधिकार था वह उसी का स्वामी समझा जाने लगा। क्रम क्रम से जनसंख्या की वृद्धि होती गई। इससे अधिक ज़मीन की चाह हुई। फल यह हुआ कि जिनके पास मतलब से अधिक ज़मीन थी वे उसका कुछ अंश औरों को देकर उसके बदले रुपया या जिन्स लेने लगे। यहीं से लगान की प्रथा चली।

पुराने ज़माने में, हिन्दुस्तान में, ज़मीन पर राजा का स्वामित्व न था। हर आदमी अपनी अपनी ज़मीन का मालिक था। राजा उससे सिर्फ़ उसकी ज़मीन की पैदावार का छठा हिस्सा ले लिया करता था। बस राजा का

सिर्फ़ इतना ही हक़ था। यह एक प्रकार का कर था, ज़मीन का लगान नहीं। यह इसलिए लिया जाता था जिसमें उसके ख़र्च से राजा फ़ौज आदि रख सके और अपनी प्रजा के जान-माल की रक्षा कर सके। परन्तु राज्य-क्रान्ति के कारण पुरानी वस्तु-स्थिति इस समय बिलकुल ही बदल गई है। अब ज़मीन की मालिक गवर्नमेंट बन गई है। वह ज़मीन का लगान लेती है और लोगों को लाचार होकर देना पड़ता है। पर इसे प्रजा की रक्षा के लिए लगान के रूप में कर न समझिए। यह रक्षण-कर नहीं है; यह ज़मीन जोतने—ज़मीन को काम में लाने—का बदला है। अथवा यों कहिए कि लगान नहीं यह एक प्रकार का किराया है। सरकारी ज़मीन, सरकारी ज़मीन पर की खानें, सरकारी ज़मीन पर के तालाब बिना किराये—बिना भाड़े के—नहीं मिलते। इसी भाड़े—इसी किराये—इसी कर का नाम लगान है।

ज़मीन का लगान लेने की दो रीतियाँ हैं। एक तो रिवाज, दूसरी चढ़ा-ऊपरी। किसी किसी देश में, वहाँ के रीति-रिवाज के अनुसार, पैदावार का आधा, तिहाई, चौथाई या पाँचवाँ हिस्सा लगान लिया जाता है। किसी किसी देश में लगान की मर्य्यादा चढ़ा-ऊपरी पर अवलम्बित रहती है। अर्थात् जो सबसे अधिक लगान देता है वही ज़मीन पाता है और उसी की दी हुई रक़म लगान की मर्य्यादा मानी जाती है।

ज़मीन एक ऐसी चीज़ है जिसका संग्रह बढ़ नहीं सकता। अर्थात् वह जितनी है उतनी ही रहती है। उसकी आमदनी तो कहीं से होती नहीं; इससे उसका संग्रह नहीं बढ़ता पर उसका खप सब कहीं है—उसकी ज़रूरत सब कहीं है। प्रजावृद्धि के साथ साथ उसकी ज़रूरत और भी अधिक होती जाती है—अर्थात् उसका खप और भी बढ़ता जाता है। खप अधिक होने से चीज़ों की क़ीमत बढ़ती है। यह बात पहले किसी प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है। ज़मीन का खप अधिक होने से उसकी भी क़ीमत बढ़नी ही चाहिए। ज़मीन की क़ीमत के बढ़ने से मतलब, उसे उपयोग में लाने के बदले जो लगान देना पड़ता है उसके बढ़ने से है। क़ीमत बढ़ना और कुछ नहीं, लगान बढ़ना है। अब इस बात का विचार करना है कि सब तरह की

ज़मीन का लगान एकसा क्यों नहीं होता ? जुदा जुदा ज़मीन का लगान जुदा जुदा क्यों होता है ?

ज़मीन में दो गुण होने से लगान आता है। एक तो उसमें उपजाऊपन होना चाहिए। दूसरे उसे सुभीते की जगह होना चाहिए। इन दो बातों के न होने से कोई ज़मीन का लगान देने पर राज़ी न होगा। जो ज़मीन उपजाऊ नहीं है—जो रेतीली या पहाड़ी है—अतएव जिसमें कुछ नहीं पैदा होता, उसे कौन लेगा ? और यदि वह उपजाऊ है, पर बस्ती से बहुत दूर है, या वहाँ की आबोहवा अच्छी नहीं है तो भी कोई उसका लगान न देगा। क्योंकि दूर जाकर खेती करने और वहाँ से अनाज ढोकर घर या किसी बाज़ार में ले जाने का सुभीता सहज में नहीं हो सकता। ग्वालियर की रियासत में लाखों बीघे ज़मीन परती पड़ी हुई है। वह उपजाऊ तो है, पर बस्ती से बहुत दूर है। इससे उसका लगान नहीं आता। हाँ, यदि, वहाँ बस्ती हो जाय तो ज़रूर उसका लगान आने लगे। मतलब यह कि जब ज़मीन उपजाऊ होकर सुभीते की जगह में होती है तभी उसका लगान आता है, अन्यथा नहीं। ज़मीन के उपजाऊपन और मौक़े में न्यूनाधिकता होती है। इसीसे लगान में भी न्यूनाधिकता होती है।

कल्पना कीजिए कि एक जगह "क" नामक है। उसकी आबोहवा भी अच्छी है और ज़मीन भी अच्छी है। इसीसे वहाँ १०० घर की एक बस्ती है। इस बस्ती के पास की ज़मीन से वहाँ वालों की आहारोपयोगी सब सामग्री पैदा हो सकती है। धीरे धीरे वहाँ की आबादी बढ़ गई—मनुष्य-संख्या अधिक हो गई। अतएव वहाँ की ज़मीन से उत्पन्न हुई सामग्री से वहाँ वालों का काम न चलने लगा—उनकी ज़रूरतें न रफ़ा होने लगीं।

इस "क" नामक जगह से १० मील दूर "ख" नामक एक जगह और है। वहाँ की आबोहवा तो बहुत अच्छी नहीं, पर ज़मीन उपजाऊ है। एक और जगह "ग" नामक है वह "क" नामक जगह से सिर्फ़ ३ मील दूर है। वहाँ की भी ज़मीन बुरी नहीं, पर उसमें प्रति बीघे ४ मन अनाज कम पैदा होता है। अब यदि "क" नामक स्थान में सब लोगों के लिए काफ़ी अनाज न पैदा होगा तो कुछ आदमी "ख" या "ग" नामक जगह में जाकर ज़रूर खेती

करेंगे। "ग" स्थान में खेती करने से प्रति बीघे ४ मन अनाज कम पैदा होगा और "ख" में करने से ढुलाई आदि का खर्च बाद देकर प्रति बीघे ५ मन अनाज कम मिलेगा। अतएव पहले लोग "ग" नामक स्थान में खेती करेंगे। वहाँ खेती करने से भी यदि मतलब भर के लिए अनाज न उत्पन्न होगा तो "ख" नामक स्थान में भी करने लगेंगे। "ग" नामक स्थान में खेती शुरू होते ही "क" नामक स्थान की ज़मीन का लगान आने लगेगा। बिना लगान फिर कोई वहाँ की ज़मीन न पा सकेगा। वहाँ का ज़मींदार उस समय से अपनी ज़मीन का लगान फ़ी बीघा ४ मन अनाज पावेगा। क्योंकि "ग" नामक ज़मीन की अपेक्षा "क" ज़मीन मे ४ मन अनाज अधिक पैदा होता है। अब यदि "ख" नामक स्थान में भी लोग लाचार होकर खेती करने लगेंगे तो "क" स्थान के ज़मींदार को फ़ी बीघे ५ मन और "ग" नामक स्थान के ज़मींदार को फ़ी बीघे १ मन अनाज लगान मिल सकेगा। क्योंकि "ख" नामक स्थान की ज़मीन की अपेक्षा "क" नामक ज़मीन मे ५ मन और "ग" में १ मन अधिक अनाज पैदा होता है।

अनाज मनुष्य का प्राणरक्षक होने के कारण सभी लोग उसे पाने का यत्न करते हैं। अतएव सार्वदेशिक माँग होने के कारण "ख" नामक ज़मीन का अनाज जिस भाव बिकेगा, "क" और "ग" नामक ज़मीन का भी अनाज उसी भाव बिकेगा। पर "ख" नामक ज़मीन की अपेक्षा "क" और "ग" नामक ज़मीन के मालिकों को यथाक्रम ५ और १ मन अनाज लगान मिलेगा। इस लगान के कारण अनाज मोल लेने वालों को कुछ भी हानि-लाभ न होगा। क्योंकि "ख" और "ग" नामक स्थानों से अनाज ढोने आदि में किसानों को जो खर्च पड़ेगा, "क" नामक स्थान में खेती करने से उतना ही लगान देना पड़ेगा। दोनों रकमें बराबर हो जायँगी। अनाज न पहले से मँहगा बिकेगा न सस्ता।

यदि "क" और "ग" नामक स्थानों के ज़मींदार किसानों से लगान लेना बन्द कर दें तो अनाज मोल लेने वालों को तो नहीं, पर किसानों को अलबत्ते फ़ायदा होगा। क्योंकि "ख" नामक स्थान की जो बिना लगान की ज़मीन है उसी की उपज के खप के अनुसार अनाज का भाव स्थिर

होगा । अतएव यह कहना चाहिए कि बाज़ार-भाव पर लगान का कुछ भी असर नहीं पड़ता । "क" और "ग" नामक स्थानों के किसान जो अनाज पावेंगे उसे वे यदि सस्ता बेचेंगे तो "ख" नामक स्थान वाले उनके साथ चढ़ा-ऊपरी करने में सफलमनोरथ न होंगे । यदि वे खेती करना बन्द कर देंगे तो "क" और "ग" नामक स्थानों की ज़मीन की उपज से उनकी ज़रूरत न रफ़ा होगी । अतएव अनाज का भाव फिर आप ही आप चढ़ेगा । और फिर "ख" स्थान वालों को खेती करनी पड़ेगी । इन बातों से यह निष्कर्ष निकला कि "ख" नामक १० मील दूर की ज़मीन, और "ग" नामक कम उपजाऊ ज़मीन, का अनाज "क" नामक स्थान में बेचने के लिए लाने से जो परता पड़ता है, उससे "क" नामक स्थान के अनाज का परता लगाने पर जितना अनाज अधिक निकलेगा उतना ही "क" स्थान की ज़मीन का लगान होगा ।

तालाब और जङ्गल की उपज पर भी इसी नियम के अनुसार लगान लगना चाहिए । परन्तु खान से उत्पन्न होने वाली चीज़ों के विषय में यह नियम नहीं चल सकता, क्योंकि खनिज चीज़ें खान से निकाल लेने पर फिर वहाँ कुछ नहीं रह जाता । किसान लोग अनाज पैदा होने की आशा से खेत में खाद आदि डाल कर ज़मीन का उपजाऊपन बना रखते हैं । जल से मछली निकाल लेने से जल कम नहीं होता, और जङ्गल से पेड़ काट लाने पर भी नये पेड़ पैदा हुआ करते हैं । पर खान के विषय में यह नहीं कहा जा सकता । इसीसे यह नियम खनिज पदार्थों के लिए नहीं चरितार्थ होता ।

प्रत्येक देश में कुछ ज़मीन ऐसी ख़राब या ऐसी बे सुभीते की होती है कि उसे जोतने बोने से मज़दूरी का ख़र्च और उसमें लगाई गई पूँजी का ब्याज मुश्किल से वसूल होता है । ऐसी ज़मीन का कुछ भी लगान नहीं आ सकता । क्योंकि उसकी उपज से ख़र्च ही मुश्किल से निकलता है, लगान किसके घर से आवेगा । और यदि ज़बरदस्ती लगान लगाया जायगा तो ज़मीन परती पड़ी रह जायगी । ऐसी ज़मीन को "खेती की सबसे निकृष्ट ज़मीन" कहते हैं । उससे भी बुरी ज़मीन हो सकती है, पर वह जोती बोई नहीं जा

सकती । क्योंकि उसमें खेती करने से घाटे के सिवा मुनाफ़ा नहीं हो सकता । हाँ यदि किसी कारण से अनाज महँगा हो जाय तो उसमें भी खेती हो सकेगी । अन्यथा नहीं ।

ऊपर जो "क", "ख" और "ग" नामक स्थानों की ज़मीन के लगान का तारतम्य दिखलाया गया उससे सूचित हुआ कि दो तरह की उपजाऊ ज़मीन की उपज में जो अन्तर होता है वही अन्तर लगान समझा जाता है । यदि एक खेत की उपज की क़ीमत ५० रुपये हो और दूसरे की सिर्फ़ २५ तो पहले खेत का लगान दूसरे खेत के लगान से दूना होगा । अच्छा पहले खेत का लगान तो इस तरह निश्चित किया गया; अब सवाल यह है कि दूसरे, अर्थात् कम उपजाऊ, खेत का लगान किस तरह ठहराया जाना चाहिए । इसके लिए खेती की अत्यन्त निकृष्ट ज़मीन की उपज से मुक़ाबला करना पड़ता है । अर्थात् सबसे निकृष्ट ज़मीन की उपज को उस दूसरे खेत की उपज से घटाने से जो बचेगा वही उस खेत का लगान होगा । कल्पना कीजिए कि "घ" नाम का एक खेत है । उसकी ज़मीन सब से अधिक निकृष्ट है और उसकी उपज की क़ीमत १० रुपये से अधिक नहीं है । एक और खेत "न" नाम का है । उसकी ज़मीन कुछ अधिक उपजाऊ है और साल में १६ रुपये का अनाज उसमें पैदा होता है । अतएव "न" खेत की उपज १६ रुपये में से "घ" खेत की उपज १० रुपये निकाल डालने से ६ रुपये बचते हैं । बस यही ६ रुपये "न" खेत का लगान हुआ । रिकार्डो नामक एक सम्पत्तिशास्त्र के आचार्य्य होगये हैं । उन्हीं का निकाला हुआ यह सिद्धान्त है । अतएव इसका नाम "रिकार्डो का सिद्धान्त" है ।

कौन सी ज़मीन खेती के लिए सब से निकृष्ट है, इसका कोई पक्का नियम नहीं बनाया जा सकता । समय, मौक़ा और देश-स्थिति के अनुसार खेती की सब से निकृष्ट ज़मीन जुदा जुदा तरह की होती है । ज़मीन की अन्तिम निकृष्टता का निश्चय अनाज की तात्कालिक क़ीमत पर अवलम्बित रहता है । क्योंकि ऐसी ज़मीन से उत्पन्न हुई उपज की क़ीमत उसके उत्पन्न करने के खर्च के बराबर होनी चाहिए । अनाज सस्ता होने से निकृष्ट ज़मीन की उपज में जो खर्च पड़ता है वह वसूल नहीं होता । इससे उसे कोई नहीं

जोतता। वह पड़ी रह जाती है। जैसे जैसे अनाज सस्ता होता जाता है वैसेही वैसे निकृष्ट ज़मीन पड़ी रहती जाती है और एक एक दरजा ऊपर की ज़मीन खेती की सब से अधिक निकृष्ट ज़मीन की सीमा के भीतर आती जाती है। इसी तरह जैसे जैसे अनाज महँगा होता जाता है वैसे ही वैसे खेती की सब से अधिक निकृष्ट ज़मीन दरजे बदरजे नीचे उतरती जाती है—अर्थात् निकृष्टतर ज़मीन जुतती चली जाती है। क्योंकि अनाज महँगा होने से कम उपज वाली ज़मीन जोतने से भी फ़ायदा होता है। अतएव इससे यह सिद्धान्त निकला कि अनाज सस्ता होने से निकृष्ट ज़मीन की मर्य्यादा नीचे को उतरती है और महँगा होने से ऊपर को चढ़ती है।

प्रत्येक देश में लगान का निर्ख़ प्रायः जुदा जुदा होता है। इसका कारण यह है कि सब देशों की स्थिति एक सी नहीं होती। बड़े अफ़सोस की बात है, हमारे देश के ज़मींदार और किसान ज़मीन से सम्बन्ध रखने वाली बहुतसी बातों से अनभिज्ञ हैं। खेती करने वाले यही नहीं जानते कि किस प्रान्त या किस ज़िले की ज़मीन जोतने में कितना सुभीता है, और यदि जानते भी हैं तो वहाँ जाकर किसानी करने के लिए आबाद नहीं होते। ज़मींदारों को भी इस बात की ख़बर नहीं कि हमारी ज़मीन में क्या गुण-दोष हैं। वे ज़मीन की उपज बढ़ाने की यथेष्ट चेष्टा नहीं करते। जो कुछ लगान उन्हें मिल जाता है, या जितना अनाज उनकी ज़मीन में पैदा होता है, उसी से वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। रही गवर्नमेन्ट की बात, सो उसे इस बात की बहुत कम परवा है कि ज़मीन का उपजाऊपन कम हो रहा है या अधिक; और यदि कम हो रहा है तो उसे बढ़ाने के लिए क्या करना चाहिए। उसे सिर्फ़ अपनी मालगुज़ारी से मतलब। इन अव्यवस्थाओं के कारण किसानों और ज़मींदारों को बड़ी हानि पहुँचती है। यदि देश में शिक्षा का अधिक प्रचार हो तो ज़मीन के गुण-दोष लोगों की समझ में आ जायँ; वे ज़मीन को अधिक उपजाऊ बनाने का यत्न करें; जहाँ सुभीते की ज़मीन मिल सकती हो वहाँ जाकर खेती करें; यदि कोई उनसे अधिक लगान माँगे तो उसकी ज़मीन छोड़ दें। पर शिक्षा के अभाव से ये बातें लोगों के ध्यान में नहीं आतीं। और और शिक्षित देशों की प्रजा इन कामों को अच्छी तरह

जानती है । इससे यदि वहाँ के ज़मींदार लगान बढ़ाते हैं तो प्रजा उनकी ज़मीन छोड़ कर अन्यत्र चली जाती है और सुभीते की ज़मीन ढूँढ कर वहीं खेती करने लगती है । इससे वहाँ के ज़मींदार प्रजा के साथ सख़्ती नहीं करते । परन्तु यहाँ की दशा वैसी नहीं । यहाँ यदि गवर्नमेन्ट या ज़मींदार को यह मालूम हो जाता है कि कुछ भी अधिक लगान किसी ज़मीन पर लगाया जा सकता है, तो फ़ौरन ही लगा दिया जाता है, और बेचारी प्रजा, और कोई व्यवसाय न कर सकने के कारण, चुपचाप उनकी बात मान लेती है । यदि प्रजा समझदार और शिक्षित होती तो ऐसी ज़मीन को छोड़ देती और ग्वालियर आदि रियासतों में जो लाखों बीघे उपजाऊ ज़मीन परती पड़ी है उसे जाकर थोड़े लगान पर जोतती । हर्ष की बात है, बङ्गाल के कुछ समझदार आदमी अपना देश छोड़ कर खेती के लिए सुभीते की जगहों में अब आबाद होने लगे हैं ।

ज़मीदारों को चाहिए कि पहले वे ख़ुद शिक्षा प्राप्त करें और ज़मीन किस तरह उपजाऊ बनाई जाती है, इसके नियम जानें । पूसा और कानपुर में खेती की विद्या सिखलाने के जो कालेज हैं उनमें उन्हें अपने होनहार लड़कों को भेजना चाहिए । यदि वे ऐसा करेंगे तो उनको और उनकी ज़मीन जोतनेवाले किसान दोनों को फ़ायदा होगा । ज़मींदार शिक्षित होगा तो वह अपनी ज़मीन जोतनेवालों को खेती की उन्नत प्रणाली सिखलावेगा, उसका उपजाऊपन बढ़ाने की तरकीबें बतलावेगा, और अनेक प्रकार से उन्हें उत्साहित करके पैदावार को बढ़ावेगा । इससे लगान भी उसे अधिक मिलेगा और किसानों की दशा भी सुधर जायगी ।

खेती की पैदावार का निर्ख़ ।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, लगान खेती की पैदावार का वह हिस्सा है जो, ज़मीन के उपजाऊपन के ख़याल से, खेती की सबसे निकृष्ट ज़मीन के ख़र्च को निकाल डालने से बाक़ी रहता है । उसका सम्बन्ध सिर्फ़ काश्तकार और ज़मींदार से है, और किसी से नहीं । खेती की पैदावार मोल-लेनेवालों से उसका ज़रा भी सम्बन्ध नहीं । अगर ज़मींदार लगान लेना छोड़ भी दे

तो भी अनाज या खेती की और कोई पैदावार सस्ती न होगी। इस दशा में काश्तकार लगान को अपने घर रक्खेगा और अनाज को बाज़ार भाव से बेचेगा। लगान नहीं देना पड़ा, इसलिए वह उसे सस्ता न बेचेगा। जब वह बाज़ार भाव से अनाज बेच सकेगा तब अपने खेत में काम करनेवालों को क्यों ज़ियादह मज़दूरी देगा और क्यों लगान की जिन्स को कम क़ीमत पर बेचकर और लोगों को फ़ायदा पहुँचावेगा? लगान माफ़ होने से मनुष्य-संख्या कम नहीं होती। और मनुष्य-संख्या कम न होने से अनाज की माँग पूर्ववत् बनी रहती है। उसी माँग के अनुसार अनाज का भाव निश्चित होता है। लगान न लगने से खेती की पैदावार के निर्ख़ पर कुछ भी असर नहीं पड़ता।

साधारण नियम यह है कि जिस पैदावार का भाव सब से अधिक महँगा होता है—अर्थात् परता लगाने पर जो उपज और सब उपजों से अधिक महँगी पड़ती है—उसी के अनुसार उस तरह की सारी पैदावार का भाव निश्चित होता है। इसी बात को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो इस तरह कह सकते हैं कि निकृष्ट-मर्य्यादा की पैदावार के हिसाब से ज़मीन की उपज का भाव ठहराया जाता है, अथवा यों कहिए कि खेती की ज़मीन की निकृष्ट मर्य्यादा के घटने या बढ़ने से पैदावार का भाव घटता बढ़ता है। प्रत्येक देश की ज़मीन की निकृष्ट मर्य्यादा—

(१) उसकी अनाज की आवश्यकता, और

(२) उस आवश्यकता को पूर्ण करने के साधनों से निश्चित होती है।

उदाहरण के लिए इँगलेंड में खेती की ज़मीन तो थोड़ी है, पर मनुष्य-संख्या बहुत है। इस दशा में वहाँ वाले यदि चाहते तो निकृष्ट ज़मीन में भी खेती करते। ऐसा करने से खेती की मर्य्यादा घट जाती और पैदावार का भाव बढ़ जाता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने दूसरे देशों से अनाज महँगा कर अपनी आवश्यकता को पूर्ण कर लिया। इससे उस देश में खेती की पैदावार का भाव नहीं बढ़ने पाया। सारांश यह कि खेती की मर्य्यादा के घट जाने से पैदावार का निर्ख़ महँगा हो जाता है और बढ़जाने से सस्ता।

मनुष्य-संख्या की वृद्धि का असर।

जब तक अनाज महँगा न होगा, खेती करने योग्य ज़मीन का मर्य्यादा नीचे को न उतरेगी। इसका कारण यह है कि बिना अनाज महँगा हुए निकृष्ट ज़मीन में खेती करने से काश्तकारों को लाभ नहीं होता। आबादी बढ़ने से—मनुष्य-संख्या की वृद्धि होने से—अनाज की माँग ज़रूर ही बढ़ जाती है। और माँग बढ़ने से अनाज महँगा हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि खप अधिक होने से उसे महँगा होनाही चाहिए। अतएव सिद्धान्त यह निकला कि देश में आबादी बढ़ जाने से खेती की पैदावार महँगी हो जाती है।

अनाज महँगा होने से खेती की निकृष्ट भूमि नीचे को उतरती है—अर्थात् पहले से भी ख़राब ज़मीन जोती बोई जाने लगती है। ऐसा होने से ज़मीन का लगान बढ़ जाता है। बढ़ना ही चाहिए। क्योंकि वैसी ज़मीन की पैदावार खेती की सबसे निकृष्ट ज़मीन की (जिसकी पैदावार उसके ख़र्च के बराबर है) पैदावार से जितनी अधिक होती है उतना ही लगान लिया जाता है। अर्थात् इन दोनों प्रकार की ज़मीन की पैदावार के अन्तर ही का नाम लगान है। यह अन्तर बढ़ा कि लगान बढ़ना ही चाहिए। कल्पना कीजिए कि "क" नाम की ज़मीन खेती की निकृष्ट मर्य्यादा पर है और उसकी पैदावार ३० है। उसी के पास "ख" नाम की उपजाऊ ज़मीन है। उसकी पैदावार १०० है। अतएव "ख" का लगान १००—३० = ७० हुआ। अब यदि खेती करने योग्य ज़मीन की मर्य्यादा घट जाय तो निकृष्ट ज़मीन की पैदावार भी घट जायगी। मान लीजिए कि खेती की ज़मीन की मर्य्यादा घट जाने से पूर्वोक्त निकृष्ट ज़मीन की पैदावार घट कर २० हो गई। इस दशा में "ख" नाम की ज़मीन का लगान १००—२० = ८० हो जायगा। अर्थात् १० बढ़ जायगा। इससे दूसरा सिद्धान्त यह निकला कि आबादी बढ़ जाने से लगान भी बढ़ जाता है। हिन्दुस्तान में लगान जो बढ़ गया है उसका यह भी एक कारण है।

हिन्दुस्तान की ज़मीन की मालिक रिआया नहीं, अँगरेज़ी गवर्नमेन्ट है। वही रिआया से लगान वसूल करती है। अतएव लगान बढ़ने से गवर्नमेन्ट का ही फ़ायदा होता है। हाँ, बङ्गाल और दो एक जगहों की ज़मीन के विषय में यह

बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि वहाँ की ज़मीन का बन्दोबस्त इस्तमरारी है। जो लगान गवर्नमेन्ट ने एक दफ़े बांध दिया है वही लेती जाती है। अतएव वहाँ लगान बढ़ने से गवर्नमेन्ट को नहीं, किन्तु ज़मीन के मालिक ज़मींदारों को फ़ायदा होता है। अनाज महँगा हुए बिना लगान नहीं बढ़ता। और अनाज महँगा होते ही सारी जिन्सों की क़ीमत बढ़ जाती है—वे सब महँगी हो जाती हैं। रोज़ के व्यवहार की सैकड़ों चीज़े महँगी हो जाने से ख़र्च की मात्रा पहले से अधिक हो जाती है। इससे ग़रीब आदमियों को पेट भर खाने को नहीं मिलता। देश में महर्घता होने से जिसे देखो वही पेट पर हाथ रक्खे घूमता है। संग्रह और पूँजी का देश में कहीं नाम नहीं। फल यह होता है कि मज़दूरों को मज़दूरी नहीं मिलती और चारों ओर हाहाकार मचा रहता है।

किसी किसी का यह ख़याल है कि आबादी बढ़ने से देश समृद्धिशाली होता है। यह भ्रम है। आबादी बढ़ने से सब देशों की उन्नति नहीं होती। जहाँ बहुत सी उपजाऊ ज़मीन परती पड़ी हो, और व्यवहारोपयोगी सब चीज़ें सस्ती हों, वहीं आबादी बढ़ने से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न हो सकती है, और सम्पत्ति की अधिक उत्पत्ति से वहीं के निवासी पहले से अधिक समृद्धिशाली होसकते हैं। आबादी बढ़ने से अनाज का खप अधिक होता है। अच्छो ज़मीन सब जुतजाने से, बढ़े हुए खप के बराबर अनाज की आमदनी करने के लिए बुरी ज़मीन जोतनी पड़ती है। इससे उत्पत्ति का ख़र्च बढ़ता है और अनाज महँगा हो जाता है। अनाज महँगा होने से व्यवहार की प्रायः सभी चीज़ें महँगी होजाती हैं। इसका परिणाम क्या होता है, सो ऊपर लिखाही जा चुका है। हाँ यदि आबादी बढ़े, पर उसकी बढ़ती के साथ उपजीविका का ख़र्च न बढ़े, तो देश की हानि नहीं हो सकती। आस्ट्रेलिया और अमेरिका में बहुत सी उपजाऊ ज़मीन पड़ी हुई है और मज़दूरों की संख्या भी कम है। वहाँ आबादी बढ़ने से हानि के बदले लाभ होने की अधिक सम्भावना है। पर हिन्दुस्तान की स्थिति वैसी नहीं। यहाँ बहुत कम अच्छी ज़मीन परती रह गई है। मज़दूरों की भी कमी नहीं है। अतएव यहाँ आबादी बढ़ने से देश का लाभ नहीं हो सकता।

यहाँ गत तीस चालीस वर्ष में जिस मान से आबादी बढ़ी है उस मान से सम्पत्ति की वृद्धि नहीं हुई। उलटा, सर्वसाधारण की उपजीविका के साधन घट गये हैं। करोड़ों आदमियों को दिन रात में एक बार भी पेट भर खाने को नहीं मिलता। फिर, यह देश कृषि-प्रधान है। खेती से ही निर्वाह करने वालों की संख्या यहाँ अधिक है। ज़मीन का उपजाऊपन पहले से बहुत कम हो गया है। लोगों के पास किसी तरह की पूँजी या अनाज का संग्रह नहीं है। एक ही फ़सल बिगड़ जाने से कृषि-जीवियों को या तो चार पाँच पैसे रोज़ पर सरकार के इमदादी कामों पर मज़दूरी करनी पड़ती है या घर घर भीख माँगनी पड़ती है। और समृद्धिशाली देशों की अपेक्षा यहाँ .. फ़ी आदमी की आमदनी आधी भी नहीं है। इस दशा में आबादी बढ़ने से देश की हानि होगी या लाभ, इसका अनुमान सहज ही में हो सकता है। यहाँ की साम्पत्तिक अवस्था ऐसी नाज़ुक है कि एक ही साल के अकाल से लोग दाने दाने को मुहताज हो जाते हैं। उनके परिमित दानों के हिस्सेदारों की संख्या बढ़ना मानों दारिद्र की करालता और दुर्भिक्ष की भीषणता से देश का सर्वनाश होना है!

हिन्दुस्तान में लगानसम्बन्धी बन्दोबस्त।

इस देश में लगान वसूल करने का रिवाज ही कुछ और है। यहाँ स्पर्द्धा से लगान नहीं ठहराया जाता। ज़मीन के लगान से सम्बन्ध रखने वाले यहाँ दो तरह के बन्दोबस्त हैं—इस्तिमरारी और ग़ैर-इस्तिमरारी। बङ्गाल और बिहार में लगान का इस्तिमरारी बन्दोबस्त है। उसे अँगरेज़ी में "परमेनेंट सेटलमेंट" कहते हैं। वहाँ लगान में कभी कमी-बेशी नहीं होती। जो लगान नियत हो गया है वही देना पड़ता है। जैसे और प्रान्तों में दस, सोलह, बीस या तीस वर्ष बाद फिर नया बन्दोबस्त होता है; फिर ज़मीन की माप होती है; और फिर नये सिरे से लगान लगाया जाता है; वैसा बङ्गाल में नहीं होता। बङ्गाल में ज़मींदार ही ज़मीन के मालिक हैं। उनको इस बात का विश्वास है कि यह ज़मीन हमारी है; हम बेदख़ल नहीं किये जायँगे; और न हमसे लगान ही अधिक लिया जायगा। इसी से वे लोग

घर की पूँजी लगा कर ज़मीन को अधिक उपजाऊ बनाते हैं। फल यह होता है कि उनको भी फ़ायदा होता है और देश की सम्पत्ति भी बढ़ती है। सम्पत्ति बढ़ने से परम्परा से सरकार को भी लाभ ही होता है।

बङ्गाल और बिहार को छोड़ कर अन्यत्र सब कहीं ग़ैर-इस्तिमरारी अर्थात् चन्दरोज़ा बन्दोबस्त है। वहाँ हर बन्दोबस्त के बाद लगान की शरह बदला करती है। इसमें दो भेद हैं युक्त-प्रदेश, मध्य-प्रदेश और पञ्जाब में ज़मींदारी रीति से लगान वसूल किया जाता है और ब्रह्मा, आसाम, मदरास और बम्बई में रैयतवारी रीति से। जहाँ ज़मींदारी रीति है वहाँ ज़मीदार ही सरकार को लगान देने का ज़िम्मेदार होता है, चाहे वह ख़ुद ज़मीन जोते चाहे औरों से जुतावे। जहाँ यह रीति है वहाँ ज़मींदार लोग काश्तकारों से मनमाना लगान लेते हैं और एक निश्चित मीयाद के बाद उन्हें ज़मीन से बेदख़ल भी कर सकते हैं। कोई कोई ज़मींदार सरकार को जितना लगान देते हैं उससे बहुत ज़ियादह काश्तकारों से वसूल करते हैं। इससे बेचारे काश्तकारों को साल भर मेहनत करने पर भी पेट भर खाने को नहीं मिलता। उनकी मेहनत का अधिकांश फल ज़मींदार और महाजन ही के घर चला जाता है। उन पर क़र्ज़ लदता जाता है और दो चार वर्ष बाद उनके हल बैल सब बिक जाते हैं। धन्यवाद की बात है जो गवर्नमेंट ने क़ानून बना कर इन बुराइयों को बहुत कुछ कम कर दिया है। जहाँ रैयत-वारी रीति से लगान लिया जाता है वहाँ ज़मींदार की मध्यस्थता नहीं दरकार होती। सरकार ख़ुद ही ज़मींदार बन कर काश्तकारों से लगान वसूल करती है। जहाँ यह रीति है वहाँ की भी रिआया ख़ुश नहीं। सरकार अपना लगान लेने से नहीं चूकती; पर ज़मीन सुधारने के लिए प्रायः कुछ भी ख़र्च नहीं करती। ज़मीन को उपजाऊ बनाने या न बनाने की ज़िम्मेदारी काश्तकारों ही के सिर रहती है। पर उनको यह डर लगा रहता है कि सरकार जब चाहेगी लगान बढ़ा देगी, या ज़मीन ही से बेदख़ल कर देगी। इससे वे घर की पूँजी लगा कर ज़मीन को उपजाऊ बनाने की बहुत कम कोशिश करते हैं। जैसा बना थोड़ी बहुत खाद डाल कर जोता बोया करते हैं। ज़मीन निःसत्व हो जाने और पैदावार बहुत कम होने पर भी

उन्हें ज़मीन जोतनी ही पड़ती है। क्योंकि न जोतें तो खायँ क्या? पड़ी रहने दें तो भी लगान देना ही पड़े। इससे धीरे धीरे ज़मीन का उपजाऊपन नष्ट होता जाता है; पर लगान कम नहीं होता, अधिक चाहे भले ही हो जाय। जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान नहीं बेबाक़ होता तब क़र्ज़ लेना पड़ता है। क्रम क्रम से क़र्ज़ की मात्रा बढ़ती जाती है और एक दिन घर-द्वार, बैल-बधिया नीलाम हो जाते हैं। खेती ही प्रधान व्यवसाय ठहरा। उसकी यह दशा होने से लोगों को भीख मांगने की नौबत आती है। इससे सरकार की भी हानि होती है। बहुत सी ज़मीन पड़ी रह जाती या लाचार होकर बहुत थोड़े लगान पर उठानी पड़ती है। खेती कम होने से अनाज कम पैदा होता है। अनाज की कमी से उसका भाव महँगा हो जाता है। इस दशा में यदि किसी साल पानी न बरसा तो भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ता है और लाखों आदमी मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं। बम्बई और मदरास में हर साल हज़ारों काश्तकारों की ज़मीन नीलाम होती है। बताइए, इन लोगों के बाल-बच्चों की क्या दशा होती होगी? यह रीति ऐसी बुरी है कि रिआया की अवस्था सुधारने के लिए सरकार को विशेष क़ानून बनाने की ज़रूरत पड़ा करती है। तिस पर भी सरकार इस रिवाज को बन्द नहीं करती। यदि हर साल हज़ारों आदमियों के घर-द्वार उजड़ते चले जायँगे तो देश की बड़ी ही भयङ्कर दशा होगी। इससे न सरकार ही का फ़ायदा है, न रिआया ही का।

जो हानियाँ काश्तकारों को ग़ैर-इस्तिमरारी बन्दोबस्त के कारण उठानी पड़ती हैं उनको दूर करने के लिए यदि बङ्गाल का ऐसा दवामी बन्दोबस्त सब कहीं हो जाय तो बहुत अच्छा हो। इस देश के हितचिन्तक सम्पत्ति-शास्त्रज्ञों की यही राय है; पर सरकार ऐसा नहीं करना चाहती, यह अफ़सोस की बात है।

तीसरा परिच्छेद।

मालगुज़ारी।

सम्पत्ति का कुछ हिस्सा ऐसा भी है जो न ज़मींदार को मिलता है,

न महाजन को, न कारख़ानों के मालिकों को, न हाथ से काम करने वाले दस्तकारों और मज़दूरों वग़ैरह को। वह गवर्नमेंट को मिलता है। अतएव गवर्नमेंट भी हिन्दुस्तान की सम्पत्ति की हिस्सेदार है।

मालगुज़ारी और महसूलों (करों) के रूप में जो सम्पत्ति सरकारी ख़ज़ाने में जाती है उसके विषय में मतभेद है। सम्पत्ति-शास्त्र के ज्ञाताओं की दृष्टि में यह विषय विवादास्पद है। उन्हें सन्देह इस बात का है कि इस विषय को सम्पत्ति के उपभोग के प्रकरण में रखना चाहिए या सम्पत्ति के वितरण के प्रकरण में? क्या सरकार को सम्पत्ति का पाँचवाँ हिस्सेदार समझना चाहिए, या यह समझना चाहिए कि ज़मींदारों, महाजनों, कारख़ानों के मालिकों और मज़दूरों के हिस्सों में से कुछ सम्पत्ति राज्य-प्रबन्ध चलाने के लिए सरकार को दी जाती है। किसी किसी की राय है कि सरकार ख़ुद सम्पत्ति उत्पन्न करती है। वह नहरें निकालती है, सड़कें बनवाती है, पुल तैयार कराती है और और भी कितने ही सर्वसाधारण के लिए उपयोगी काम करती है। इन कामों में रुपया ख़र्च होता है—पूँजी लगती है। अतएव सम्पत्ति के वितरण में सरकार को भी एक हिस्सा मिलना चाहिए। इसी हिस्से का नाम महसूल या मालगुजारी है। परन्तु दूसरे पक्ष वाले इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं कि सरकार और भी कितने ही काम ऐसे करती है जो बिलकुल ही अनुत्पादक हैं। उदाहरण के लिए वह लड़ाकू जहाज़ और बड़ी बड़ी फ़ौजें रखती है। उसमें करोड़ों रुपया ख़र्च होता है। पर यह सिर्फ़ इस मतलब से नहीं ख़र्च किया जाता कि प्रजा को सुख मिले और देश में शान्ति रहे। किन्तु इस मतलब से भी ख़र्च किया जाता है कि कोई प्रबल शत्रु अपने अधीन देश को छीन न ले। अथवा इस मतलब से ख़र्च किया जाता है कि राजा का महत्त्व बढ़े—उसकी प्रभुता पहले से अधिक हो जाय—और शाही घराने की शक्ति इतनी दुर्धर्ष हो उठे कि कोई उसे राज्यच्युत न कर सके। इस तरह का ख़र्च उत्पादक नहीं। इससे लगाई गई सम्पत्ति का बदला सम्पत्ति के रूप में कुछ भी नहीं मिलता। अतएव सरकार सम्पत्ति के वितरण में हिस्सा नहीं पा सकती। फिर एक बात और भी है कि महसूल देना सम्पत्ति के विनिमय का कोई

अंश नहीं। यह नहीं कि अपनी ख़ुशी से कोई चीज़ सरकार को दी और कोई दूसरी चीज़ उसके बदले में लेली। अर्थात् प्रजा इस बात के लिए मजबूर की जाती है कि अपनी आमदनी में से कुछ न कुछ सम्पत्ति वह सरकार को दे।

सच तो यह है कि दोनों पक्षों के समर्थकों का कहना ठीक है। क्योंकि जो महसूल या मालगुज़ारी सरकार को मिलती है वह एक हिसाब से सम्पत्ति के वितरण, और एक हिसाब से सम्पत्ति के उपभोग से सम्बन्ध रखती है। अर्थात् दोनों बातें आपस में एक दूसरे से मिली हुई हैं। अतएव सम्पत्ति के वितरण-प्रकरण में सरकारी मालगुज़ारी के विषय में विचार करना बे मौक़े नहीं कहा जा सकता।

राजा का काम बिना कर लिये नहीं चल सकता। कर उसे ज़रूर ही लेना चाहिए। यदि वह कर न लेगा तो प्रजा की रक्षा और प्रजा के आराम का प्रबन्ध वह कैसे कर सकेगा? कर के रूप में प्रजा से द्रव्य प्राप्त करके राजा जो रेल, सड़कें और नहरें आदि बनवाता है उससे व्यवहार की चीज़ों के गमनागमन में बड़ा सुभीता होता है। रेल या अच्छा रास्ता न होने के कारण पहले अनाज एक जगह से दूसरी जगह नहीं भेजा जा सकता था। जहाँ पैदा होता था वहीं बिकता था। अतएव उससे और लोगों को कुछ भी फ़ायदा न पहुँचता था। पर रेल और सड़कों की बदौलत अब वह अधिक मूल्यवान् हो गया है और दूसरे देशों की ज़रूरतें भी वह दूर कर सकता है। सरकार जो कर, जो महसूल या जो मालगुज़ारी प्रजा से वसूल करती है उससे वह पुलिस और न्यायाधीश आदि नौकर रख कर चोरों, लुटेरों और डाकुओं से सम्पत्तिवान् आदमियों की रक्षा करती है—उन्हें अपने परिश्रम का फल भोग करने को समर्थ करती है। इससे सेना बढ़ाने और युद्ध का ख़र्च वसूल करने के लिए जो कर सब लोगों को देना पड़ता है उसका विचार यदि सम्पत्ति-शास्त्र के इस सम्पत्ति वितरण-विभाग में न हो तो न सही; पर व्यावहारिक वस्तुरूपी सम्पत्ति उत्पन्न और तैयार करने वालों के लाभ के लिए जो महसूल या जो कर लिया जाता है उसका विचार तो यहाँ होना ही चाहिए।

करों के तारतम्य का विचार हम इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध में करेंगे। करों से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों का उल्लेख भी वहीं होगा और जो कर इस देश की गवर्नमेंट प्रजा से लेती है उनका भी दिग्दर्शन वहीं किया जायगा। यहाँ, इस परिच्छेद में, हम गवर्नमेंट की सिर्फ़ उस नीति का थोड़े में विचार करेंगे जिसके अनुसार वह ज़मीन की मालगुज़ारी प्रजा से वसूल करती है। सरकार को जो आमदनी प्रजा से होती है उसका अधिकांश उसे ज़मीन की मालगुज़ारी से ही मिलता है। प्रजा के जीवन-मरण और दरिद्रता या सधनता का सरकार की इस नीति से बहुत घना सम्बन्ध है। इससे, इसके पहले परिच्छेद में, ज़मीन के लगान से सम्बन्ध रखने वाले व्यापक और सर्वसाधारण नियमों का विचार कर चुकने के बाद जो माल-गुज़ारी सरकार ज़मींदारों और काश्तकारों से ज़मीन जोतने के कारण लेती है उसका भी विचार इस परिच्छेद में लगे हाथ कर डालना अच्छा है। सरकार को जो कर, लगान या महसूल मिलता है वह सभी मालगुज़ारी में दाख़िल है। पर यहाँ सिर्फ़ ज़मीन की मालगुज़ारी के विषय में दो चार बातें कहनी हैं।

जिस ज़मीन में आजकल खेती होती है वह पहले बहुत बुरी हालत में थी। वह खेती के योग्य न थी। कहीं जङ्गल था, कहीं रेत था, कहीं कुछ, कहीं कुछ। बहुत रुपया और श्रम ख़र्च करने के बाद उसे वह रूप प्राप्त हुआ है जिस रूप में हम उसे देखते हैं। यह ख़र्च पहले पहल बहुत पड़ता था, पीछे से कम। जैसे जैसे ज़मीन सुधरती गई, ख़र्च कम होता गया। गवर्नमेंट कहती है कि शुरू शुरू में ज़मीन को उपजाऊ बनाने में जो ख़र्च पड़ा था वह और ही लोगों ने किया था। उसका फल भी उन्होंने और उनके वंशजों ने पा लिया। अब जो लोग उस ज़मीन पर काबिज़ हैं उनको ख़र्च तो कम पड़ता है, पर आमदनी अधिक होती है। अर्थात् आमदनी का अधिकांश और लोगों के परिश्रम और ख़र्च का फल है। आजकल वालों की कमाई का फल नहीं। इससे इस समय के ज़मींदार और काश्तकार कृषी की सारी आमदनी पाने के मुस्तहक़ नहीं। ख़र्च बाद देकर वह सरकार को मिलनी चाहिए। इसी सिद्धान्त पर सरकार ज़मीन की मालगुज़ारी प्रजा

से वसूल करती है। अर्थात् वह ज़मीन का लगान लेती है, ज़मीन की आमदनी पर कर नहीं।

पर श्रीयुक्त महादेव गोविन्द रानडे कहते हैं कि सरकार का यह सिद्धान्त ग़लत है। यदि इस देश की ज़मीन आरम्भ से लेकर आज तक एक ही कुटुम्ब के क़ब्ज़े में चली आती, अर्थात् शुरू शुरू में जो जिस ज़मीन का मालिक था उसी के कुटुम्बियों के क़ब्ज़ों में वह बनी रहती, तो कह सकते थे कि इन लोगों को अब पहले का जितना श्रम और ख़र्च नहीं पड़ता। ये लोग—इनके पूर्वज—इस ज़मीन से बहुत कुछ लाभ उठा चुके। अब उतना ही लाभ बराबर उठाते रहने के ये मुस्तहक़ नहीं। क्योंकि यह सब लाभ इनकी कमाई का फल नहीं। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। जो ज़मीन इस समय आपके पास है वह आपके पहले न मालूम कितने आदमियों के क़ब्ज़े में रही होगी। और हर आदमी जब उस ज़मीन पर क़ाबिज़ हुआ होगा तब उस पर किये गये सारे ख़र्च और श्रम का बदला उसे देना पड़ा होगा। क्योंकि ज़मीन की क़ीमत कुछ कम तो होती नहीं, बढ़ती हां जाती है। जो आदमी ज़मीन मोल लेता है वह बाज़ार भाव से उसकी पूरी क़ीमत देता है। उस क़ीमत में सब मेहनत और सब ख़र्च शामिल रहता है। अतएव ऐसी ज़मीन से जो कुछ पैदा होता है वह उसकी लगाई हुई पूँजी का फल है। सरकार का उसमें साझा नहीं। हाँ, जहाँ, सरकार प्रजा से और और कितने ही कर लेती है, ज़मीन पर भी वह ले सकती है। परन्तु हिसाब से। यह नहीं कि पैदावार का बहुत बड़ा हिस्सा सरकार ही ले जाय और बेचारे काश्तकार को पेट पालने के लाले पड़जायँ।*

* रावबहादुर गणेश वेङ्कटेश जोशी सम्पत्तिशास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञाता हैं। उन्होंने २६ जून १९०८ के 'टाइम्स आव् इंडिया' में एक पत्र प्रकाशित किया है। उसमें उन्होंने इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि ज़मीन की मालिक सरकार नहीं, किन्तु किसान या ज़मींदार है। अतएव गवर्नमेंट जैसे प्रजा की और आमदनी पर एक निश्चित कर लेती है वैसे ही ज़मीन की आमदनी पर भी लेना चाहिए। ज़मीन का लगान लेने का उसे अधिकार नहीं। रावबहादुर जोशी ने कोर्ट आफ् डाइरेक्टर्स की १७ दिसम्बर १८५६ ईसवी की चिट्ठी और लार्ड लिटन ने सेक्रेटरी आव् स्टेट को भेजी हुई ८ जून १८८० ईसवी की चिट्ठी से अवतरण देकर इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है कि किसानही

शुरू शुरू में, जिस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रभुत्व इस देश में था, ज़मीन की मालगुज़ारी बहुत अधिक ली जाती थी। उस समय कम्पनी इस देश को अपनी ज़मींदारी के तौर पर समझती थी और जहाँ तक प्रजा से मालगुज़ारी निचोड़ सकती थी वहाँ तक निचोड़ने में उसे ज़रा भी दरेग़ न आता था। फल इसका बहुत ही बुरा हुआ। मालगुज़ारी वसूल न होने लगी, ज़मीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब कम्पनी के अधिकारियों की आंखें खुलीं। उनके ख़याल में तब यह बात आई कि यह स्थिति हमारे लिए अच्छी नहीं। जब ज़मीन जोती ही न जायगी—जब प्रजा ही भूखों मर जायगी—तब हम मालगुज़ारी लेंगे किससे? उस समय लार्ड कार्नवालिस हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल थे। यह १७९३ ईसवी की बात है। उन्होंने सोचा कि जब तक ज़मींदारों को यह निश्चय न हो जायगा कि उनकी ज़मीन से जो कुछ फ़ायदा आगे होगा उसका कुछ अंश उन्हें भी मिलेगा, तब तक वे ज़मीन का सुधार न करेंगे और ज़मीन जोतने या जुतवाने में भी उत्साह न दिखावेंगे। इससे उन्होंने बङ्गाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त कर दिया। उन्होंने क़ानून बना दिया कि पैदावार का ९० फ़ी सदी हिस्सा सरकार को देना होगा और बाक़ी १० फ़ी सदी ज़मींदार को मिलेगा। पर आगे कभी मालगुज़ारी की शरह न बढ़ाई जायगी। ज़मीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ाकर अथवा बंजर ज़मीन को जोत कर ज़मींदार अपनी आमदनी चाहे जितनी बढ़ालें; सरकार उस बढ़ी हुई आमदनी का कुछ भी हिस्सा पाने का दावा न करेगी। ९० फ़ी सदी मालगुज़ारी लेना बहुत हुआ। पर लोगों ने इसे भी क़बूल कर लिया। जब ज़मींदारों को मालूम हो गया

ज़मीन का सच्चा मालिक है। अतएव उसे अपनी ज़मीन को बेचने और रेहन करने का इख़्तियार है। जिसके क़ब्ज़े में ज़मीन हो उससे सिर्फ़ उस ज़मीन की आमदनी पर लगान के रूप में नहीं, किन्तु कर के रूप में सरकार एक निश्चित रक़म ले सकती है; लगान नहीं ले सकती। खेद की बात है, इन प्रमाणों के होते भी सरकार ज़मीन पर अपना स्वामित्व दृढ़ करने की चेष्टा नहीं छोड़ती। सरकार का स्वामित्व मानने से मज़दूरी, पूँजी और पूँजी के ब्याज को छोड़ कर किसान या ज़मींदार का और कोई हक़ नहीं माना जा सकता। इन रक़मों को छोड़ कर बाक़ी जो कुछ बचे वह सभी सरकार का है। २६—७—०८

कि अब न हमारी ज़मीन हमसे छिनेगी और न सरकार को हमें अधिक मालगुज़ारी ही देनी पड़ेगी, तब उन्होंने ज़मीन का सुधार शुरू किया। फल यह हुआ कि उनकी ज़मीन का लगान भी बढ़ गया और परती ज़मीन में भी खेती होने लगी। इससे बङ्गाल के कृषिजीवियों की दशा सुधर गई। इस समय हिन्दुस्तान के अन्यान्य प्रान्तों की अपेक्षा वहाँ के ज़मींदार और काश्तकार अधिक सुखी हैं। हाँ, इस इस्तमरारी बन्दोबस्त के कारण वहाँ के काश्तकारों को ज़मीदारों की तरफ़ से कुछ तकलीफ़ ज़रूर मिलने लगी थी; पर सरकार ने उचित क़ानून बना कर इसे दूर कर दिया। अब ज़मींदार लोग अपनी रिआया को अन्याय से बे दख़ल नहीं कर सकते और न मन-माना लगान ही उनसे वसूल कर सकते हैं। बंगाल और बिहार का यह इस्त-मरारी बन्दोबस्त प्रजा के हक़ में बहुत अच्छा है।

पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी का इरादा था कि बंगाल की तरह का बन्दो-बस्त और प्रान्तों में भी किया जाय। पर पीछे से गवर्नमेंट की वह नीति बदल गई। उसने वैसा करने में अपना नुक़सान समझा। उसने देखा कि ज़मीन की उपज दिन दिन बढ़ती जाती है। इससे उसकी बढ़ती के साथ साथ सरकारी मालगुज़ारी भी बढ़नी चाहिए। यह समझ कर कम्पनी के कर्त्ताओं ने और प्रान्तों में बँगाल का ऐसा बन्दोबस्त करने से इनकार कर दिया। उत्तरी हिन्दुस्तान में उन्होंने लगान के फ़ी सदी ८३ हिस्से अपने लिए नियत किये। अर्थात् जिस ज़मीन का जितना लगान हो उसके १०० हिस्सों में से ८३ हिस्से ज़मीन का लगान सरकार को दिया जाय और बाक़ी १७ हिस्से काश्तकार या ज़मींदार को मिलें। यही १७ हिस्से ज़मीन जोतने बोने आदि का फल समझा जाय। यह इतना भारी लगान—यह इतनी ज़ियादह मालगुज़ारी—देने में प्रजा असमर्थ हुई। तब गवर्नमेंट ने अपना हिस्सा घटा कर ८३ से ७५ किया। जब उसके वसूल होने में भी कठिनाई होने लगी तब उसे और घटा कर ६६ कर दिया। परन्तु इससे भी काम न चला। अतएव लाचार होकर, १८५५ ईसवी में, सरकार ने अपना हिस्सा ५० किया। १८६४ ईसवी में यही नियम उसने इस देश के दक्षिणी प्रान्तों में भी प्रचलित कर दिया। अर्थात् बङ्गाल को छोड़ कर अन्यत्र सब कहीं उसने आम-

दनी का प्राय: आधा हिस्सा अपने लिए और आधा प्रजा के लिए रक्खा। कल्पना कीजिए कि आपके पास एक बीघा ज़मीन है। उसमें १५ मन अनाज साल में पैदा हुआ। उसमें से ७ मन महाजन के सूद और मेहनत-मज़दूरी के बदले गया। रह गया ८ मन। उस ८ मन में ४ मन गवर्नमेंट ने ले लिया। बाक़ी सिर्फ़ ४ मन आपके हाथ लगा। अर्थात् एक बीघा ज़मीन जोतने बोने की जांफ़िशानी उठाने का फल आपको सिर्फ़ ४ मन अनाज मिला और गवर्नमेंट ने कुछ भी न करके आधा बँटा लिया। वह उसने अपनी ज़मीन का किराया लिया। यह किराया इतना ज़ियादह है कि दुनिया के किसी सभ्य देश में इतना नहीं। यह वही बात हुई कि किसी की दुकान में बैठ कर यदि १० हज़ार रुपया लगा कर कोई महाजनी करे और साल में ४ हज़ार उसे मुनाफ़ा हो तो उसका आधा, अर्थात् दो हज़ार, दुकान के मालिक को देना पड़े!

सरकजर को जो मालगुज़ारी दी जाती है वह रुपये के रूप में दी जाती है, अनश्रिा के रूप में नहीं। परन्तु उसकी शरह पैदावार का परता लगा कर ही निन त की गई है। यह परता बन्दोबस्त के साल का लगाया हुआ है। पानी बरसने, या और किसी कारण से फ़सल ख़राब हो जाने, से पैदा-वाारवज कम होती है तब भी ज़मींदारों और काश्तकारों को प्राय: वही मलगुज़ारी देनी पड़ती है। कभी कभी दया करके गवर्नमेंट मालगुज़ारी का कुछ अंश छोड़ भी देती है। परन्तु यह छूट, नुक़सान के हिसाब से बहुधा कम ही होती है। अतएव दोनों सूरतों से सरकार ही फ़ायदे में रहती है, प्रजा नहीं। पैदावार ठीक न होने से यदि कुछ लगान छोड़ दिया जाता है तो भी प्रजा को हानि ही रहती है, और नहीं छोड़ दिया जाता तो उसकी दुर्गति का ठिकाना ही नहीं रहता।

मालगुज़ारी की शरह ५० फ़ी सदी होने से भी प्रजा को काफ़ी आमदनी नहीं होती। खेती की आमदनी से प्रजा का ख़र्च नहीं चलता। लार्ड केनिंग और लार्ड लारेन्स ने प्रजा का पक्ष लेकर उसकी शिकायतें दूर करने की बहुत कुछ कोशिश की थी। पर कुछ न हुआ। मालगुज़ारी जितनी की उतनी ही रही। उनके बाद जो गवर्नर जेनरल और बड़े बड़े अफ़सर आये

उन्होंने प्रजा के सुखदुःख की तरफ़ विशेष ध्यान न दिया। उलटा उन्होंने ज़मीन की मालगुज़ारी बढ़ाने की कोशिश की, घटाने की नहीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में मालगुज़ारी के सम्बन्ध में जो भूलें हुई थीं उन्हें दुरुस्त करने के इरादे से बहुत कुछ मालगुज़ारी घटाई भी गई। पर १८५८ ईसवी में, कम्पनी के राज्य की समाप्ति होने पर, अँगरेज़ी राज्य में वह बात न हुई। सरकार राज्य-प्रबन्ध के ख़र्च बढ़ाती गई। अतएव ज़मीन की आमदनी को घटाना उसने अपने लिए असम्भव समझा। प्रजा के सुख-दुःख का उसने कम ख़याल किया, अपने राज्य की दृढ़ता और विस्तार का अधिक। तब से आज तक इस देश के कृपिजीवी जन ५० फ़ी सदी मालगुज़ारी की चक्की में बराबर पिसते चले आ रहे हैं। मिस्टर आर० सी० दत्त ने इस विषय का अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने इस विषय में गवर्नमेंट से बहुत कुछ लिखा पढ़ी की है, और इन बातों को एक पुस्तक में लिख कर बड़ी योग्यता से दिखलाया है कि इस देश की प्रजा लगान के इतने भारी बोझ को नहीं उठा सकती। प्रजा की अनेक आपदाओं का कारण ज़मीन के लगान की अधिकता ही है। पर गवर्नमेंट ने उनकी बात नहीं मानी। लार्ड कर्ज़न की गवर्नमेंट ने, उनकी पुस्तक के जवाब में, एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें इस बात के सिद्ध करने की कोशिश की गई कि जो मालगुज़ारी प्रजा से ली जाती है वह अधिक नहीं है। पर सरकार की दलीलें ऐसी कमज़ोर और ऐसी बेजड़ हैं कि कोई भी पक्षपातहीन आदमी उन्हें नहीं मान सकता।

प्रजा के हितचिन्तकों की राय है कि इस देश की ज़मीन प्रजा की है। न राजा की है, न ज़मींदारों की। जो ज़मीन जिस काश्तकार के क़बज़े में चली आती है उसे उसकी मौरूसी जायदाद समझना चाहिए। उसकी माल-गुज़ारी सरकार यदि वसूल करना ही चाहती है तो करे। पर हर बीसवें और तीसवें साल नया बन्दोबस्त करके उसे बढ़ावे नहीं। जितना उसे लेना हो, एक दफ़े निश्चित कर दे और वही बराबर लिया करे। बार बार का नया बन्दोबस्त प्रजा को मारे डालता है। ज़मीन की मालगुज़ारी के बार बार बढ़ने से प्रजा की अवस्था दिन पर दिन बिगड़ती जाती है।

ख़ैर यदि यह भी सरकार को न मंज़ूर हो तो ज़मीन की पैदावार की क़ीमत के अनुसार वह मालगुज़ारी नियत करे। यदि क़ीमत बढ़ जाय तो वह अपनी मालगुज़ारी की शरह भी बढ़ा दे और यदि घट जाय तो घटा दे। पर इन दोनों में से एक भी बात सरकार को मंज़ूर नहीं।

पचास फ़ी सदी वाली शरह भी तो अचल नहीं रहने पाई। सरकार का ख़र्च बढ़ जाने से उसे रुपये की ज़रूरत हुई। अधिक रुपया आवे कहाँ से? जो माल विलायत से इस देश में आता है उस पर वह डाट कर, कर लगाने से रही। क्योंकि यदि उस पर यथेष्ट कर लगाने की सरकार चेष्टा करे तो इँगलेंड वालों को हानि हो और वहाँ तुमुल वाग्युद्ध शुरू हो जाय। इससे उसने यहाँ के दीन दुखिया किसानों ही को निचोड़ने की ठानी। उसने क्या किया कि पटवारी, चौकीदारी, स्कूल, शफ़ाख़ाने आदि के कई नये कर ज़मीन पर लगा दिये और उन्हें भी मालगुज़ारी के साथ वसूल करने लगी। कहाँ तो प्रजा की पुकार थी कि ज़मीन का कर घटाया जाय, कहाँ उसने और बढ़ा दिया! फल यह हुआ कि मालगुज़ारी की शरह कहीं कहीं ५६ फ़ी सदी हो गई, कहीं ५८ और कहीं ६० !!! यदि इस देश के सम्पत्ति-रस को निचोड़ना ही था तो और किसी मद से निचोड़ते, जहाँ अधिक गीलापन होता। निचोड़ा कहाँ से जहाँ मुश्किल से दो चार बूँद निकले।

सी० जे० ओडोनल साहब पारलियामेंट—"हाउस आव् कामन्स"—के एक मेम्बर हैं। आपने २८ मई १९०७ का लिखा हुआ अपना एक लेख समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया है। उसमें आपने दिखाया है कि ज़मीन के लगान की ज़ियादती के कारण हिन्दुस्तान की साम्पत्तिक अवस्था कहाँ तक दिनों दिन अधिक नाज़ुक होती जाती है। आपके लेख से कुछ बातें हम प्रकाशित करते हैं।

पन्द्रह वर्ष हुए, पञ्जाब की गवर्नमेंट के फ़ाइनानशियल कमिश्नर, एस० एस० थारबर्न साहब, ने लिखा था कि पञ्जाब में कितनी ही जगहों की प्रजा दरिद्रता में इतनी डूब गई है कि उसका उबार होना अब असम्भव है। सरकारी मालगुज़ारी देने के लिए महाजनों से क़र्ज़ लेने ही के कारण प्रजा की यह दशा हुई है। विशेष करके ग़रीबी ही के कारण प्रजा उजड़ती

जाती है और आज कल प्लेग से मरती जाती है । पर मालगुज़ारी कम नहीं होती । कम होना तो दूर रहा, गत पन्द्रह वर्षों में बढ़ कर वह २,२५,००,००० रुपये से २,८८,७५,००० हो गई है । अर्थात् फ़ी सदी ३० रुपया प्रजा से अधिक वसूल किया गया है ।

और प्रान्तों की अपेक्षा बम्बई और मदरास का हाल अधिक बुरा है । वहाँ रैयतवारी बन्दोबस्त है और ज़मीन की मालगुज़ारी की शरह बहुत ही अधिक है । ओडोनल साहब बहुत बरसों तक इस देश में अच्छे अच्छे ओहदों पर थे । पटना में वे बहुत दिनों तक कलेक्टर थे । कोई २५ वर्ष हुए आपने बम्बई प्रान्त की मालगुज़ारी पर एक लेख लिखा था । उसमें आप कहते हैं कि इस समय प्रजा को २३,२५,००,००० रुपया मालगुज़ारी का देना पड़ता है । पर अब वह २६ फ़ी सदी बढ़ गई है—अर्थात् कोई २९,२५,००,००० रुपये हो गई है ! बम्बई की मालगुज़ारी के विषय में ओडोनल साहब ने, १८८० ईसवी में, पारलियामेंट में, बड़ा रौरा मचाया था । उनकी बातों की जाँच के लिए एक कमीशन नियत किया गया था । इस कमीशन ने यहाँ ख़ूब जाँच पड़ताल की । इसमें पाँच मेम्बर शामिल थे । दो बम्बई प्रान्त के और तीन और और प्रान्तों के । बम्बई वालों ने भी मालगुज़ारी की शरह की अधिकता क़बूल की, पर उन्होंने गवर्नमेंट के पक्ष मे भी कुछ कहा । और प्रान्त वालों ने ऐसा नहीं किया । उन्होंने बहुत ही दिल दहलाने वाली रिपोर्ट लिखी और सप्रमाण साबित किया कि तीस वर्ष में तीस ही फ़ी सदी अधिक मालगुज़ारी प्रजा से उगाही गई ! उधर १८७७—७८ में अकाल के मारे अनन्त जनराशि मौत के मुँह में धँस गई; इधर, उनकी आमदनी बढ़ाने की फ़िक्र तो दूर रही, सरकार ने उनसे सैकड़े पीछे तीस रुपये अधिक मालगुज़ारी ऐंठी ! इस दशा में, दरिद्रता के कारण, थोड़ा भी अकाल पड़ने से, यदि हज़ारों आदमी जान से हाथ धोवें तो क्या आश्चर्य्य !

मदरास का भी बुरा हाल है । मालगुज़ारी बढ़ती जाती है; काश्तकारों की ज़मीन नीलाम होती जाती है; ग़रीबी के कारण थोड़ा भी अकाल पड़ने से हज़ारों आदमी मरते चले जाते हैं । मलाबार ज़िले में तो ८४,८५ और १०५ फ़ी सदी तक मालगुज़ारी वसूल की जाती है ! मदरास में १८५८—५९

ईसवी में, ईस्ट इंडिया कम्पनी के बाद, अँगरेज़ी गवर्नमेंट का पहले पहल राज्य हुआ। उस साल ज़मीन की मालगुज़ारी ४,८७,५०,००० रुपये थी। परन्तु १८७६ में, अर्थात् कोई २० वर्ष बाद, वह ६,७५,००,००० हो गई। कोई २ करोड़ रुपये की बढ़ती हुई !

ए० राजर्स नाम के एक साहब बम्बई के गवर्नर की कौन्सिल के मेम्बर थे। १८६३ में उन्होंने "अंडर सेक्रेटरी आव् स्टेट फ़ार इंडिया" को एक पत्र लिखा था। उसमें वे लिखते हैं कि ११ वर्ष में, अर्थात् १८८० से १८६० तक, मालगुज़ारी वसूल करने के लिए ८,४०,७१३ आदमियों की १६,६३,३६४ एकड़ ज़मीन नीलाम करनी पड़ी! ज़मीन नीलाम करने से मतलब क़बज़ा नीलाम करने से है। पर इस नीलाम से भी सरकार की मालगुज़ारी वसूल न हुई। तब उसने उन लोगों का माल-असबाब भी नीलाम करके कोई ३० लाख रुपया वसूल किया। तब कहीं सरकारी मालगुज़ारी चुकता हुई !!! पर यह जो इतनी ज़मीन नीलाम हुई उसे लिया किसने, आप जानते हैं? ७,७६,१४२ एकड़ तो प्रजा ने किसी तरह लेली, बाक़ी के ख़रीदार ही न मिले। तब वह अवशिष्ट ज़मीन सरकार के लिए ली गई। अर्थात् नीलाम की हुई ज़मीन में से ६० फ़ी सदी को किसी काश्तकार ने लेना मंज़ूर न किया! अब ख़याल करने की बात है कि यदि इस ज़मीन में कुछ भी मुनाफ़े की सूरत होती तो वह बिकने से क्यों रह जाती? उसमें कुछ भी दम न था। इसी से तो उसे जोतने वाली रैयत का घर द्वार बिक गया। बम्बई प्रान्त का ही यह हाल न समझिए। मदरास का इससे भी बुरा है। ओडोनल साहब कहते हैं कि सिर्फ़ १० वर्ष में मदरास प्रान्त के कृषिजीवी लोगों का एक अष्टमांश, मालगुज़ारी न देसकने के कारण, ज़मीन, घर, द्वार, बर्तन, भाँड़े, बेंचकर "भिक्षां देहि" करने लगा।

१६०७ के आरम्भ में एक बार ओडोनल साहब ने वर्तमान "सेक्रेटरी आव् स्टेट", मार्ले साहब, से पूछा कि हिन्दुस्तान में मालगुज़ारी की शरह क्या है? उत्तर मिला—"ख़र्च बाद देकर जो कुछ बच रहता है उसका आधा"। अर्थात् वही ५० फ़ी सदी। पर इसमें, पुलिस, स्कूल, पटवारी, चौकीदारी, आबपाशी और सड़कों आदि के लिए जो कर प्रजा से लिया जाता है वह शामिल नहीं है। वह जोड़ लिया जाय तो ६० फ़ी सदी तक नौबत पहुँचे।

इसके कुछ दिन बाद पूर्वोक्त साहब ने मध्य-प्रदेश के विषय में कुछ ख़ास प्रश्न पूँछे । तब मार्ले साहब ने फ़रमाया कि वहाँ ५० फ़ी सदी से कम और ६० फ़ी सदी से अधिक मालगुज़ारी नहीं ली जाती । पर कुछ ज़मीन ऐसी है जिसकी मालगुज़ारी ६५ फ़ी सदी के हिसाब से भी ली जाती है । यह क्यों ? इसलिए कि उतनी आसानी से वसूल हो जाती है ! सो यदि कोई काश्तकार या ज़मींदार अपनी लोटा थाली बेंचकर किसी तरह मालगुज़ारी अदा कर दें तो उनसे ६५ फ़ी सदी तक के हिसाब से मालगुज़ारी ली जाय ! और उसमें यदि अन्यान्य कर जोड़ दिये जायँ तो वह ७० फ़ी सदी से भी ऊपर हो जाय !!! तिस पर भी मिस्टर आर० सी० दत्त के कथन के उत्तर में लार्ड कर्ज़न की गवर्नमेन्ट ने १६ जनवरी १९०२ को जो रेज़ोल्यूशन (मन्तव्य) प्रकाशित किया, और जिसे पीछे से पुस्तकाकार भी छपाया, उसमें वह कहती है कि इस देश में प्रजा से ज़मीन की जो मालगुज़ारी ली जाती है वह अधिक नहीं है । उसे प्रजा आसानी से दे सकती है ! शायद इसी से १८९१ और १९०१ के बीच मध्य-प्रदेश में कोई दस लाख से भी अधिक आदमी भूखों मर गये ! गत १९०१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट यही कह रही है ।

लन्दन के "इंडिया आफ़िस" की राय है कि अँगरेज़ी राज्य के पहले ज़मीन की जितनी मालगुज़ारी ली जाती थी उससे अब फ़ी सदी १५ से लेकर ३० तक कम ली जाती है । जो कोई "सेक्रेटरी आव् स्टेट" होता है उसे यही राय कंठ करादी जाती है । जब पारलियामेंट में कोई मेम्बर मालगुज़ारी की ज़ियादती की शिकायत करता है तब "सेक्रेटरी आव् स्टेट" या उनके नायब "अंडर सेक्रेटरी" तोते की तरह यही पाठ पढ़ जाते हैं । १६ मई १९०७ को ओडोनल साहब के एक प्रश्न के उत्तर में "अंडर सेक्रेटरी" महोदय ने निःसङ्कोच यही बात कह दी । परन्तु यह राय सरासर ग़लत है । इसमें कुछ भी सत्यांश नहीं । बम्बई-प्रान्त में १७७१ ईसवी में पहले पहल अँगरेज़ी राज्य हुआ । उसके पहले वहाँ की मालगुज़ारी ८०,००,००० रुपये थी । परन्तु अँगरेज़ी शासन के दूसरे ही वर्ष वह ८० लाख की जगह एक करोड़ पन्द्रह लाख होगई ! इसके बाद वह किस तरह बढ़ती गई सो नीचे के हिसाब से मालूम होगा:—

१८२३ में १,५०,००,०००
१८५५ में २,८०,००,०००
१८७५ में ३,७०,००,०००
१८९५ में ४,८५,००,०००

अँगरेज़ी राज्य के पहले बम्बई प्रान्त की आबादी कितनी थी और कितने रक़बे में खेती होती थी, इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता। और बिना इसके तब की और अब की मालगुज़ारी का परस्पर मुक़ाबला भी ठीक तौर पर नहीं हो सकता। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा अँगरेज़ी राज्य में लगान की शरह अधिक है। उस ज़माने में हर साल फ़सल देख कर यह कूत लिया जाता था कि कितना अनाज पैदा होगा। बस उसी का चौथाई मालगुज़ारी के रूप में प्रजा से लिया जाता था। यह नहीं कि एक दफ़े लगान बाँधा जाय और फिर बीस पचीस वर्ष तक वही लिया जाय। सम्भव है बन्दोबस्त के साल फ़सल बहुत अच्छी हो। अतएव उसकी पैदावार के हिसाब से मालगुज़ारी बँध जाने से किसी कारण से फ़सल ख़राब हो जाने पर भी, किस तरह रैयत या ज़मींदार उतनी ही मालगुज़ारी दे सकेगा? रिआया तो यह चाहती ही है कि जितनी और जिस तरह उसे अँगरेज़ी राज्य के पहले मालगुज़ारी देनी पड़ती थी उतनी ही और उसी तरह अब भी उससे ली जाय। फिर क्यों नहीं गवर्नमेंट वैसा करती?

सारांश यह कि स्वदेशी या विदेशी, जितने इस देश के हितचिन्तक हैं, सबने इस बात को सप्रमाण साबित कर दिया है कि जो मालगुज़ारी सरकार रैयत और ज़मींदारों से लेती है, बहुत है। इस कारण प्रजा को बहुत दुःख भोगना पड़ता है। उनके पास कुछ भी नहीं बचता। फल यह होता है कि फ़सल ज़रा भी ख़राब हो जाने से उन्हें भूखों मरने की नौबत आती है। लार्ड कर्ज़न के ज़माने में प्रजा की तरफ़ से इस विषय में बहुत कुछ लिखा पढ़ी हुई। बहुत कुछ आवेदन-निवेदन किया गया। बहुत कुछ पूजा-प्रार्थना की गई कि मालगुज़ारी कम की जाय। पर लाट साहब ने प्रजा की न सुनी। आपने प्रजा-पक्ष के आवेदनों का उत्तर १८ जनवरी १९०२ के "गैज़ट आव् इंडिया" में प्रकाशित करके प्रजा की इच्छा पूर्ण करने से इनकार कर दिया।

आपने अपने उत्तर में हर तरह से यही साबित करने की कोशिश की है कि सरकारी मालगुज़ारी ज़ियादह नहीं । "वह सख़्ती किये बिना ही वसूल की जा सकती है और उसका वसूल किया जाना प्रजा की असन्तुष्टता का कारण नहीं होता" ।

परन्तु प्रजा की दुर्गति का जो सप्रमाण वर्णन इस परिच्छेद में किया गया है उसे पढ़ कर कोई समझदार आदमी गवर्नमेंट की बात को ठीक न मानेगा । यदि मालगुज़ारी ज़ियादह नहीं तो फिर क्या कारण है जो हज़ारों लाखों कृषकों के बैल-बधिये बिक जाते हैं और लाखों एकड़ ज़मीन नीलाम हो जाती है ? आप देहात में जाकर देखिए, सौ पचास किसानों में कहीं एक आध आपको ऐसा मिलेगा जिसे रोटी, कपड़े की तकलीफ़ न हो । यह हम समय-सुकाल की बात कहते हैं । अकाल में तो जो दृश्य देहात में देख पड़ता है वह बहुत ही हृदयद्रावक होता है । यदि यह मान भी लिया जाय कि लगान की अधिकता अकाल की भीषणता का कारण नहीं तो यह प्रश्न उठता है कि अँगरेज़ी राज्य के पहले भी तो कभी कभी अकाल पड़ता था । पर उस समय प्रजा में इतना हाहाकार क्यों न मचता था ? एक भी फ़सल मारी जाने या ख़राब होने से आज कल की तरह क्यों न उस समय लाखों आदमी दाने दाने के लिए तड़पते फिरते थे ? सरकार कहती है कि प्रजा की कंगाली के कारणों में से महाजनों को अधिक सूद देना भी एक कारण है । पर वह यह नहीं सोचती कि यदि किसानों को कृषी से काफ़ी आमदनी होती तो वे महाजनों से क़र्ज़ लेते क्यों ? और न क़र्ज़ लेते तो उन्हें अधिक सूद क्यों देना पड़ता ? सरकार की राय है कि मालगुज़ारी की अधिकता दुर्भिक्ष का कारण नहीं । पर प्रजा के प्रतिनिधि कहते हैं कि यदि मालगुज़ारी कम हो जाती तो प्रजा को ज़रूर कुछ बच जाता । और वह बचत दुर्भिक्ष के समय पेट पालने के काम आती । मनुष्य-वृद्धि होने, रेलों और सड़कों के बन जाने, अधिक ज़मीन में खेती होने, नहरों से आबपाशी करने, और अनाज का निर्ख़ महँगा हो जाने आदि से सरकार मालगुज़ारी की मात्रा बढ़ा सकती है । पर इतनी नहीं कि रिआया को मूँग माँगने की नौबत आ जाय । यदि कृषकों की दुर्दशा का कारण मालगुज़ारी की ज़ियादती नहीं तो न सही ।

उनकी दरिद्रता और दुःख के जो कारण सरकार की समझ में ठीक जँचते हों उन्हीं को दूर करके उनको भूखों मरने से बचावे। प्रजा की यथासम्भव प्राण-रक्षा करना सरकार अपना कर्तव्य समझती है या नहीं? कम सूद पर उसे क़र्ज़ देने का वह प्रबन्ध करे। महाजनों और ज़मींदारों के चंगुल से उसे बचावे। ख़र्च कम करने की उसे मुफ़्त शिक्षा दे, जिसमें जिस साल कुछ बचत हो उस बचत को प्रजा अगले साल के लिए रख छोड़े; अनावश्यक कामों में उसे न उड़ा दे।

चौथा परिच्छेद ।

सूद ।

ज़मीन, पूँजी और मेहनत के योग से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है। पूँजी संयमशीलता का फल है। भविष्यत् में नई सम्पत्ति पैदा करने के लिए पहली सम्पत्ति का जो हिस्सा अलग रख दिया जाता है उसी का नाम पूँजी है। सम्पत्ति की वृद्धि और ख़र्च की कमी के तारतम्य पर ही पूँजी की वृद्धि अवलम्बित रहती है। सम्पत्ति की वृद्धि के साथ साथ ख़र्च की मात्रा जितनी ही कम होगी उतनीही पूँजी बढ़ेगी। जब सम्पत्ति न थी तब पूँजी भी न थी। क्योंकि पूँजी भी एक प्रकार की सम्पत्ति-विशेष है। समाज की आदिम अवस्था में सम्पत्ति बहुत कम थी। इससे पूँजी भी कम थी। अब पहले से अधिक सम्पत्ति है; इससे पूँजी भी पहले से अधिक है। जिसके पास मतलब से अधिक पूँजी होती है उसे वह औरों को व्यवहार करने के लिए देता है। अथवा यों कहिए कि जो मनुष्य अपनी पूँजी लगाकर ख़ुद ही कोई व्यापार-व्यवसाय करके नई सम्पत्ति नहीं उत्पन्न करता वह उसे औरों को देकर अपनी पूँजी बढ़ाता है। अर्थात् जिसे वह अपनी पूँजी व्यवहार के लिए देता है वह उस पूँजी से अलग रोज़गार करता है और उसका बदला पूँजीदार को देता है। पूँजी का व्यवहार करने के बदले में जो सम्पत्ति पूँजी वाले, अर्थात् महाजन, को मिलती है उसी का नाम सूद है। ज़मीन के व्यवहार के लिए ज़मींदार को जो कुछ मिलता है वह लगान है,

श्रौर पूँजी के व्यवहार के लिए महाजन को जो कुछ मिलता है वह सूद या ब्याज है ।

कल्पना कीजिए कि रामदत्त कुरमी खेती करना चाहता है । पर उसके पास न तो ज़मीन है, न पूँजी । सिर्फ़ मेहनत ही उसके घर की है । उसने पाँच बीघे ज़मीन तो अपने गाँव के ज़मींदार रामसिंह से ली श्रौर दस मन अनाज रामदास महाजन से । इसी अनाज पर बसर करके उसने खेती के सब काम किये । यही गोया उसकी पूँजी हुई । जब खेत की फ़सल तैयार हुई तब उसी से उसने रामसिंह को ज़मीन का लगान दिया श्रौर उसी से जो अनाज उसने रामदास से लिया था वह भी चुकाया । ६ महीने रामदत्त ने रामदास का अनाज व्यवहार किया । उसके बदले में रामदत्त को कुछ देना चाहिए । क्योंकि रामदत्त अपना अनाज ६ महीने व्यवहार करने के लिए मुफ़्त में तो देगा नहीं । कुछ लाभ उसे होगा तभी देगा । अब यदि रामदत्त ने सवाई पर अनाज लिया होगा तो उसे दस के साढ़े बारह मन अनाज देना पड़ेगा । यही ढाई मन अधिक अनाज, ६ महीने तक दस मन अनाज व्यवहार करने का सूद हुआ ।

जो बात अनाज की है वही रुपये पैसे की भी है । अनाज प्रत्यक्ष सम्पत्ति है, रुपया-पैसा उसका चिह्न मात्र है । जो लोग व्यवहार करने के लिए श्रौरों को रुपया उधार देते हैं उनको जो कुछ मिलता है वह भी सूद ही है । जो लोग व्यापार-व्यवसाय के ख़तरे को नहीं उठाना चाहते, अथवा जो किसी कारण से कोई काम ख़ुद नहीं कर सकते, अथवा जो काम-काज की मेहनत नहीं बरदाश्त कर सकते वे अपनी बची हुई सम्पत्ति—अपना अव्यवहृत रुपया—दूसरों को व्यवहार के लिए देकर उसका बदला सूद के रूप में लेते हैं । सूद पाने वाला ख़ुद सम्पत्ति नहीं उत्पन्न करता । न किसी रोज़गार-धन्धे का जोखों ही उस पर रहता है श्रौर न कोई कारख़ाना चलाने का ख़र्च ही उसे उठाना पड़ता है । अर्थात् बिना जोखों उठाये श्रौर बिना किसी तरह का ख़र्च किये ही महाजन को सूद मिल जाता है । सूद का यह लक्षण, मुनाफ़े का लक्षण समझने के लिए, अच्छी तरह याद रखना चाहिए ।

सूद पर रुपया उठाने से उठानेवालों की सम्पत्ति भी बढ़ती है और जिन्हें वे रुपया उधार देते हैं उनकी भी। साथ ही मेहनत-मज़दूरी करने वालों को भी लाभ पहुँचता है। देश में जितनी ही अधिक पूँजी काम-काज में लगाई जाती है उतनी ही अधिक सम्पत्ति बढ़ती है और उतनी ही अधिक मज़दूरी भी मज़दूरों को मिलती है। पूँजी की उत्पत्ति अधिक होने से सूद कम हो जाता है। और लगान, मज़दूरी और सूद देने से जिन चीज़ों की उत्पत्ति या तैयारी होती है उनके लिए यदि सूद कम देना पड़ा तो मज़दूरी की शरह बढ़ जाती है। क्योंकि जो लोग औरों की पूँजी के बल पर मेहनत करके सम्पत्ति पैदा करते हैं उनको यदि कम सूद देना पड़ता है तो उनकी मेहनत का हिस्सा, अर्थात् मज़दूरी, अधिक बच जाती है। अर्थात् जितना ही उसे कम सूद देना पड़ता है उतना ही उन्हें अधिक लाभ होता है। फिर, पूँजी अधिक होजाने से जब उसका सूद कम आने लगता है तब पूँजीदार महाजन अपना रुपया सूद पर न उठा कर, कुछ भी अधिक लाभ की आशा होने पर, ख़ुदही व्यापार-व्यवसाय करने लगते हैं। व्यापार-व्यवसाय बढ़ने से मज़दूरों की माँग अधिक होती है। क्योंकि जितना ही अधिक रोज़गार चटकेगा, जितनेहीं अधिक कल-कारख़ाने खुलेंगे, उतनी ही अधिक मेहनत मज़दूरी करनेवालों की ज़रूरत होगी। और जितनी ही अधिक यह ज़रूरत बढ़ेगी उतनी ही मज़दूरी अधिक देनी पड़ेगी। मज़दूरी से मतलब क़ुलियों की मज़दूरी से नहीं, किन्तु हर तरह का परिश्रम करने वाले लोगों के वेतन, अर्थात् तनख़्वाह, से मतलब है।

हिन्दुस्तान में पूँजी का प्राय: अभाव है; वह बहुत ही थोड़ी है। इससे और देशों की अपेक्षा यहाँ सूद की शरह अधिक है। शरह अधिक होने से यहाँ वाले सूद खाना बहुत पसन्द करते हैं। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो अपनी पूँजी को किसी ख़तरे और ख़र्च के उद्यम में लगाते हों। इँगलेंड में सूद की शरह इतनी कम है और वहाँ के पूँजी वाले इतने साहसी हैं कि सूद पर रुपया लगाने की अपेक्षा यदि कुछ भी अधिक लाभदायक कोई व्यापार, व्यवसाय या रोज़गार देखते हैं तो फ़ौरन अपना रुपया उसमें लगा देते हैं। इस प्रकार वे अपनी पूँजी को बढ़ाने की हमेशा चेष्टा करते हैं। इँगलेड में

इतना अधिक धन है कि वहां उसका उपयोग होने के बाद भी बहुत कुछ बच जाता है जो अन्यान्य देशों में रेलवे आदि बनाने के काम आता है। इँगलेंड के व्यवसायी फ़ी सदी ६ रुपये मुनाफ़ा पाने पर ही जो व्यवसाय करते हैं, भारतवर्ष के व्यवसायी उसी व्यवसाय में फ़ी सदी १४ रुपये मुनाफ़ा उठाने की आशा रखते हैं। अन्यथा यहाँ वाले वह व्यवसाय न करके फ़ी सदी १२ रुपये सूद लेकर निश्चिन्त रहते हैं। यह भी यदि उनसे नहीं होता तो किसी बैंक में चार या पाँच फ़ी सदी सूद पर अपना रुपया लगा देते हैं, या साढ़े तीन फ़ी सदी का कम्पनी का कागज़ ख़रीद लेते हैं। पर कोई व्यवसाय नहीं करते। एक तो पूँजी कम, दूसरे व्यवसाय करने की योग्यता भी कम। इससे देश की सम्पत्ति नहीं बढ़ती। अधिक लाभ व्यापार-व्यवसाय करने ही से होता है, सूद पर रुपया लगाने से नहीं। १९०५ ईसवी के दिसम्बर में काशी में जो कांग्रेस हुई थी उसमें माननीय गोखले महाशय ने कहा था कि भारतवासियों के पास इस समय ५० करोड़ रुपये का कम्पनी का कागज़ है, ११ करोड़ रुपया डाकख़ाने के बैंक में जमा है और ३३ करोड़ और और बैंकों में है। यदि यह ९४ करोड़ रुपया किसी व्यापार-व्यवसाय में लगाया जाता तो न मालूम कितना मुनाफ़ा होता और कितने आदमियों का पेट पलता।

किसी किसी की राय है कि सूद की शरह बढ़ने से ही, सूद पर रुपया लगा कर, सब लोगों को अपनी पूँजी बढ़ाने की इच्छा होती है। परन्तु सच बात यह है कि सूद की शरह कम होने से भी पूँजी बढ़ाने की इच्छा मनुष्य को होती है। अपनी पूँजी बढ़ाना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कौन ऐसा होगा जो किसी काम में रुपया लगा कर यह न चाहता हो कि एक के दो हो जायँ? जिसे कम सूद मिलेगा वह अपना ख़र्च कम कर देगा और पूँजी को बढ़ावेगा जिसमें उसे मतलब भर के लिए काफ़ी सूद मिलने लगे।

कल्पना कीजिए, किसी का सालाना ख़र्च १२०० रुपया है। अथवा यों कहिए कि साल में वह इतना रुपया ख़र्च करने की इच्छा रखता है। वह किसी मामूली बैंक में, एक निर्दिष्ट समय के लिए, ६ रुपये सैकड़े सूद पर, २०,००० रुपये जमा करना चाहता है। पर उसे डर है कि कहीं उस

बैंक का दिवाला न निकल जाय जो ६ रुपये सैकड़े सूद के लोभ में फँस कर मेरी कुल पूँजी ही डूब जाय। इससे वह पहले की भी अपेक्षा अधिक संयम करके अपना ख़र्च कम कर देगा और पूँजी बढ़ावेगा। जब उसकी पूँजी २० की जगह ४० हज़ार हो जायगी तब उस रुपये से ३ रुपये सैकड़े सूद वाला कम्पनी का कागज़ मोल लेकर वह निश्चिन्त हो जायगा।

अब यदि सूद की शरह १२ रुपये सैकड़े हो तो सिर्फ़ १०,००० रुपये की पूँजी से ही साल में १२०० रुपये ख़र्च को मिल जायँगे। परन्तु कोई आदमी अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट नहीं रहता। जो आदमी साल में १२०० रुपये ख़र्च करता है उसकी इच्छा उससे भी अधिक ख़र्च करने की हो सकती है। अथवा उसकी ज़रूरतें बढ़ जाने से वह अधिक ख़र्च करने के लिए लाचार हो सकता है। अतएव यह सिद्ध है कि सूद की कमी-बेशी के कारण धन इकट्ठा करने की इच्छा में कमी-बेशी नहीं होती। तथापि अधिक सूद मिलने से पूँजी का बढ़ाना जितना सहज है, कम सूद मिलने से उतना सहज नहीं है। अधिक सूद पाने से पूँजी बढ़ाना विशेष सहज है; इसी से इस देश के धनवान अक्सर महाजनी ही करते हैं।

हिन्दुस्तान में जिसके पास कुछ धन होता है वह उसे बहुधा किसी बैंक में ही जमा करके ४ या ५ रुपये सैकड़े सूद पर सन्तुष्ट रहता है। पर जिस बैंक में वह रुपया जमा करता है वही बैंक उसी रुपये को नौ दस रुपये सैकड़े सूद पर औरों को देकर लाभ उठाता है। और जो लोग बैंक से क़र्ज़ लेते हैं वे अनेक प्रकार के रोज़गार करके बैंक से भी अधिक लाभ उठाते हैं। यदि धनवानों को रोज़गार करने की विद्या-बुद्धि होती तो वे अपने रुपये को किसी लाभदायक काम में लगा कर ख़ुद ही सारा लाभ उठाते। ऐसा न होने से इस देश की बड़ी हानि हो रही है। यहाँ की सम्पत्ति विशेष नहीं बढ़ती; बड़े बड़े व्यापार-व्यवसाय और कल-कारख़ाने नहीं चलते; और मज़दूरों की वेतन-वृद्धि भी यथेष्ट नहीं होती।

जिन कामों में अधिक सूद मिलता है वही काम इस देश में अधिक होते हैं। जिन व्यवसायों में सूद कम मिलता है वे बहुत कम किये जाते हैं। यही कारण है कि और और देश वालों के साथ चढ़ा-ऊपरी करने में यह

देश समर्थ नहीं । और देशों में सूद की शरह कम और पूँजी अधिक है । इससे वहाँ वाले थोड़े भी लाभ के काम में रुपया लगाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं । यदि वे साल में रुपये पीछे एक आने की भी बचत देखते हैं तो बड़े बड़े कारखाने खोल कर और हज़ारों तरह के व्यवसाय करके व्यवहार की चीज़ों से इस देश को पाट देते हैं । यहाँ वाले उनकी बराबरी नहीं कर सकते । सूद खाते हैं और पड़े रहते हैं । उधर विदेशी देश का धन लूट कर मनमाना लाभ उठाते हैं ।

जिन चीज़ों का व्यापार होता है—जो व्यावहारिक चीज़ें एक जगह से दूसरी जगह और एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती हैं—वे सब ज़मीन, नदी, तालाब, या समुद्र से ही पैदा होती हैं । यही चीज़ें पूँजी और परिश्रम के योग से अनेक रूपों में परिणत होकर वाणिज्य-व्यापार की मूलाधार बनती हैं । जिस परिमाण में मनुष्य-संख्या बढ़ती है उस परिमाण में इन चीज़ों की वृद्धि नहीं होती । अर्थात् लोकवृद्धि के कारण आदमियों की ज़रूरतें तो बढ़ जाती हैं, पर उसी परिमाण में व्यवहार की चीज़ों की वृद्धि नहीं होती । फल यह होता है कि ज़मीन का लगान बढ़ जाता है—अर्थात् परती पड़ी हुई ज़मीन जुतती चली जाती है । इसी बात को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो इस तरह कह सकते हैं कि पहले की अपेक्षा अधिक ज़मीन जोती जाने से देश की सम्पत्ति और पूँजी की वृद्धि होती है । इस वृद्धि के कारण दिनों दिन सूद की शरह कम होती जाती है । अतएव यह कहना चाहिए कि सूद और लगान में परस्पर विरोध है । लगान बढ़ने से सूद कम हो जाता है । और यदि पूँजी कम होने से सूद की शरह बढ़ती है तो ज़मीन का लगान कम आता है । क्योंकि अधिक ज़मीन जोतने में अधिक परिश्रम करने और अधिक पूँजी लगाने से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न होती है । और सम्पत्ति अधिक होने से पूँजी भी अधिक हो जाती है । तात्पर्य्य यह कि अधिक ज़मीन जोती जाने से लगान बढ़ता है और अधिक पूँजी होने से सूद की शरह घटती है ।

किसी किसी देश में सूद की कई शरहें होती हैं । ज़मीन, बाग़, मकान और ज़ेवर आदि गिरवी रख कर रुपया क़र्ज़ लेने से सूद कम देना पड़ता

है। पर यों ही दस्ती दस्तावेज़ लिख कर क़र्ज़ लेने से अधिक सूद देना पड़ता है। इसी पिछली शरह के ऊपर सूद की साधारण शरह निश्चित होती है। दस्ती दस्तावेज़ लिखा कर क़र्ज़ देने वालों को कभी कभी असल से भी हाथ धोना पड़ता है। इसी से वे अधिक सूद लेते हैं। ब्याज दर ब्याज लगाने से दो ही चार साल में सूद की रक़म असल के बराबर हो जाती है। इस दशा में सूद सहित क़र्ज़ बेबाक़ करना कठिन हो जाता है और महाजनों का रुपया मारा जाता है। परन्तु दो चार महाजनों को, इस तरह, हानि होने पर भी, अधिक सूद पाने के लालच से, और लोग ज़ियादह सूद पर रुपया उठाने से बाज़ नहीं आते। जहाँ वे देखते हैं कि देनदार का व्यापार-व्यवसाय अच्छा नहीं तहाँ अपने रुपये का सख़्त तक़ाज़ा शुरू करते हैं। फल यह होता है कि बेचारे व्यवसायी का रोज़गार और अधिक दिन तक नहीं चल सकता। महाजन लोग अकसर नालिश कर देते हैं। इससे हतभाग्य देनदार की साख जाती रहती है। और बाज़ार में साख का होना उसकी दस गुनी पूँजी के बराबर है। बाज़ार का रुख़ देख कर जिस समय कोई व्यवसायी अपनी साख के बल पर माल ख़रीदने का बन्दोबस्त कर रहा है, उसी समय उसकी साख जाती रहने से, न उसे माल मिलता है और न महाजन का सब रुपया ही वसूल होता है। उधर व्यवसायी का व्यवसाय पूरे तौर पर मारा जाता है। अतएव अधिक सूद लेना अच्छा नहीं।

जिस काम के लिए सूद पर क़र्ज़ लिया जाता है उसमें यदि अधिक लाभ हो तो अधिक सूद देना भी नहीं खलता। आस्ट्रेलिया के किसानों को बीस फ़ी सदी मुनाफ़ा होता है। इस कारण वे लोग महाजनों से बहुत अधिक सूद पर क़र्ज़ ले सकते हैं। पर इस देश के किसानों को खेती से बहुत कम फ़ायदा होता है। इससे वे बहुत सूद नहीं दे सकते। और यदि मजबूर होकर उन्हें ज़ियादह सूद पर क़र्ज़ लेना पड़ता है तो महाजन का रुपया वसूल नहीं होता और किसी दिन क़र्ज़दार की लोटा थाली बिक जाती है। इसी दुर्व्यवस्था को दूर करने के लिए कुछ समय से सरकार ने "को-आपरेटिव क्रेडिट सोसायटी" नाम के बैंक खोले हैं, जिनसे प्रजा को थोड़े सूद पर रुपया क़र्ज़ मिलता है। खाने पीने की चीज़ें सस्ती होने

से मज़दूरी का निर्ख़ कम हो जाता है और व्यापार-व्यवसाय करने वालों को अधिक मुनाफ़ा होता है। इससे सूद की शरह बढ़ जाती है। विपरीत इसके सोने चांदी की नई नई खानों का पता लगने से देश की पूँजी बढ़ जाती है; और पूँजी बढ़ने से सूद की शरह कम हो जाती है। यदि कहीं बहुत से बैंक हों और वे आपस में चढ़ा-ऊपरी करके अपना अपना रुपया सूद पर उठाने की कोशिश करें तो भी सूद की शरह कम हो जाती है। आज कल जो सूद की शरह बढ़ी हुई है उसके कारण ये हो सकते हैं:—

(१) रेल, जहाज़ और सड़कों के हो जाने से एक जगह से दूसरी जगह और एक देश से दूसरे देश का जाना आना बहुत आसान हो गया है। डाकख़ाने और तार से चिट्ठी-पत्री, हुण्डी और चेक आदि भेजने और तत्सम्बन्धी ख़बरें देने में भी महाजनों को विशेष सुभीता हो गया है। इससे अन्यान्य शहरों और देशों में सूद पर रुपया लगाने में बहुत आसानी होती है। जहाँ से रुपया जाता है वहाँ की पूँजी कम हो जाती है। इससे सूद की शरह बढ़ती है।

(२) खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की कितनी ही चीज़ें दूसरे देशों से आती हैं। इससे देश की पूँजी थोड़ी बहुत कम ज़रूर हो जाती है। फल यह होता है कि महाजन सूद अधिक लेते हैं।

(३) सम्भूय-समुत्थान का प्रचार होने, अर्थात् बहुत आदमी मिल कर कम्पनियाँ खड़ी करके व्यापार-व्यवसाय करने, से पूँजी का कुछ अंश इस तरह के कामों में अटक जाता है। इससे छुट्टा पूँजी कम हो जाती है और सूद की शरह बढ़ जाती है।

(४) लड़ाइयों का ख़र्च पूरा करने अथवा प्रजा के हित के लिए रेल, नहर, सड़कें आदि बनाने के लिए गवर्नमेंट बहुधा प्रजा से तीन या साढ़े तीन फ़ी सदी सूद के हिसाब से क़र्ज़ लिया करती है। यदि ऐसा न होता तो जो पूँजी इस तरह गवर्नमेंट को क़र्ज़ दे दी जाती है वह बनी रहती और पूँजी का परिमाण अधिक होने से सूद की शरह कम हो जाती। पर ऐसा नहीं होता, इसीसे पूँजी का संग्रह कम रह जाने से सूद अधिक देना पड़ता

है । सारांश यह कि देश में पूँजी अधिक होने से सूद की शरह घटती है और कम होने से बढ़ती है ।

जो रुपया क़र्ज़ दिया जाता है उसके वसूल होने में यदि किसी तरह का सन्देह नहीं होता तो सूद-कम पड़ता है । इस दशा में महाजन को विश्वास रहता है कि मेरा रुपया नहीं डूबेगा । इससे वह कम सूद पर ही सन्तोष करता है । पर यदि उसे रुपया वसूल पाने में किसी तरह का ख़तरा जान पड़ता है तो उस ख़तरे के कारण सूद की शरह वह बढ़ा देता है । यही कारण है कि सूद की शरह प्रायः कभी स्थिर नहीं रहती । कहीं कम होती है, कहीं ज़ियादह । यहाँ तक कि एक ही शहर में जुदा जुदा शरहें होती हैं । जहाँ रुपये के डूब जाने का ज़रा भी डर होता है वहाँ शरह अधिक होती है और जहाँ कम या बिलकुल ही नहीं होता वहाँ शरह थोड़ी होती है । तात्पर्य्य यह कि जितना ही अधिक ख़तरा उतना ही अधिक सूद । एक बात और भी है कि जो लोग क़र्ज़ लेना चाहते हैं वे इस बात को यथा-सम्भव छिपाते हैं कि हमें क़र्ज़ चाहिए । वे क़र्ज़ लेना अपनी हतक समझते हैं । इससे दो चार जगह अपनी इच्छा ज़ाहिर करके कम सूद पर रुपया लेने की कोशिश नहीं करते । चुपचाप कहीं से ले लेते हैं और जो सूद महाजन माँगता है देने को राज़ी हो जाते हैं । यदि सूद की शरह का भी वैसा ही मोल तोल हो जैसा और चीज़ों का होता है तो महाजनों में रश्क पैदा हो जाय—चढ़ा-ऊपरी होने लगे—और लाचार होकर उन्हें शरह कम करनी पड़े ।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

मुनाफ़ा ।

पूँजी सञ्चय का फल है । जो सञ्चय करना नहीं जानता, या नहीं करता वह पूँजी से हमेशा वञ्चित रहता है—वह कभी धनशाली नहीं हो सकता । सञ्चय करना सब का काम नहीं । जो व्यावहारिक चीज़ों में से कम उपयोगी चीज़ों का व्यवहार बन्द कर देता है, अथवा यों कहिए कि जो अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों में से कुछ सुखों का उपभोग छोड़

देता है वही सञ्चय करने में समर्थ होता है । सञ्चय के लिए मनोनिग्रह दरकार होता है । मन चाहता है कि रुपये के १६ वाले लखनऊ के सफ़ेदा आम खायँ । पर सम्पत्ति के सञ्चय की इच्छा रखनेवाला आदमी मन की इस तरंग को दबा देता है और साधारण आमों से ही सन्तोष करता है । इस तरह मनोनिग्रह करना आसान नहीं । बड़ी मुश्किल से मन के अभिलाष रोके रुकते हैं । अतएव सञ्चय करने में आदमी को तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं ।

सञ्चय ही का दूसरा नाम पूँजी है । जब पूँजी जमा करने में आदमी को तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं तब वह मुफ़्त में औरों को नहीं मिल सकती । जो मनोनिग्रह करके—अनेक प्रकार के दुःख कष्ट उठा कर—पूँजी जमा करता है वह यदि उसे किसी को किसी काम के लिए देगा तो उसका कुछ बदला ज़रूर लेगा । इसी बदले का नाम सूद या मुनाफ़ा है । सम्पत्ति उत्पन्न करने या और किसी काम में लगाने के लिए जो पूँजी उधार दी जाती है उसके बदले में पूँजी वाले को जो कुछ मिलता है वह सूद है । जो पूँजीदार सूद लेता है वह सम्पत्ति की उत्पत्ति नहीं करता, उत्पत्ति का ख़र्च भी नहीं करता और उत्पत्तिसम्बन्धी जोखिम या ज़िम्मेदारी भी उस पर नहीं रहती । परन्तु जो मुनाफ़े की इच्छा रखता है उसे ये सब बातें अपने सिर लेनी पड़ती हैं । सूद और मुनाफ़े में यही अन्तर है ।

सरकारी, अथवा और विश्वनीय, बैंकों में रुपया जमा करने से रुपया डूबने का डर नहीं रहता । जमा किये हुए रुपये को बैंकवाले औरों को, व्यापार-व्यवसाय आदि करने के लिए, उधार देते हैं । उस रुपये से जो व्यापार-व्यवसाय किया जाता है उसका ख़र्च रुपया जमा करनेवाले को नहीं देना पड़ता । उससे होनेवाले हानि-लाभ की ज़िम्मेदारी भी उसे नहीं उठानी पड़ती । यह कुछ न करके उसे अपने रुपये का बदला ३ या ४ रुपये सैकड़े के हिसाब से मिल जाता है । यदि पूँजीवाला अपनी पूँजी इस तरह के बैंकों में जमा न करके और लोगों को उधार देगा तो उसे सूद अधिक मिलेगा । पर बैंकों की अपेक्षा रुपया डूबने का डर अधिक रहेगा । अतएव विश्वसनीय बैंकों की अपेक्षा और लोगों से जितना सूद उसे अधिक मिलेगा वह, यथार्थ में, सूद नहीं किन्तु रुपये डूबने के जोखिम का बदला है ।

ज़ोखिम जितना ही अधिक होगा सूद भी उतना ही अधिक मिलेगा। ख़ुद ही कोई व्यापार-व्यवसाय करने में जोखिम उठाना पड़ता है, ख़र्च भी करना पड़ता है, और काम-काज की निगरानी भी करनी पड़ती है। अतएव उसमें यदि बैंकों की अपेक्षा अधिक लाभ न होगा तो क्यों कोई रुपया लगावेगा? बैंकों के सूद की अपेक्षा किसी उद्योग-धन्धे में जो कुछ अधिक मिलता है उसमें सिर्फ़ सूद ही नहीं, किन्तु उस धन्धे के जोखिम का बदला और निगरानी का ख़र्च भी शामिल रहता है। इसी सूद, जोखिम के बदले और निगरानी के ख़र्च के टोटल को मुनाफ़ा कहते हैं। जिस रोज़गार में जोखिम अधिक रहता है और निगरानी का ख़र्च भी अधिक पड़ता है, उसमें मुनाफ़ा भी अधिक मिलना चाहिए। लोहे-लकड़ी का व्यापार करनेवालों की अपेक्षा फल-फूलों का व्यापार करनेवाले को अधिक मुनाफ़ा मिलना चाहिए। इसी तरह फल-फूलों का व्यापार करनेवालों की अपेक्षा बर्फ़ का व्यापार करने वाले को अधिक मुनाफ़ा मिलना चाहिए। क्योंकि लोहे-लकड़ी की अपेक्षा फ़ल-फूलों के बिगड़ने का अधिक डर रहता है और फल-फूलों की अपेक्षा बर्फ़ के गलने का और भी अधिक। जो चीज़ जल्द बिगड़ जाती है उसे अच्छी हालत में रखने के लिए देख भाल अधिक करनी पड़ती है और उसे जल्द बेचने की कोशिश भी करनी पड़ती है। इसीसे जल्द गलने या सड़ने वाली चीज़ों पर मुनाफ़ा अधिक देना पड़ता है।

इस विवेचन से यह मालूम हुआ कि मुनाफ़ा एक विशेष व्यापक शब्द है और उसमें सूद के सिवा निगरानी का ख़र्च और जोखिम का बदला भी शामिल रहता है।

सूद की शरह तो एक हो सकती है, पर मुनाफ़े की एक नहीं हो सकती। व्यापार-व्यवसाय में जोखिम और ख़र्च की कमी-बेशी के अनुसार मुनाफ़े की मात्रा भी कमो-बेश होती है। यह एक ऐसी मोटी बात है जिसकी विशेष विवेचना की ज़रूरत नहीं।

आज कल निर्बन्धरहित वाणिज्य का ज़माना है। प्राय: सभी व्यवसायों में चढ़ा-ऊपरी चलती है। इससे मुनाफ़े की मात्रा बहुत कम हो गई है। जहाँ किसी ने सुना कि कोई आदमी किसी व्यवसाय में अधिक मुनाफ़ा उठा

रहा है तहाँ और लोग भी वही व्यवसाय करने लगते हैं। चढ़ा-ऊपरी के झोंक मे वे अधिक पूँजी लगा कर वह चीज़ तैयार करते हैं और थोड़ी क़ीमत पर बेचते हैं। यह देख कर पहले व्यवसायी को भी क़ीमत का निर्ख़ घटाना पड़ता है। फल यह होता है कि सबके मुनाफ़े की मात्रा कम हो जाती है। थोड़ी पूँजीवाले लोग थोड़े मुनाफ़े पर बहुत दिन तक चढ़ा-ऊपरी नहीं कर सकते। जो अधिक पूँजी लगाने की शक्ति रखते हैं उन्हीं का व्यवसाय चिरस्थायी होता है। औरों को शीघ्र ही अपना बोरिया-बँधना बाँधना पड़ता है। अतएव पहले जितनी पूँजी लगाकर लोग जितना मुनाफ़ा उठाते थे, अबाधवाणिज्य के प्रसार से, अब उतनी पूँजी से उतना लाभ नहीं होता। इस अवस्था में व्यवसायियों को चाहिए कि कम्पनियाँ खड़ी करके अधिक पूँजी लगाकर व्यापार-व्यवसाय करें। तभी उनको काफ़ी लाभ होगा और तभी उनका काम चलेगा।

व्यापार-व्यवसाय करने वालों में बहुधा ऐसे भी लोग होते हैं जो ख़ास अपनी ही पूँजी लगाकर काम करते हैं। जिनके पास पूँजी कम होती है वे महाजनों से रुपया उधार लेते हैं। जो मुनाफ़ा उन्हें अपने व्यवसाय में होता है उसमें से महाजन का सूद और दूसरे ख़र्चे बाद देकर जो कुछ बचता है, उन्हें मिलता है।

कल्पना कीजिए कि किसी को साबुन बनाने का कारख़ाना खोलना है। इस काम के लिए उसके पास काफ़ी रुपया है। उसने किसी ज़मींदार से दस बीघे ज़मीन किराये पर ली। फिर वहाँ इमारत खड़ी करके साबुन बनाने की कलें लगाईं। कारख़ाने में सब तरह का काम करने के लिए यंजिनियर, मिस्त्री, मज़दूर, हिसाब किताब रखनेवाले मुक़र्रर किये और निगरानी का काम अपने ऊपर लिया। कारख़ाना चलने लगा और साबुन बन कर तैयार हुआ। उसकी बिक्री से जो रुपया आया उसमें से उसने वह सब रुपया निकाल लिया जो उसने कारख़ाने के मुलाज़िमों की तनख़्वाह और ज़मीन के किराये वग़ैरह में ख़र्च किया था। बाक़ी जो बचा वह उसे मुनाफ़ा हुआ। इस मुनाफ़े में उसकी लगाई हुई पूँजी का सूद और ख़ुद उसकी निगरानी का बदला ही नहीं, किन्तु जोखिम का बदला भी शामिल समझना

चाहिए । इस तरह के जितने कारख़ाने होते हैं उनका मैनेजर, अर्थात् निगरानी या बन्दोबस्त करनेवाला, यद्यपि अपने हाथ से कोई मोटा काम नहीं करता, तथापि वह अपने दिमाग़ से काम लेता है । वह कारख़ाने में बननेवाली चीज़ों की लागत का ख़याल रखता है । वह यह देखता है कि जो चीजें कारख़ाने में दरकार हैं वे कहाँ अच्छी और सस्ती मिलती हैं । वह ढूँढ़ ढूँढ़ कर अच्छे कारीगरों को नौकर रखता है । जहाँ और जिस समय वह अपने कारख़ाने के माल का खप देखता है वहीं और उसी समय वह बेचता है । इसके सिवा वह जमा-ख़र्च का हिसाब भी रखता है । जो कुछ वह करता है ख़ूब सोच-समझ कर करता है जिसमें हानि न हो । इस सब मेहनत को थोड़ी और कम महत्त्व की न समझना चाहिए । कारख़ाने का चलना बहुत करके अच्छे मैनेजर के होने ही पर अवलम्बित रहता है । क्योंकि नाज़ुक और जोखिम के वक़्त में अपने कारख़ाने और कारोबार के जारी रखने के लिए मैनेजर को बड़ी जांफ़िशानी और बड़ी होशियारी से काम करना पड़ता है । इस दशा में उसे अपनी मेहनत का काफ़ी बदला ज़रूर ही मिलना चाहिए । यदि किसी कारख़ाने या कारोबार का मालिक ही उसका मैनेजर है तो पूँजी के सूद और मज़दूरी इत्यादि से जो कुछ बढ़ता है उसे वह अपनी मेहनत का बदला समझता है । यदि मैनेजर कोई और होता है तो उसे काफ़ी तनख़्वाह देनी पड़ती है । सब दे लेकर मुनाफ़े का अवशिष्ट भाग ही कारख़ानेदार को मिलता है ।

व्यापार-व्यवसाय करनेवालों को हानि से बचने के लिए हमेशा प्रयत्न करना पड़ता है । कभी कभी, बहुत होशियारी से काम करने पर भी, उनकी हानि हो जाती है—उससे बचने का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता । कभी काम करनेवाले समय पर नहीं मिलते, कभी माल-मसाला नहीं मिलता, कभी बाज़ार-भाव मन्दा हो जाता है, कभी माल अच्छा न तैयार होने से ख़रीदार नहीं मिलते । ऐसी अवस्थाओं में व्यवसायी, या कारख़ाने के मालिक, को अनेक आफ़तों का सामना करना पड़ता है । ऐसे समय में उसे बहुधा बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं । कभी कभी तो वह अपनी सारी पूँजी खोकर कौड़ी कौड़ी के लिए मोहताज हो जाता है । अतएव ऐसे

जोखिम के कामों में यदि उसे अधिक मुनाफ़े की आशा न होगी तो क्यों वह बड़े बड़े व्यापार करेगा और क्यों बड़े बड़े कारख़ाने चलावेगा ? मुनाफ़े की आशा ही उससे ये सब जोखिम के काम कराती है। अन्यथा तीन या चार फ़ी सदी सूद पर किसी विश्वसनीय बैंक में रुपया लगा कर वह आनन्द से अपने घर न बैठा रहता। इससे सिद्ध है कि पूँजी के सूद और मज़दूरी आदि के ख़र्चे के सिवा व्यवसायियों और कारख़ाने के मालिकों को जोखिम का भी बदला मिलना चाहिए और जोखिम जितना ही अधिक हो बदला भी उतना ही अधिक होना चाहिए।

कल-कारख़ाने वही आदमी चला सकता है जिसमें उस काम के योग्य गुण हों। जो ज़िम्मेदारी उठाने का साहस नहीं रखता, जो भावी लाभ की अनिश्चित आशा पर रुपया नहीं लगा सकता, जो दूरंदेश नहीं है वह कारख़ाने चला कर कभी कामयाब नहीं हो सकता। अतएव सूद खाने वाले महाजनों और कारख़ाने के मालिकों में बहुत अन्तर है। जो गुण कारख़ानेदारों में होने चाहिए उनका होना महाजनों में ज़रूरी नहीं। पूँजीदार महाजनों में वे गुण यदि न भी हों तो भी उनका कारोबार नहीं रुक सकता; फिर भी उनके रुपये पर उन्हें सूद मिलता ही जायगा। पर जो गुण कारख़ाने के मालिकों में होने चाहिए वे यदि उनमें न होंगे तो एक दिन भी उनका कारोबार न चल सकेगा। अतएव पूँजी लगाने वाले महाजनों और कारख़ानेदारों का वर्ग एक दूसरे से जुदा समझना चाहिए। हर महाजन या पूँजीदार, कारख़ानेदार नहीं हो सकता; क्योंकि जो गुण कारख़ानेदार में होने चाहिए उसमें नहीं होते। हाँ यदि किसी महाजन या पूँजीदार में कारख़ानेदारी के भी गुण हों तो वह महाजनी और कारख़ानेदारी, दोनों काम, कर सकता है और दूना फ़ायदा भी उठा सकता है।

कारख़ाने में जो चीज़ें बनाई या तैयार की जाती हैं उनपर शुरू से लेकर बेची जाने तक जो ख़र्च बैठता है वही उत्पादन-व्यय अर्थात् उत्पत्ति का ख़र्च है। कारख़ानेदार हमेशा यही चाहता है कि उसके माल की क़ीमत ख़र्च से अधिक आवे। इसी ख़र्च और क़ीमत के अन्तर का नाम मुनाफ़ा है। इससे जितनी ही अधिक क़ीमत आवेगी उतना ही अधिक मुनाफ़ा होगा।

पर याद रखिए, मुनाफ़े का समय से भी गहरा सम्बन्ध है। जिस तरह एक निश्चित समय तक पूँजी का व्यवहार करने से सूद की एक निश्चित मात्रा मिलती है, उसी तरह एक निश्चित समय के भीतर मुनाफ़े की भी एक निश्चित मात्रा मिलती है। मान लीजिए कि आपने किसी रोज़गार में ६०० रुपये लगाये। उससे एक महीने तक आप को रु या रोज़ मुनाफ़ा हुआ। इस हिसाब से एक महीने में ६०० रुपये पर आपको ३० रुपये मिले। अर्थात् फ़ी महीने आपको ५ रुपये सैकड़े मुनाफ़ा हुआ। पर यही मुनाफ़ा यदि दो महीने में मिले तो मुनाफ़े की शरह ५ रुपये नहीं, किन्तु फ़ी महीने ढाई रुपये सैकड़े ही पड़ेगी। इससे स्पष्ट है कि मुनाफ़े की शरह पूँजी के परिमाण ही पर नहीं, किन्तु उस समय पर भी अवलम्बित है जिसमें सब मुनाफ़ा मिले। जिस चीज़ पर जो ख़र्च पड़ता है उससे उसकी बिक्री से जितनी ही अधिक क़ीमत मिलेगी मुनाफ़े की शरह भी उतनी ही अधिक होगी और क़ीमत जितनी ही कम होगी मुनाफ़े की शरह भी उतनीही कम होगी। इसी तरह जितने समय में मुनाफ़ा मिलता है वह जितना ही कम होगा मुनाफ़े की शरह उतनीही अधिक होगी, और समय जितना ही अधिक होगा मुनाफ़े की शरह उतनी ही कम होगी। अतएव, इससे यह सिद्धान्त निकला कि किसी चीज़ के बनाने या तैयार करने में जो ख़र्च पड़ता है उससे, और जितने समय में कुल मुनाफ़ा मिलता है उस समय से, (दोनों से) मुनाफ़े की शरह का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

किसी किसी का यह ख़याल है कि कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों वग़ैरह के लिए कारख़ानेदार को जो ख़र्च करना पड़ता है मुनाफ़े का सिर्फ़ उसी से सम्बन्ध है। अर्थात् मज़दूरी अधिक पड़ने से मुनाफ़ा कम हो जाता है और मज़दूरी का निर्ख़ कम होने से मुनाफ़ा अधिक मिलता है। अथवा, इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कारख़ानेदारों और मज़दूरों में परस्पर हित-विरोध रहता है—एक की हानि से दूसरे को लाभ होता है। पर बात ठीक ऐसी नहीं है। मज़दूरी वग़ैरह में जो ख़र्च पड़ता है उससे और मुनाफ़े से घना सम्बन्ध तो है ही, पर साथ ही उसके समय से भी मुनाफ़े का सम्बन्ध है। मज़दूरी के निर्ख़ में कोई फेरफार न होने पर भी

अगर कारख़ाने का माल जल्द बिक जायगा तो मुनाफ़ा अधिक होगा और देर से बिकेगा तो कम।

कारख़ानेदारों का उत्पादनव्यय कई कारणों से कम हो सकता है। उनमें से ये तीन कारण मुख्य हैं:—

(१) काम करने वालों के काम की मात्रा बढ़ जाने पर उनकी मज़दूरी पूर्ववत् बनी रहने से।

(२) काम की मात्रा, और खाने पीने वग़ैरह की चीज़ों की क़ीमत, पूर्ववत् बनी रहने; पर काम करने वालों की मज़दूरी की शरह घट जाने से।

(३) खाने पीने की चीज़ें सस्ती हो जाने से।

इन कारणों से यदि कारख़ानों का ख़र्च कम हो जाय तो मुनाफ़े की मात्रा बढ़ सकती है। हाँ यदि किसी स्वाभाविक या अस्वाभाविक कारण से काम करने वालों की शक्ति क्षीण होने से उनके काम की मात्रा कम हो जाय; अथवा यदि काम करने वालों की मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ जाय, पर खाने पीने के पदार्थ और कारख़ाने में लगनेवाले माल-मसाले सस्ते न बिकें; अथवा यदि मज़दूरी की शरह पूर्ववत् रहे, पर व्यावहारिक चीज़ें महँगी बिकें, तो मुनाफ़े की मात्रा ज़रूर कम हो जायगी। पर समय और मुनाफ़े का जो सम्बन्ध है उसे न भूलना चाहिए। हर हालत में उसका असर मुनाफ़े पर पड़ेगा।

मुनाफ़ा अधिक मिलने से वे चीज़ें, जो कारख़ाने में माल तैयार करने के काम आती हैं, महँगी हो जाती हैं; क्योंकि उनकी माँग बढ़ जाती है। फल यह होता है कि व्यवसायी लोग और और व्यापार-व्यवसाय छोड़ कर, वही अधिक मुनाफ़े का काम करने लगते हैं। जब एक की जगह कई कार-ख़ाने वैसे हो जाते हैं तब माल की आमदनी अधिक होने लगती है। अतएव फिर क़ीमतें उतर जाती हैं और पहले का इतना मुनाफ़ा नहीं मिलता। तब लोग अपनी पूँजी को उस व्यवसाय से निकाल कर फिर और और काम करने लगते हैं।

जिस तरह ज़मीन के उपजाऊपन और उसके मौक़े पर होने से लगान अधिक आता है, उसी तरह कारख़ानेदार की बुद्धिमानी, दूरंदेशी और

प्रबन्ध करने की योग्यता अधिक होने से मुनाफ़ा अधिक होता है। जैसी ज़मीन होती है वैसाही लगान आता है; जैसा कारख़ानेदार होता है वैसा ही मुनाफ़ा भी होता है। कितने ही कारख़ानेदार और व्यापारी ऐसे हैं जो अपने व्यवसाय का अच्छा ज्ञान नहीं रखते। इससे वे अपने से अधिक योग्य कारख़ानेदारों की बराबरी नहीं कर सकते; उनके कारख़ानों से उनका ख़र्च ही मुश्किल से निकलता है, मुनाफ़े की कौन कहे। पर उसी काम को करने वाले उनसे अधिक कार्य्य-कुशल लोग लाखों के वारे न्यारे करते हैं। अतएव यह कहना चाहिए कि मुनाफ़े की कमी-बेशी कारख़ानेदारों और व्यवसायियों की निज की बुद्धिमानी, योग्यता, कार्य्य-कुशलता और दूरंदेशी पर भी बहुत कुछ अवलम्बित रहती है। जो लोग कारख़ानेदारी के काम अच्छी तरह नहीं समझते, अर्थात् जो कार्य्य-कुशल नहीं हैं, उनको भी कारख़ाने के मज़दूरों वग़ैरह को वही मज़दूरी देनी पड़ती है जो कार्य्य-कुशल और चतुर कारख़ानेदारों को देनी पड़ती है। पर एक को कम मुनाफ़ा होता है या बिलकुल ही नहीं होता, और दूसरे को बहुत होता है। जब मज़दूरी की शरह एक होने पर भी मुनाफ़े की मात्रा में इतना फ़रक हो जाता है तब यही कहना चाहिए कि कारख़ानेदार की निज की योग्यता और बुद्धिमानी ही अधिक मुनाफ़ा मिलने का सबसे बड़ा कारण है।

जैसे बुरी ज़मीन में अधिकाधिक खेती होने से उपजाऊ ज़मीन का लगान बढ़ता है उसी तरह अयोग्य कारख़ानेदारों की संख्या अधिक होने से योग्य और चतुर कारख़ानेदारों के मुनाफ़े की मात्रा भी बढ़ती है। सभ्यता और शिक्षा के प्रचार से मनुष्य की विद्या, बुद्धि और योग्यता बढ़ती है। उसका असर कारख़ानों के मालिकों पर भी पड़ता है। अतएव शिक्षा और कलाकौशल की वृद्धि के साथ साथ अयोग्य कारख़ानेदारों की संख्या कम होती जाती है और योग्य कारख़ानेदारों की बढ़ती जाती है। इससे मुनाफ़े की शरह दिनों दिन घटती है; क्योंकि अयोग्य कारख़ानेदारों की अधिकता ही के कारण उसकी मात्रा अधिक होती है। एक बात और भी है। वह यह कि शिक्षा और सभ्यता के प्रचार से मनुष्य दूरंदेश हो जाता है। इससे देश की पूँजी बढ़ती है। और पूँजी

बढ़ने—उसकी आमदनी अधिक होने—से मुनाफ़े का परिमाण कम होना ही चाहिए।

पूर्वोक्त विवेचन से पहला सिद्धान्त यह निकला कि अधिक मुनाफ़े का मिलना बहुत करके कारख़ानेदारों की निज की योग्यता पर अवलम्बित रहता है। और दूसरा यह कि शिक्षा, कला-कौशल और औद्योगिक ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ मुनाफ़े की मात्रा कम हो जाती है। इसके साथ ही समय और ख़र्च की मात्रा का मुनाफ़े पर जो असर पड़ता है उसे भी याद रखना चाहिए। तत्सम्बन्धी सिद्धान्त भी अटल हैं।

इसी भाग के दूसरे परिच्छेद में कह आये हैं कि प्रजावृद्धि होने से अनाज का खप अधिक हो जाता है। इससे खेती की निकृष्टतर ज़मीन जोती बोई जाने लगती है। फल यह होता है कि उधर तो ज़मीन का लगान बढ़ जाता है और इधर महँगी के कारण कारख़ाने वालों का मुनाफ़ा कम हो जाता है। इस समय इस देश की जनसंख्या के बढ़ने, और लाखों मन अनाज विदेश जाने, से अनाज का खप बराबर बढ़ता ही जाता है। खप बढ़ने से उत्पादन-व्यय भी बढ़ता है। अर्थात् बहुत मेहनत करने और बहुत पूँजी लगाने से भी सम्पत्ति की यथेष्ट उत्पत्ति नहीं होती। जो कुछ होती है वह कई हिस्सों में बट जाती है। उसी से लगान, उसी से सूद, उसी से मज़दूरी और उसी से मुनाफ़ा निकालना पड़ता है। ज़मीन की मालिक ठहरी सरकार। वह अपना हिस्सा कम नहीं करती; उलटा बढ़ा चाहे भले ही दे। बाक़ी रहे मज़दूर और पूँजीवाले, सो उन्हीं दोनों का हिस्सा कम हो जाता है। अतएव जनसंख्या की वृद्धि के कारण सम्पत्ति की उत्पत्ति का ख़र्च बढ़ने से देश की बड़ी हानि होती है। उधर लगान बढ़ जाता है, इधर मुनाफ़ा कम हो जाता है। यही नहीं, किन्तु देश में आदमी अधिक हो जाने से मज़दूरी की शरह भी कम हो जाती है। अतएव सब तरफ़ से लोगों को विपत्ति ही का सामना करना पड़ता है। सरकार अपनी मालगुज़ारी कम नहीं करती। देश में पूँजी बहुत कम; तिसपर मुनाफ़ा थोड़ा। मज़दूरों को काफ़ी मज़दूरी न मिलने से पेट भर खाने को नहीं। बिना ख़ूब खाये वे मेहनत अच्छी तरह कर नहीं सकते। अतएव सम्पत्ति भी

कम उत्पन्न होती है। जो अनाज उत्पन्न होता है अधिकांश विदेश चला जाता है। ये सब बातें यदि ऐसी ही बनी रहीं तो देश की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना मात्रा ही से विचारशील आदमियों को निःसीम परिताप होता है।

किसी किसी का ख़याल है कि जिस चीज़ का खप अधिक होता है उस की क़ीमत चढ़ जाती है। क़ीमत चढ़ जाने से मुनाफ़ा अधिक होता है। और मुनाफ़ा अधिक होने से उस चीज़ के बनाने या तैयार करनेवालों को लाभ भी अधिक होता है। पर यह भ्रम है। सब चीज़ों की क़ीमत उनकी उत्पत्ति के ख़र्च के अनुसार निश्चित होती है। और उत्पत्ति के ख़र्च—अर्थात् उत्पादन-व्यय—के कई अवयव हैं। उसमें कच्चे माल की क़ीमत, लाने और भेजने का ख़र्च, निगरानी का ख़र्च, मज़दूरी, और कई तरह के महसूल, सभी शामिल रहते हैं। इनमें से किसी भी ख़र्च के बढ़ने से उत्पादन-व्यय ज़रूर ही बढ़ जाता है। और उत्पादन-व्यय बढ़ने से क़ीमत भी बढ़ जाती है। जितना ख़र्च बढ़ा उसके अनुसार क़ीमत बढ़ गई। मुनाफ़ा कुछ थोड़े ही बढ़ जाता है। मुनाफ़ा तो तब बढ़ता जब उत्पत्ति का ख़र्च कम हो जाता, पर उत्पत्ति उतनी ही होती। उदाहरण के लिए मज़दूरों को जो मज़दूरी दी जाती है वह यदि आधी हो जाय, पर काम उतनाही हो; अथवा मज़दूरी उतनी ही रहे, पर काम दूना हो तो ज़रूर मुनाफ़ा अधिक होगा। यही बात उत्पत्ति के ख़र्च के अन्यान्य अवयवों की भी है। उत्पत्ति कम न हो कर यदि उत्पादन-व्यय के किसी अवयव में कमी हो जाय तो मुनाफ़ा बढ़ जायगा। अन्यथा नहीं।

जो चीज़ें कलों की सहायता से बनाई जाती हैं उनका खप बढ़ने से मुनाफ़ा अधिक होता है। क्योंकि माल जितना ही अधिक तैयार होगा, ख़र्च का औसत उतना ही कम पड़ेगा। कल्पना कीजिए कि कानपुर के पुतलीघर में धोती जोड़ों की एक गठरी तैयार करने में १०० रुपये ख़र्च पड़ते हैं और उसकी क़ीमत १२५ रुपये आते हैं। अर्थात् २५ रुपये फ़ी गठरी मुनाफ़ा होता है। कुछ दिन बाद "स्वदेशी" ने बहुत ज़ोर पकड़ा। इससे देशी धोतियों का खप बढ़ गया। पुतलीघरों में और ज़ियादह कलें लगा दी गईं और रात दिन काम होने लगा। परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहले

एक गठरी पर १०० रुपये ख़र्च पड़ता था तहाँ अब सिर्फ़ ८० रुपये पड़ने लगा। पर माल की आमदनी बहुत होने से अब एक गठरी १२५ की नहीं, किन्तु १२० ही की बिकने लगी। फल यह हुआ कि बाज़ार भाव गिर जाने पर भी, २० रुपया फ़ी गठरी ख़र्च कम हो जाने से, अब गठरी पीछे ४० रुपये मुनाफ़ा मिलने लगा। इससे स्पष्ट है कि किसी चीज़ की क़ीमत बढ़ने ही से मुनाफ़ा होता है, यह भ्रम है। क़ीमत कम आने पर भी मुनाफ़ा अधिक हो सकता है, यह यहाँ पर दिये गये उदाहरण से साबित है। अतएव यह निर्विवाद है कि मुनाफ़ा किसी चीज़ की क़ीमत पर अवलम्बित नहीं रहता, किन्तु उत्पत्ति के ख़र्च की कमी-बेशी पर अवलम्बित रहता है।

जो चीज़ें खेती से पैदा होती हैं उनका खप बढ़ने से क़ीमत भी बढ़ती है। पर उनकी उत्पत्ति बढ़ाने की कोशिश करने से उत्पत्ति का ख़र्च अधिक बैठता है। अर्थात् जितनी उत्पत्ति बढ़ती है उसकी अपेक्षा ख़र्च अधिक पड़ता है। उत्पत्ति के ख़र्च में मुनाफ़े के सिवा और भी बहुत बातें शामिल रहती हैं। वे बढ़ती हैं, इसी से अनाज उत्पन्न करने का ख़र्च बढ़ता है। अनाज का खप अधिक होने से निकृष्टतर ज़मीन में खेती करनी पड़ती है। यह बात मज़दूरी वग़ैरह का ख़र्च बढ़ाये बिना नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है कि अधिक अनाज पैदा करने की कोशिश में मुनाफ़ा तो होता नहीं, उलटा ख़र्च बढ़ जाता है। और उत्पत्ति का ख़र्च बढ़ने से क़ीमत बढ़नी ही चाहिए—अनाज महँगा बिकना ही चाहिए। परन्तु अनाज महँगा बिकने से बेचारे काश्तकारों को मुनाफ़ा थोड़े ही होता है। उनका तो ख़र्च ही मुश्किल से निकलता है। अतएव जो लोग यह समझते हैं कि अनाज महँगा होने से काश्तकारों को फ़ायदा होता है वे बहुत बड़ी भूल करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि आबादी बढ़ने से देश का कल्याण नहीं होता। अनाज की रफ़्नी विदेश को अधिक होने से उसका खप बढ़ता है। इससे अनाज महँगा बिकता है। पर इस महँगी के कारण काश्तकारों को कोई विशेष लाभ नहीं होता। अनाज महँगा होने और ज़मीन का लगान बढ़ने से काश्तकारों को बहुत ही कम मुनाफ़ा होता है। मुनाफ़ा कम होने से वे सञ्चय नहीं कर सकते। इससे खेती के काम में लगाई जानेवाली पूँजी

कम होती जाती है। पूँजी की कमी से मज़दूरी का निर्ख़ भी कम हो जाता है। यहाँ तक कि बहुत से मज़दूरों को काम ही नहीं मिलता। इस दुरवस्था के कारण सम्पत्ति की उत्पत्ति कम होती है और सम्पत्ति कम होने से देश में दरिद्रता बढ़ती है। इस समय, इस सम्बन्ध में, इस देश की स्थिति कैसी है, इसका विचार करना प्रत्येक विचारशील भारतवासी का कर्तव्य है।

इस परिच्छेद में यद्यपि विशेष करके कारख़ानेदारों के मुनाफ़े ही के विचार की आवश्यकता थी, तथापि काश्तकारों के मुनाफ़े के विषय में भी हमने दो चार बातें लिखना आवश्यक समझा। क्योंकि जब मुनाफ़े का विचार हो रहा है तब देश की सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले काश्तकारों के मुनाफ़े का भी विचार करना उचित है।

छठा परिच्छेद।

मज़दूरी।

सम्पत्ति का जो हिस्सा मेहनत करनेवालों को उनकी मेहनत के बदले दिया जाता है उसे उजरत, मज़दूरी, तनख़्वाह या वेतन कहते हैं। उजरत रोज़ाना हो सकती है, हफ़्तेवार हो सकती है, माहवारी हो सकती है। इससे कमोबेश वक़्त में भी मेहनती की मेहनत का बदला मिल सकता है। यदि एक महीने या इससे अधिक मुद्दत में मेहनत का बदला मिलता है तो उसे तनख़्वाह, मुशाहरा या वेतन कहते हैं। और यदि इससे कम मुद्दत में मिलता है तो उसे उजरत या मज़दूरी कहते हैं। परन्तु "मज़दूरी" शब्द अधिक प्रचलित होने के कारण हमने इस परिच्छेद का नाम "मज़दूरी" ही रखना अधिक मुनासिब समझा। मेहनती से मतलब सिर्फ़ कुलियों से नहीं। मिस्त्री, कारीगर, मुहर्रिर, हिसाब किताब रखनेवाले अकौंटेंट, मैनेजर, इत्यादि सभी की गिनती मेहनत करनेवालों में है।

जिसकी मेहनत से जो सम्पत्ति उत्पन्न हो उसे उसी सम्पत्ति का हिस्सा मिलना चाहिए। पर सम्पत्ति के रूप में मेहनत का बदला देने का रवाज नहीं है। क्योंकि इससे मेहनती को अपने जीवनोपयोगी पदार्थ मोल लेने या बदलने में सुभीता नहीं होता। कल्पना कीजिए कि कुछ आदमी किसी

पुतलीघर में काम करते हैं। वहाँ सूत काता जाता है। यदि उन्हें उनकी मेहनत के बदले सूत मिलेगा तो उसे बाज़ार में बेचना पड़ेगा। बिक जाने पर उन्हें उसकी क़ीमत से खाने पीने का सामान और कपड़े-लत्ते मोल लेने पड़ेंगे। इसमें समय भी अधिक लगेगा और तकलीफ़ भी अधिक होगी। इसीसे मेहनतियों को उनकी मेहनत का बदला नक़द रुपये के रूप में दिया जाता है। रुपया हर तरह की सम्पत्ति का चिह्न है। अतएव उसके बदले बाज़ार में सब चीज़ें बिना प्रयास मिल सकती हैं। तथापि देहात में मेहनती को मेहनत का बदला अब भी कभी कभी सम्पत्ति ही के रूप में दिया जाता है। उदाहरण के लिए जो लोग खेत काटते हैं, या खेत में गिरा हुआ अनाज इकट्ठा करते हैं, उन्हें उनकी मेहनत का बदला कटी हुई फ़सल या जिन्स के रूप में दिया जाता है। मेहनत के इस तरह के बदले को असल उजरत या मज़दूरी कहते हैं और जो बदला रुपये के रूप में दिया जाता है उसे नक़द उजरत या मज़दूरी कहते हैं।

मनुष्य विशेष करके इसलिए मेहनत करता है जिसमें उसे व्यवहार की आवश्यक चीज़ें प्राप्त हो सकें। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने आदि के लिए जो चीज़ें दरकार होती हैं उन्हीं की गिनती व्यावहारिक अर्थात् जीवनोपयोगी चीज़ों में है। अतएव असल उजरत वह चीज़ है जिसकी बदौलत मेहनती आदमी को जीवनोपयोगी सामग्री, या शरीर को सुखी रखने के लिए और सामान, मिल सकें। खेत में काम करनेवालों को जो असल उजरत मिलती है उससे उनका व्यावहारिक काम निकलता है। पर नक़द उजरत से नहीं निकलता। नक़द उजरत को बदल कर फिर उसे असल या यथार्थ उजरत के रूप में लाना पड़ता है। खेत में काम करनेवाले जिस मज़दूर को अनाज के बदले रुपया मिलता है उसे उस रुपये के बदले फिर अनाज लेना पड़ता है। अथवा यदि उसे और कोई चीज़ दरकार हुई तो वह चीज़ लेनी पड़ती है। इससे सिद्ध हुआ कि असल उजरत ही मुख्य चीज़ है।

जितने मेहनती हैं—जितने मज़दूर हैं—सब असल उजरत, अर्थात् रोटी, कपड़े इत्यादि ही के लिए मेहनत करते हैं। अतएव यदि ये चीज़ें उन्हें अधिक मिलें तो वे इस बात की ज़रा भी परवा न करेंगे कि नक़द उजरत उन्हें कम

मिलती है या अधिक। क्योंकि रुपये को कोई खाता तो है नहीं। उसके बदले बाज़ार में व्यवहार की चीज़ें ही मोल ली जाती हैं। यदि अनाज, कपड़ा, तम्बाकू, नमक, मिर्च, मसाला महँगा होगया तो मज़दूरों की असल उजरत कम होगई समझनी चाहिए; क्योंकि नक़द उजरत के बदले ये चीज़ें कम आवेंगी। इसके विपरीत यदि ये चीज़ें सस्ती बिकने लगीं तो असल उजरत की शरह बढ़ गई समझनी चाहिए; क्योंकि, इस दशा में, नक़द उजरत के थोड़े ही अंश से मेहनती आदमियों को खाने-पीने की चीज़ें मिल जायँगी। बहुत लोग समझते हैं कि यदि किसी मज़दूर की नक़द मज़दूरी सवाई हो जाय तो वह पहले से सवाया मालदार हो जायगा। यह बहुत बड़ी भूल है। कल्पना कीजिए कि एक बेलदार को ४ आने रोज़ मज़दूरी मिलती है और अनाज का भाव उस समय रुपये का १६ सेर है। अब यदि उसकी मज़दूरी ५ आने रोज़ हो जाय, और साथही अनाज का भाव तेज़ होकर रुपये का ११ ही सेर रह जाय, तो एक आना अधिक मज़दूरी मिलने से मज़दूर को क्या फ़ायदा होगा? कुछ भी नहीं। जितनी नक़द मज़दूरी बढ़ी उतनी असल मज़दूरी कम होगई। कमी-बेशी का नतीजा बराबर होगया—बात जैसी थी वैसी ही रही। इससे यह सिद्धान्त निकला कि मज़दूरों की मज़दूरी पर व्यावहारिक चीज़ों के महँगे-सस्ते होने का बहुत बड़ा असर पड़ता है। यदि ये चीज़ें सस्ती होजायँ तो मज़दूरों की नक़द मज़दूरी का निर्ख़ बढ़गया समझना चाहिए; और यदि महँगी होजायँ तो नक़द मज़दूरी का निर्ख़ घट गया समझना चाहिए।

हर आदमी का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह अपनी मेहनत से अधिक सम्पत्ति पैदा करे। यदि थोड़ी मेहनत से बहुत चीज़ें तैयार होंगी तो वे सस्ती बिकेंगी और सब लोग आसानी से ले सकेंगे। कल्पना कीजिए कि पाँच आदमी मिलकर गाढ़े का एक थान दो दिन में तैयार करते हैं। अब यदि वे दो दिन में दो थान तैयार करें तो उतनी ही मेहनत से दूनी सम्पत्ति उत्पन्न होगी। परिणाम यह होगा कि गाढ़ा पहले से बहुत सस्ता बिकेगा। अन्यान्य व्यावहारिक चीज़ें भी यदि इसी तरह, मेहनत की अधिक फलोत्पादकता के कारण, सस्ती हो जायँ तो थोड़ी आमदनी वाले आदमी

भी उन्हें आसानी से मोल ले सकें और देश की सम्पत्ति बहुत बढ़ जाय।

जुदा जुदा देशों और जुदा जुदा पेशों में मज़दूरों की नक़द उजरत तुल्य होकर भी असल उजरत कमो-बेश हो सकती है। उदाहरण:—

(१) सब देशों में रुपये की क़ीमत या उसकी मोल लेने की शक्ति एकसी नहीं होती। बहुधा उसमें कमी-बेशी होती है। एक देश में एक रुपये की कोई चीज़ जितनी मिलती है, दूसरे देश में उससे कमोबेश मिल सकती है। कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान में चार आने के तीन सेर गेहूँ बिकते हैं। संभव है, किसी और देश में चार आने के दोही सेर गेहूँ बिकते हों। यदि इन दोनों देशों में किसी मज़दूर की उजरत चार आने रोज़ हो तो हिन्दुस्तान में चार आने के बदले तीन सेर गेहूँ मिलने के कारण, नक़द उजरत दोनों देशों में एक होने पर भी, हिन्दुस्तान के मज़दूर की असल उजरत अधिक होगी।

(२) किसी किसी देश में काम करने वालों को रहने के लिए मकान मिलता है, दोपहर को खाना मिलता है, ईंधन लकड़ी भी मिलती है। अतएव जिन देशों में यह रिवाज नहीं है वहाँ के मज़दूरों की मज़दूरी का निर्ख़, यहाँ वालों के निर्ख़ के बराबर होने पर भी, असल उजरत में बहुत अन्तर होगा। जिस देश के मज़दूरों को मकान आदि मुफ़्त में मिलेगा उनकी असल उजरत अधिक पड़ जायगी।

(३) कुछ पेशे ऐसे हैं जिनमें लगे हुए लोगों को काम में अपने स्त्री और बच्चों से भी मदद मिलती है, पर कुछ में नहीं मिलती। इस दशा में जिन लोगों को मदद मिलेगी उनकी असल उजरत दूसरों की अपेक्षा ज़रूर ही अधिक होगी।

संभव है कि कारख़ानेदार को नक़द उजरत अधिक देनी पड़े; पर, मज़दूरों या कारीगरों की कुशलता और कारीगरी के कारण, असल उजरत कम हो। इसके विपरीत, सम्भव है, कारख़ानेदार नक़द उजरत इतनी कम दे जिससे कारीगरों का गुज़ारा मुश्किल से हो सके। पर कारीगरों की सुस्ती, बेपरवाही और अयोग्यता के कारण उनकी तैयार की हुई चीज़ों की बिक्री से कारख़ानेदार को जो कुछ मिले वह उनको दी हुई उजरत के बरा-

बर भी न हो। चतुर मोची एक टुकड़े चमड़े के चार जोड़ी जूते तैयार कर सकता है। पर जो अपने काम में निपुण नहीं है वह मुश्किल से तीन जोड़े तैयार कर सकेगा। अतएव पहले को नौकर रखने से कारख़ानेदार को लाभ होगा और दूसरे को रखने से हानि। इसी बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हैं कि पहले से काम लेने में असल उजरत कम देनी पड़ेगी और दूसरे से काम लेने में अधिक।

कल्पना कीजिए कि दो मोची हैं। उनकी उजरत एक रुपया रोज़ है। उनमें से एक अच्छा कारीगर नहीं है। उसके एक दिन में बनाये हुए एक जोड़े बूट पर, मज़दूरी छोड़कर, एक रुपया लागत आती है और वह पौने दो रुपये को बिकता है। दूसरे के उतने ही समय में बनाये हुए बूट पर, मज़दूरी छोड़ कर, उतनी ही लागत बैठती है, पर वह ढाई रुपये को बिकता है। अतएव पहले कारीगर को एक रुपया मज़दूरी देने का बदला कारख़ानेदार को सिर्फ़ बारह आने मिलता है; पर दूसरे को उतनी ही उजरत देने का बदला डेढ़ रुपया मिलता है। पहली सूरत में उसे चार आने घाटा होता है, और दूसरी में आठ आने मुनाफ़ा। इससे स्पष्ट है कि दोनों सूरतों में नक़द मज़दूरी का निर्ख़ एक होकर भी एक सूरत में कारख़ानेदार को असल मज़-दूरी अधिक देनी पड़ती है, दूसरी में कम। इससे अधिक उजरत उन्हीं कारीगरों और मज़दूरों को मिलती है जिनकी मेहनत से कारख़ानेदार को असल उजरत के हिसाब से कम ख़र्च करना पड़ता है। जब कारख़ानेदार को किसी कारण से कुछ आदमियों को छुड़ाना पड़ता है तब वह उन्हीं को छुड़ाता है जिनके कार्य्य-कुशल न होने के कारण कारख़ाने में तैयार हुए माल पर अधिक ख़र्च बैठता है। यह इस बात का प्रमाण है कि असल उजरत को ध्यान में रख कर ही कारख़ानेदार मज़दूरों को छुड़ाते या अधिक उजरत देते हैं।

मज़दूरी के निर्ख़ का कमोवेश होना पूँजी के परिमाण और मज़दूरों की संख्या पर अवलम्बित रहता है। मेहनती आदमियों को जो उजरत दी जाती है वह चल या भ्राम्यमान पूँजी से दी जाती है। अथवा यों कहिए कि चल पूँजी का जो भाग मज़दूरों को मज़दूरी देने के लिए अलग रख लिया जाता

है उसी से मज़दूरी दी जाती है। चल पूँजी जितनी ही अधिक होगी मज़-दूरों को लाभ भी उतना ही अधिक होगा; और वह जितनी ही कम होगी हानि भी उनकी उतनी ही होगी। परन्तु मज़दूरों की संख्या का भी मज़दूरी के निर्ख़ पर बड़ा असर पड़ता है। क्योंकि देश की सारी चल पूँजी मज़-दूरों की संख्या के हिसाब से बांटी जाती है। अतएव यदि पूँजी पूर्ववत् बनी रहकर मज़दूरों की संख्या बढ़ेगी तो हर मज़दूर को पूँजी का जो अंश मिलना चाहिए वह कम हो जायगा। अर्थात् मज़दूरी का निर्ख़ घट जायगा। इसी तरह मज़दूरों की संख्या पूर्ववत् बनी रह कर यदि पूँजी कम हो जायगी तो भी वही परिणाम होगा। पूँजी बढ़ कर यदि मज़दूर पूर्ववत् ही रहेंगे, अथवा यदि पूँजी पूर्ववत् रह कर मज़दूर कम हो जायँगे, तभी मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ेगा।

अँगरेज़ सम्पत्ति-शास्त्रवेत्ताओं का मत है कि मज़दूरों को मज़दूरी कार-ख़ानेदारों की चल पूँजी से दी जाती है। अमेरिका के सम्पत्ति-शास्त्रवेत्ता वाकर साहब इस सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। वे कहते हैं कि यह कोई ज़रूरी बात नहीं कि पहले ही से अलग कर दी गई चल पूँजी से ही मज़दूरों को मज़दूरी दी जाय। इँगलेंड में ऐसा होता है, अमेरिका में नहीं। अमेरिका के मज़दूर और कारीगर आदि भूखों नहीं मरते जो कारख़ानेदारों से रोज़ मज़दूरी लें, या अपनी बनाई या तैयार की हुई चीज़ों की बिक्री के पहले ही मज़दूरी माँगने लगें। वे इँगलेंड वालों की अपेक्षा अधिक ख़ुशहाल हैं। इससे जो चीज़ें वे बनाते या तैयार करते हैं उनके बिकने पर वे उजरत लेते हैं। अर्थात् उनकी मेहनत की बदौलत कारख़ानेदार को जो कुछ मिलता है उससे उन्हें मज़दूरी दी जाती है, कारख़ानेदार की पूँजी से नहीं। हां यदि उन्हें ज़रूरत हो तो वे कभी कभी अपनी बनाई हुई चीज़ों की बिक्री के पहले भी मज़दूरी का कुछ अंश ले लेते हैं।

वाकर साहब कहते हैं कि यदि कारख़ानेदार मज़दूरों को रोज़ उजरत दे भी दिया करें तो इससे यह नहीं साबित होता कि उजरत का निर्ख़ पूँजी के परिमाण पर अवलम्बित रहता है। क्योंकि कारख़ानेदार अपनी वर्त्तमान पूँजी ख़र्च करने के इरादे से नहीं लगाता, किन्तु अधिक सम्पत्ति पैदा करने

के इरादे से लगाता है। मज़दूरों की मेहनत से यदि अधिक सम्पत्ति पैदा होती है तो उन्हें अधिक मज़दूरी मिलती है और जो कम पैदा होती है तो कम। अतएव मज़दूरों की मज़दूरी का परिमाण, उनकी मेहनत से पैदा हुई सम्पत्ति के परिमाण पर अवलम्बित रहता है, पूँजी के परिमाण पर नहीं। मज़दूर जितना ही अधिक कार्य्य-कुशल और मेहनती होगा, सम्पत्ति भी उतनी ही अधिक पैदा होगी और मज़दूरी भी उसे उतनी ही अधिक मिलेगी।

वाकर साहब का यह मत अमान्य नहीं किया जा सकता। उनकी दलीलें बहुत पुष्ट और मजबूत हैं। जैसा हम ऊपर दो एक उदाहरणों से साबित कर चुके हैं, मज़दूरों को अधिक मज़दूरी मिलना बहुत कुछ उनकी कार्य्य-कुशलता पर अवलम्बित रहता है। पर जहां मज़दूरों की मेहनत से बनी या तैयार हुई चीज़ों की बिक्री से नई सम्पत्ति पैदा होने के पहले ही मजदूरी दी जाती है वहां वह पहले ही से अलग कर दी गई चल पूँजी से ही दी जाती है। इसमें सन्देह नहीं। कारखानों में तैयार हुई चीज़ों की बराबर बिक्री होती रहने से चल पूँजी का परिमाण प्रतिदिन घट बढ़ सकता है। जो कारीगर या मज़दूर अच्छा काम करने वाला होगा उसे भी पहले मज़दूरी पूर्वसञ्चित पूँजी से ही दी जायगी। यदि उसकी उजरत का निर्ख़ बढ़ेगा तो उसकी मदद से उत्पन्न हुई अधिक सम्पत्ति के परिमाण को देख कर बढ़ेगा, उसके पहले नहीं। अतएव वाकर साहब का सिद्धान्त मान लेने पर भी यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि नई सम्पत्ति की बिक्री के पहले जो मज़दूरी मज़दूरों को मिलेगी वह पूर्वसञ्चित पूँजी से ही मिलेगी।

मज़दूरी के निर्ख़ पर स्पर्धा अर्थात् चढ़ा-ऊपरी का भी बहुत असर पड़ता है—मज़दूरी में कमी-बेशी होने का कारण चढ़ा-ऊपरी भी है। पूँजी वाले चाहते हैं कि कम मज़दूरी दें और मज़दूर चाहते हैं कि अधिक मज़दूरी लें। इससे पूँजी वालों और मज़दूरों में हमेशा हित-विरोध रहता है। बहुत लोगों को एकदम अधिक मज़दूरों की ज़रूरत होने से मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ जाता है। और काम कम हो जाने से, जब बहुत से मज़दूर बेकार हो जाते हैं, मज़दूरी का निर्ख़ घट जाता है।

मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ना देश के समृद्ध होने का चिह्न है। क्योंकि मज़दूरी तभी अधिक दी जा सकेगी जब देश में चल पूँजी अधिक होगी। और चल पूँजी का अधिक होना, अधिक सञ्चय का फल है। अधिक सञ्चय तभी हो सकता है जब जीवनोपयोगी सामग्री मोल लेने में ख़र्च कम पड़े। अर्थात् खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की चीज़ें सस्ती होने ही से ख़र्च में कमी होती है और पास कुछ बच रहता है। परन्तु कोई चीज़ तब तक सस्ती नहीं बिकती जब तक उसकी उत्पत्ति में ख़र्च कम न पड़े। और उत्पत्ति का ख़र्च बहुत करके तभी घटता है जब यन्त्रों से काम लिया जाय। अतएव बड़े बड़े कल-कारख़ानों का खुलना और उनमें यन्त्रों से काम होना भी मज़दूरों के लिए लाभदायक बात है।

यह बात हम एक जगह लिख आये हैं कि यदि कुछ विशेष कारण न हो तो आबादी बढ़ने से देश की आर्थिक दशा सुधरने के बदले बिगड़ जाती है। इधर उससे व्यापार-व्यवसाय करने वालों का मुनाफ़ा कम हो जाता है, उधर ज़मीन का लगान बढ़ जाता है। यदि पूँजी न बढ़ी और देश में आबादी बढ़ गई तो मज़दूरी का निर्ख़ कम हो जाता है। अर्थात् आबादी बढ़ने से देश की सब तरह से हानि ही होती है।

योरप के विद्वानों ने आबादी के विषय का अच्छी तरह विचार किया है और कितने ही उत्तमोत्तम ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन ग्रन्थों में माल्थस नामक एक साहब का ग्रन्थ सबसे अधिक महत्त्व का है। उसमें लिखा है कि जितने प्राणी हैं प्रायः सभी प्राकृतिक नियमों का उल्लङ्घन करके अपनी अपनी वृद्धि करते रहते हैं। यदि उनकी यह असाधारण वृद्धि रोकी न जाय तो किसी समय इस इतनी बड़ी पृथ्वी पर पैर रखने को भी जगह न रह जाय। इस दशा में जीवन-निर्वाह के साधन बहुत ही कम हो जायँ और अधिकांश जीवधारियों को भूखों मरना पड़े। इससे लड़ाइयाँ, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, भूडोल, ज्वालामुखी पर्वतों के स्फोट आदि उपद्रव खड़े करके मानो ईश्वर इस दुर्लंघ्य आपत्ति से प्राणियों की रक्षा करता है। इस तरह मनुष्य-संख्या की वृद्धि का जो आप ही आप प्रतिबन्ध होता रहता है उसका नाम है—नैसर्गिक निरोध। परन्तु इसके सिवा अविवाहित रह कर,

बड़ी उम्र में विवाह करके, जान बूझ कर थोड़ी सन्तान उत्पन्न करके, किसी किसी सभ्य और शिक्षित देश के आदमी ख़ुद भी मनुष्य-संख्या की वृद्धि को रोकते हैं। इस रुकावट का नाम है—"कृत्रिम निरोध"। अमेरिका के संयुक्त राज्यों के राजा, सभापति रूज़वेल्ट, इस कृत्रिम निरोध के बहुत प्रतिकूल हैं। पर फ़्रांस आदि कितने ही देशों के विचारशील लोग इस निरोध को बहुत लाभदायक समझते हैं और तदनुकूल व्यवहार भी करते हैं।

देशान्तर-वास से भी देश की मनुष्य-संख्या कम हो सकती है। पर जो लोग अपने देश में आराम से रह सकते हैं वे विदेश जाना नहीं पसन्द करते। अतएव यदि कुछ लोग और देशों को चले भी जायँ, तो भी, देश के समृद्ध आदमियों की सन्तति बराबर बढ़ती रहेगी। हमारे देश के लिए यह इलाज उतना उपयोगी भी नहीं। क्योंकि जो लोग ट्रांसवाल, नट्टाल आदि देशों में जाकर बस गये हैं, या व्यापार के निमित्त अचिरस्थायी तौर पर वहाँ रहने लगे हैं उनकी वहाँ बड़ी ही बे इज़्ज़ती होती है। इससे यहाँ वालों का देशान्तर-वास-विषयक साहस और भी कम हो गया है। इस देश में कहीं कहीं, किसी किसी प्रान्त में, आबादी कम है। वहाँ लोग जा कर बसें तो बहुत अच्छा हो।

आबादी की वृद्धि रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि यथाशक्ति "कृत्रिम निरोध" से काम लिया जाय। पर इस तरह के निरोध में कोई बात अविवेकपूर्ण न होनी चाहिए। जो उपाय किया जाय विवेकपूर्वक किया जाय। अशिक्षित और मूर्ख मज़दूरों में विवेक का होना बहुत कम सम्भव है। शिक्षा से उनकी दशा सुधर सकती है। क्योंकि उनकी कार्य-कुशलता बढ़ जाती है। इससे उनका काम अधिक उत्पादक हो जाता है, और निगरानी और औज़ार वग़ैरह का ख़र्च भी कम हो जाता है। फल यह होता है कि अधिक सम्पत्ति पैदा होती है और उन्हें अधिक उजरत मिलने लगती है। यदि उन्हें शिक्षा मिले, और शिक्षा के योग से उनकी आमदनी भी कुछ बढ़ जाय, तो उन्हें अपनी स्थिति को उन्नत करने का ज़रूर ख़याल होगा। उस समय जीवन-निर्वाह की उच्च कल्पनायें आपही आप उनके मन में आने लगेंगी। अतएव वे अपनी उस स्थिति से नीचे न गिरेंगे और विवेक-जन्य निरोध आदि से अपनी सन्तति को भी बहुत न बढ़ने देंगे।

आबादी के बढ़ने और मज़दूरी के निर्ख़ से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इसीसे मनुष्य-संख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ विचार करना ज़रूरी समझा गया। जिस परिमाण मे मनुष्यों की संख्या कम या अधिक होती है उसी परिमाण में मज़दूरी का निर्ख़ भी अधिक या कम होता है। आबादी बढ़ने से दो बातें होती हैं। चल पूँजी के बहुत आदमियों में बँट जाने से एक तो हर आदमी—हर मज़दूर—का हिस्सा कम हो जाता है। अर्थात् उजरत की शरह घट जाती है। दूसरे खप अधिक होने से खानेपीने की चीज़ें महँगी हो जाती हैं। मज़दूरी भी कम, अनाज भी महँगा! इससे बेचारे मज़दूरों को पेट भर रोटी नहीं मिलती। उनकी दशा दिन पर दिन हीन होती जाती है। हमारा देश ऐसा दरिद्री कि पूँजी बहुत कम; सो भी विशेष बढ़ती नहीं। आबादी बढ़ रही है। प्लेग की कृपा से कुछ कम ज़रूर हुई है; पर गत दस वर्ष का औसत लगाने से फिर भी पहले से अधिक ही है। अतएव मेहनत मज़दूरी करके पेट पालने वालों की अवस्था के अधिकाधिक नाज़ुक हो जाने का सब सामान यहाँ प्रस्तुत है।

पदार्थों की क़ीमत बढ़ जाने से मज़दूरों की मज़दूरी नहीं बढ़ती और यदि बढ़ती भी है तो थोड़े ही समय के बाद वह फिर उतर जाती है। किसी चीज़ की क़ीमत उसके उत्पादन-व्यय के अनुसार निश्चित होती है। और उत्पादन-व्यय में सूद, मुनाफ़ा, मज़दूरी, जोखिम का बदला, निगरानी का ख़र्च और सरकारी कर आदि कितनीहीं बातें शामिल रहती हैं। इनमें से किसी एक का भी परिमाण अधिक होने से क़ीमत अधिक हो सकती है। सम्भव है, मज़दूरी पूर्ववत् ही बनी रहे; पर उत्पादन-व्यय की किसी और शाखा का परिमाण अधिक हो जाने से पदार्थों की क़ीमत बढ़ जाय। अतएव यह न समझना चाहिए कि क़ीमत बढ़ने से मज़दूरों को उजरत भी हमेशा अधिक मिलती है। उनको उजरत तो तभी अधिक मिलेगी जब उनकी संख्या पूर्ववत् बनी रह कर चल पूँजी अधिक हो जायगी; अथवा पूँजी पूर्ववत् बनी रह कर उनकी संख्या कम हो जायगी; अथवा कार्य्य-कुशलता के कारण उनकी मदद से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न होगी।

किसी चीज़ की क़ीमत बढ़ने से उसे बनाने या तैयार करने वाले मज़-

दूरों की उजरत यदि बढ़ेगी भी तो कुछ समय बाद वह फिर अपने पहले ठिकाने पर आजायगी। कल्पना कीजिए कि आज कल स्वदेशी कपड़े का बड़ा खप है। इससे उसकी क़ीमत अधिक आती है और मुनाफ़ा बहुत होता है। यह देखकर जो लोग स्वदेशी कपड़े का व्यापार या व्यवसाय नहीं करते थे वे भी अपना अपना व्यवसाय बन्द करके कपड़े के कारख़ाने खोलेंगे। इससे इस व्यवसाय की पूँजी बढ़ जायगी। पर कपड़े के पुतलीघरों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या पूर्ववत् ही रहेगी। अतएव उनकी उजरत ज़रूर बढ़ जायगी। पर इस व्यवसाय में बहुत आदमियों के लग जाने से माल अधिक तैयार होगा। उधर और कारख़ानों के बन्द होने से जो मज़दूर बेकार हो जायँगे वे भी कपड़े के कारख़ानों में घुसने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि उजरत का निर्ख़ उतरने लगेगा और धीरे धीरे पूँजी और मज़दूरों की संख्या के समीकरण पर निश्चित हो जायगा। सम्भव है, इस समय वह पहले की अपेक्षा भी कम होजाय। अतएव पदार्थों की क़ीमत का बढ़ना इस बात का पक्का प्रमाण नहीं कि उससे मज़दूरों की उजरत भी बढ़ती है और यदि बढ़ती है तो हमेशा वही बनी रहती है।

जैसा ऊपर कहा गया है, मज़दूरी का निर्ख़ उद्योगी मज़दूरों की चढ़ा-ऊपरी से भी निश्चित होता है। अतएव निरुद्योगी और आलसी आदमियों का, बिना उनसे कोई काम लिये ही, पालन-पोषण करना देश में निरुद्योग और आलस्य को बढ़ाना है। उद्योग और श्रम से ही सम्पत्ति पैदा होती है। इससे जो लोग श्रम नहीं करते, मुफ़्त में औरों का दिया खा कर पैर पर पैर रक्खे हुए बैठे रहते हैं, वे देश के दुश्मन हैं। क्योंकि उनका निरुद्योगीपन देश की सम्पत्ति कम करने का कारण होता है। उन्हें खिलाने पिलाने में जो ख़र्च होता है उसका कुछ भी बदला नहीं मिलता। उसे निरुत्पादक व्यय समझना चाहिए। फिर, बहुत आदमियों के कोई उद्योग न करने से काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या कम हो जाती है। इससे मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ जाता है और देश की पूँजी का अधिकांश मज़दूरी ही में ख़र्च हो जाता है। मज़दूरी बढ़ने से सब चीज़ें महँगी हो जाती हैं। इसका असर मज़दूरों पर भी पड़ता है। फल यह होता है कि मज़दूरी बढ़ने से उन्हें जो लाभ

होना चाहिए, वह, महँगी के कारण, नहीं होता । अतएव आलसी और निरुद्योगी आदमियों की संख्या बढ़ाना देश के लिए और ख़ुद मज़दूरों के लिए भी, सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से बहुत बुरा है ।

व्यवसाय एक नहीं अनेक हैं । उन सब में मज़दूरी, उजरत या वेतन का निर्ख़ एक नहीं । किसी व्यवसाय में कम उजरत मिलती है किसी में अधिक । सम्पत्ति-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य्य ऐडम स्मिथ ने वेतन की कमी-बेशी के सम्बन्ध में व्यवसायों के पांच वर्ग माने हैं । यथा:—

(१) कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिन्हें लोग पसन्द करते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें नहीं पसन्द करते । कोयले की खान में क़ुली का, या रेल के यंजिनों पर ख़लासी का, काम करनेवालों के बदन कोयले और तेल से लिपटे रहते हैं, मेहनत भी बहुत पड़ती है, जान जाने का भी डर रहता है । इससे इस काम के लिए बहुत कम आदमी मिलते हैं और जो मिलते हैं उन्हें अधिक उजरत देनी पड़ती है । इसी तरह जो काम समाज की दृष्टि में निन्द्य और अप्रतिष्ठा-जनक समझे जाते हैं, उनके करनेवालों को भी अधिक उजरत मिलती है । अमीर आदमियों के रसोइये और साहब लोगों के ख़ानसामे पन्द्रह पन्द्रह बीस बीस रुपया महीना पैदा करते हैं । पर देहाती मदरसों के मुदर्रिस मुश्किल से दस बारह रुपये वेतन पाते हैं । इसका यही कारण है कि लड़के पढ़ाने में प्रतिष्ठा है । पर खाना पकाने में नहीं । ऐडम स्मिथ के इस सिद्धान्त का प्रभाव इस देश के आदमियों पर, जाति-भेद के कारण, कम पड़ता है । क्योंकि मेहतर, मोची, जुलाहे, धुनियें, खटिक आदि निन्द्य व्यवसाय करने वाले लोग परम्परा से अपना ही काम करते आते हैं । जो काम बाप करता है वही बेटा भी करता है । कोई और जाति अधिक उजरत के लोभ से मोची या जुलाहे का काम करने पर राज़ी नहीं हो सकती । इससे उन्हें स्पर्धा का बहुत कम डर रहता है । परन्तु धीरे धीरे कालचक्र फिरने लगा है । अन्य जाति वाले भी अब जूतों की दूकान और चमड़े का व्यवसाय करने लगे हैं । अतएव जो व्यवसाय निन्द्य और अप्रतिष्ठाजनक माने गये हैं उनके करने वालों को होशियार हो जाना चाहिए ।

(२) जिस व्यवसाय के सीखने में अधिक मेहनत और अधिक ख़र्च

पड़ता है उसमें मज़दूरी भी अधिक मिलती है। अच्छे बढ़ई को रुपया बारह आने रोज़ मिलता है, पर क़ुली को सिर्फ़ तीन चार आने। क्योंकि बढ़ई का काम सीखने में बहुत दिन लगते हैं। यञ्जिनियरी, डाक्टरी और विकालत की परीक्षा पास करने के लिए बहुत दिन तक पढ़ना और बहुत ख़र्च करना पड़ता है। इसीसे इस व्यवसाय वालों को अधिक वेतन, अर्थात् अपने काम का अधिक बदला, मिलता है।

(३) अचिरस्थायी व्यवसायों की अपेक्षा चिरस्थायी व्यवसायों में कम उजरत मिलती है। रेल के कारख़ाने हमेशा जारी रहते हैं। अतएव वहाँ काम करनेवाले लोहार, बढ़ई और क़ुली थोड़ी तनख़्वाह पर भी ख़ुशी से काम करते हैं। परन्तु यदि कोई एक बँगला या मकान बनाता है तो उसे इन्हीं लोगों को बहुधा अधिक उजरत देनी पड़ती है। क्योंकि जो कारीगर या क़ुली वहाँ काम करने आते हैं वे जानते हैं कि चार छः महीने में जब यह काम ख़तम हो जायगा तब हमें और कहीं काम ढूँढ़ना पड़ेगा, और, सम्भव है, महीनों हमें बेकार बैठना पड़े। यही समझ कर वे लोग अधिक उजरत लेते हैं।

(४) विश्वास और ज़िम्मेदारी के कामों में भी अधिक वेतन देना पड़ता है। बड़े बड़े बैंकों और महाजनों की बड़ी बड़ी कोठियों के ख़ज़ानची और मुनीम जो अधिक वेतन पाते हैं उसका यही कारण है कि यह काम बड़ी ज़िम्मेदारी का है। अतएव विश्वासपात्र आदमी के सिवा औरों को नहीं मिलता। ख़ज़ानची का काम कुछ मुश्किल नहीं, पर ज़िम्मेदारी और विश्वासपात्रता के कारण अधिक वेतन मिलता है।

(५) कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें यह शङ्का बनी रहती है कि इस काम में सफलता होगी या नहीं। रेल में हज़ारों तारबाबू दरकार होते हैं। तार का काम जानने वाले बहुधा कभी बेकार नहीं रहते। उन्हें कहीं न कहीं काम मिल ही जाता है। सफलता-सम्बन्धी इसी निश्चय के कारण उन्हें कम तनख़्वाह मिलती है। पर वकीलों को अपने व्यवसाय में सफलता की शङ्का रहती है। क्योंकि किसी की विकालत चलती है, किसी की नहीं

चलती । यही हाल उस प्रकार के काम करने वाले और लोगों का भी है । इसीसे उन्हें अधिक उजरत मिलती है ।

परन्तु इस वर्गीकरण में भी मज़दूरी की कमी-बेशी चल पूँजी के परिमाण और काम करने वालों की संख्या और कार्य्यकुशलता पर अवलम्बित रहती है । चाहे जो व्यवसाय हो और चाहे वह जितना कठिन हो, काम करने वालों की संख्या का असर मज़दूरी पर ज़रूर पड़ता है । यही हाल अधिक ख़र्च से सीखे जाने वाले और अधिक ज़िम्मेदारी के कामों का भी है । जब तक मज़दूरों की संख्या कम है तभी तक उजरत अधिक मिल सकती है । उनकी संख्या बढ़ने से उजरत ज़रूर घट जाती है । प्रफुल्लचित्त, बलिष्ठ, नीरोग, विश्वासपात्र, कार्य्यकुशल और दूसरे के काम को अपना समझ कर मेहनत करनेवाले लोगों को कभी काम की कमी नहीं रहती । उन्हें उजरत भी अधिक मिलती है और जिनका वे काम करते हैं उन्हें उनकी बदौलत लाभ भी अधिक होता है ।

छठा भाग।

सम्पत्ति का उपभोग।

सञ्चय क्यों किया जाता है? सम्पत्ति क्यों उत्पन्न की जाती है? सिर्फ़ इसलिए कि वह काम आवे—उसका उपभोग हो। पर सब काम एक तरह के नहीं होते। सम्पत्ति का उपभोग अनेक प्रकार से हो सकता है। सौ रुपये की आतशबाज़ी पाँच मिनट में उड़ा देने से भी सम्पत्ति का उपभोग होता है। और सौ रुपये के कपड़े बनवा कर पाँच वर्ष तक पहनने से भी सम्पत्ति का उपभोग होता है। परन्तु दोनों में अन्तर है। पहले प्रकार के उपभोग से तो सौ रुपये ज़रा देर में बरबाद हो जाते हैं। पर दूसरे प्रकार के उपभोग से मनुष्य की एक बहुत बड़ी ज़रूरत रफ़ा होती है, सो भी एक या दो दिन के लिए नहीं, बरसों के लिए। सम्पत्ति को काम में लाना ही चाहिए—उसका व्यवहार करना ही चाहिए। सम्पत्ति में उपकार करने की—फ़ायदा पहुँचाने की—जो शक्ति है वह व्यवहार करने से ज़रूर कम हो जाती है। पर यदि उसका व्यवहार न किया जाय तो वह व्यर्थ जाती है। इसलिए व्यवहार ज़रूर करना चाहिए, पर इस तरह कि व्यवहार करनेवाले को अधिक दिन तक फ़ायदा पहुँचे।

मनुष्य को हमेशा मितव्ययी होने की कोशिश करना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि जिस चीज़ के लेने की मुझे इच्छा है उसकी ज़रूरत भी है या नहीं। किसी चीज़ को सिर्फ़ उसके अच्छेपन के कारण न लेना चाहिए। उसकी ज़रूरत का ख़याल करके ही लेना चाहिए। यदि उसकी ज़रूरत नहीं है, तो चाहे वह जितनी अच्छी हो उसे लेना मुनासिब नहीं। सम्पत्ति बिना ज़रूरत फेंक देने की चीज़ नहीं।

कुछ चीज़ें ऐसी हैं जो एक ही बार व्यवहार करने से नष्ट हो जाती हैं; कुछ अनेक बार व्यवहार करने से भी नष्ट नहीं होतीं—बरसों चलती हैं।

खाने पीने की जितनी चीज़ें हैं वे एक ही दफ़े के व्यवहार से नष्ट हो जाती हैं। पर इन चीज़ों का उपभोग करना ही पड़ता है। इनके उपभोग के लिए सम्पत्ति ख़र्च किये बिना आदमी जी ही नहीं सकता। तथापि इनके लिए भी ज़रूरत से अधिक सम्पत्ति न ख़र्च करना चाहिए। खाने पीने की जितनी चीज़ें हैं सब का गुण अलग अलग है। किसी में शरीर को अधिक बलवान् और पुष्ट करने की शक्ति है, किसी में कम। यदि किसी एक प्रकार के भोजन से शरीर यथेष्ट बलवान् न हो, तो उससे अधिक क़ीमती भोजन करना बुरा नहीं। हाँ जितनी क़ीमत अधिक लगे उतना लाभ भी अधिक होना चाहिए। सुनते हैं शाही ज़माने में नवाब लोग मोती का चूना पान में खाते थे। अब यह देखना चाहिए कि जो काम साधारण चूने से होता है वही मोती के चूने से भी। फिर उसके खाने में क्यों व्यर्थ सम्पत्ति नाश की जाय? यदि ऐसे चूने से कुछ लाभ भी हो, तो भी वह उतना नहीं हो सकता जितनी अधिक सम्पत्ति उसकी प्राप्ति में ख़र्च होती है। इसी तरह जब रोटी, दाल, भात, तरकारी और दूध, घी से शरीर यथेष्ट बलवान् हो सकता है तब पुलाव और शराब–कबाब आदि में व्यर्थ सम्पत्ति फूँकना मुनासिब नहीं। साधारण भोजन करने वाले असाधारण क़ीमती भोजन करने वालों से कम बलवान् नहीं होते। जो भोजन अच्छी तरह हज़म हो जाता है वही अधिक बलकारी होता है। कौन नहीं जानता कि सादा भोजन करने वाले परिश्रमशील देहाती, अच्छा भोजन करने वाले अमीर आदमियों से अधिक मज़बूत होते हैं? जब सादे भोजन से शरीर यथेष्ट पुष्ट हो सकता है तब सेरों बालाई चाटना सम्पत्ति का दुरुपयोग करना है।

कपड़ों में भी भारतवासियों का बहुत सा धन नाश होता है। अँगरेज़ों के सम्पर्क से हम लोगों में विलासिता घुस चली है। हम अपनी आमदनी बढ़ाने की फ़िक्र तो करते नहीं, पर अँगरेज़ों की नक़ल करके ख़र्च अधिक करते हैं। स्टेशन के जिस तार बाबू या कचहरी के जिस अहलमद की तनख़्वाह सिर्फ़ पन्द्रह रुपये है उसे आप चार रुपये का जूता और आठ दस रुपये की अचकन, या अँगरेज़ी काट का कोट, पहने देखिएगा। दूसरों की नक़ल करके वेश-भूषा में इतना ख़र्च करना इन लोगों की हैसियत के बाहर है।

पर आदत कुछ ऐसी पड़ गई है कि चाहे जितनी तकलीफ़ें उठानी पड़ें ठाठ नवाबी ही रहेगा। अँगरेज़ लोग यदि अच्छा खाते और अच्छा पहनते हैं तो पन्द्रह रुपये से सौ पचास गुना अधिक आमदनी भी उनकी है। फिर हम लोग उनकी नक़ल कैसे कर सकते हैं? हमारे पूर्वज सिर्फ़ एक धोती और एक अँगौछे पर सन्तोष करते थे। हम आठ आठ कपड़ों से बदन लपेटते हैं! उधर देश में आबादी तो बढ़ रही है, पर उसके अनुसार व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि नहीं। आमदनी तो कम है, पर ख़र्च अधिक। दरिद्रता बढ़ाने--सम्पत्ति का संहार करने--का इससे बढ़कर उपक्रम और क्या होगा? यह सम्पत्ति का उपभोग नहीं; उसका दुरुपयोग है; उसे व्यर्थ फूँकना है। आदमी को हमेशा अपनी हैसियत और अपनी आमदनी का पूरा पूरा ख़याल रख के सिर्फ़ वही और उतने ही कपड़े-लत्ते आदि रखने चाहिए जिनकी और जितने की ज़रूरत हो।

कुछ लोग शोभा, सुन्दरता और सुकुमारपन पर मोहित होकर सम्पत्ति का बुरा उपयोग करते हैं—उसे वृथा कम करते हैं। जितने समय में कांच के दस ग्लास टूट जायँगे उतने समय में कांस, पीतल या फूल का शायद एक भी न टूटे। और यदि टूट भी जायगा तो आधी तिहाई क़ीमत उसकी ज़रूर वसूल हो जायगी। कांच के ग्लास व्यवहार करने में ख़र्च भी अधिक पड़ेगा और टूट जाने पर टूटे हुए टुकड़े कोई एक कौड़ी को भी न पूछेगा। अतएव दो तरह से हानि उठानी पड़ेगी। इस तरह की जितनी चीज़ें हैं उन्हें लेना सम्पत्ति का सत्यानाश करना है। कांच के सामान, खिलौने, सिगार और बाजे आदि कितनी ही चीज़ें हैं जिनके लेने में भारतवासियों का करोड़ों रुपया नष्ट होता है। यदि धन की वृद्धि होती हो तो उसका थोड़ा बहुत व्यर्थ नष्ट होना भी विशेष हानिकर नहीं होता। पर धन की बढ़ती तो होती नहीं, घटती ज़रूर होती है। इँगलेंड में जितना धन उत्पन्न होता है उससे पांच छः गुना अधिक पहले ही से वहां पूँजी के रूप में जमा रहता है। अर्थात् जितनी सम्पत्ति वहां ख़र्च होती है उससे कई गुना अधिक पैदा होती है—इतनी कि इँगलेंड वाले उसे ख़र्च नहीं कर सकते; वह और और देशों के काम आती है। जहाँ सम्पत्ति की इतनी अधिकता है वहां फ़िज़ूलख़र्ची

भी हो तो विशेष आक्षेप की बात नहीं । पर हिन्दुस्तान ऐसे कङ्गाल देश में फ़िज़ूलख़र्ची करना, घर बैठे दरिद्रता बुलाना और भूखों मरने का सामान करना है ।

जो स्वदेशी चीज़ें सस्ती, पर थोड़े ही दिन तक ठहरने वाली हैं उनकी अपेक्षा महँगी, पर मज़बूत विदेशी चीज़ें लेना बुरा नहीं । कल्पना कीजिए कि आपने २ रुपये में एक स्वदेशी ट्रंक लिया । वह तीन वर्ष बाद टूट गया । अब यदि आपको ५ रुपये में एक विदेशी ट्रंक मिले, जो पन्द्रह वर्ष चले, तो आपको विदेशी ही लेना चाहिए । सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार यही उचित है । सम्पत्ति की यथाशक्ति रक्षा करना—उसे कम होने से बचाना—बहुत ज़रूरी है । पर एक बात है । यदि स्वदेशी ट्रंक लेने, या उसकी क़ीमत कुछ अधिक देने, से पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में अधिक मज़बूत ट्रंक बनने की आशा हो तो वैसा करने में हानि नहीं । क्योंकि इससे स्वदेशी व्यापारियों और कारीगरों को उत्तेजना मिलेगी और ट्रंकों का व्यापार-व्यवसाय चमकने से सारे देश को लाभ पहुँचेगा । यही नहीं, किन्तु कुछ दिनों में स्वदेशी ट्रंक विदेशी ट्रंकों की तरह अच्छे और मज़बूत बनने लगेंगे । स्वदेशी वाणिज्य—व्यवसाय की उन्नति के लिए यदि कुछ अधिक देना पड़े तो अनुचित नहीं । चुक़न्दर की शक्कर पर जर्मनी की गवर्नमेंट जो "बौंटी" (Bounty) अर्थात् पुरस्कार देती है वह इसी लिए कि जर्मनी की शक्कर और और देशों में जाने लगे और उसका व्यापार चमक उठे । गवर्नमेंट जो यह "बौंटी" नामक सहायता देती है वह ठीक उसी तरह ी सहायता है जिस तरह की कि ट्रंकों के व्यापारियों और कारीगरों को, नके व्यापार—व्यवसाय को उन्नत करने के लिए, अधिक क़ीमत के रूप में दी जा सकती है ।

खाने पीने की जो चीज़ें आदमी के रोज़ काम आती हैं उनके विषय में यह देखना चाहिए कि वे महँगी तो नहीं हैं । जो चीज़ें कभी कभी काम आती हैं वे यदि कुछ महँगी भी हों तो विशेष हानि नहीं, पर जिनका काम रोज़ पड़ता है उनके महँगी होने से बड़ी हानि होती है । उनके लेने में अपेक्षाकृत अधिक सम्पत्ति ख़र्च होती है । क्योंकि यदि एक पैसा भी रोज़

अधिक ख़र्च हुआ तो साल में ६ रुपये व्यर्थ गये समझने चाहिए। इस दशा में खाने पीने की सामग्री यदि अन्यत्र सस्ती हो, तो उसे अपने प्रान्त या अपने देश में पैदा न करके वहीं से मँगाना चाहिए। इँगलेंड को देखिए, वह गेहूँ नहीं पैदा करता और यदि करे भी तो बहुत महँगा बिके और देश भर के लिए काफ़ी न हो। इसी से वह हिन्दुस्तान और अमेरिका आदि से गेहूँ मँगाता है और जो चीज़ें वह किफ़ायत के साथ पैदा कर सकता है उन्हें पैदा करके लाभ उठाता है। ब्रह्मा में चावल ख़ूब होता है और बङ्गाल में जूट। दोनों देशों को परस्पर एक दूसरे की चीज़ों की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यदि बङ्गाले में ब्रह्मा से चावल जाय और ब्रह्मा में बङ्गाल से जूट तो दोनों को बहुत लाभ हो। परन्तु यदि बङ्गाली चावल और ब्रह्मा वाले जूट पैदा करने की कोशिश करेंगे तो दोनों में से किसी को लाभ न होगा, और होगा तो बहुत कम। क्योंकि कोई कोई चीज़ें ऐसी हैं जो देश, काल और अवस्था आदि के अनुसार किसी देश या प्रान्त विशेष ही में अच्छी और किफ़ायत के साथ पैदा की जा सकती हैं, सर्वत्र नहीं। अतएव सम्पत्ति का सदुपयोग तभी होगा जब ऐसी ही चीज़ें पैदा की जायँगी। व्यवहार की जिन चीज़ों के पैदा करने में अधिक ख़र्च पड़ता है, अर्थात् जो महँगी बिकती हैं, उन्हें ख़ुद न पैदा करके, थोड़ी लागत से पैदा करने वाले और देशों या प्रान्तों से लेना चाहिए, जिसमें सस्ती मिलें।

हिन्दुस्तान में जो सम्पत्ति पैदा होती है, उपभोग किये जाने बाद, उसका कुछ भी अंश बाक़ी रह जाता है या नहीं, इसमें सन्देह है। यदि रहता भी होगा तो बहुत कम। क्योंकि यदि अधिक बचत होती तो एक ही साल की अनावृष्टि या अल्पवृष्टि से विकराल दुर्भिक्ष न पड़ता और हज़ारों आदमी भूखों न मर जाते। अतएव हम लोगों को अपनी सम्पत्ति का उपभोग बहुत समझ बूझ कर करना चाहिए। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के संघर्ष से हमारी भोगवासना जो बढ़ रही है उसे कम करना चाहिए। क्योंकि, एक तो देश में सम्पत्ति नहीं, दूसरे पाश्चात्य देशों का ऐसा व्यापार-व्यवसाय नहीं, जिससे उसके बढ़ने की उम्मेद हो। तीसरे सब चीज़ें महँगी होती जाती हैं। इस दशा में यदि भोग-लालसा बढ़ती जायगी तो परिणाम बहुत ही

भयङ्कर होगा। इँगलेंड में एक आदमी की सालाना आमदनी का औसत ६०० रुपये है। पर हिन्दुस्तान में क्या है, आप जानते हैं? सिर्फ़ ३० रुपया साल! फिर आप ही बतलाइए, यदि हम लोग अपनी भोग-लिप्सा बढ़ावें तो किस बिरते पर? हमें चाहिए कि मोटा खायँ, मोटा पहनें और मोटा काम करके सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि करें। जो धनवान् हैं उन्हें यह न समझना चाहिए कि यदि उन्होंने अपनी सम्पत्ति का अकारण उपभोग किया तो उससे औरों की हानि नहीं। हानि ज़रूर है। यदि सम्पत्ति का व्यर्थ उपभोग न करके उसे वे किसी काम-काज में, किसी उद्यम-धन्धे में, लगावेंगे तो उससे कितने ही आदमियों को लाभ पहुँचेगा—कितने ही आदमियों का पेट पलेगा—और उनकी सम्पत्ति यदि बढ़ेगी नहीं तो नष्ट होने से तो बचेगी। ऐसा करने से ख़ुद उनको भी लाभ ही होगा।

सम्पत्ति को फिजूल फूँक तापने या उसे गाड़ रखने से तो कम्पनी का कागज़, अर्थात् सरकारी प्रामिसरी नोट, ही ख़रीद लेना अच्छा है। इससे ख़रीद करनेवाले की सम्पत्ति भी बढ़ती है और देश को भी लाभ पहुँचता है। क्योंकि उस रुपये से गवर्नमेंट रेल, नहर, सड़क आदि बनाती है। इससे इञ्जिनियर, ठेकेदार, बाबूलोग, ख़लासी और कुली आदि को नौकरी मिलती है और एक जगह का माल दूसरी जगह आसानी से भेजा जाकर अधिक मूल्यवान् हो जाता है। अच्छे अच्छे बैंकों में रुपया लगाने से भी लाभ हो सकता है। इससे रुपया जमा करने वाले को सूद मिलता है और बैंकवाले महाजनी करके रुपया कमाते हैं। व्यवसायी आदमी बैंकों से रुपया उधार लेकर बड़े बड़े रोज़गार करते हैं और देश की सम्पत्ति बढ़ाते हैं। अकारण सम्पत्ति ख़र्च करने, या उसे गाड़ रखने, की अपेक्षा बैंक में जमा कर देना, या उससे सरकारी प्रामिसरी नोट ख़रीदना, कहीं अच्छा है। कुछ भी हो, मनुष्य को अपनी सम्पत्ति का यथाशक्ति सदुपयोग करना चाहिए। उसे भोग-विलास में न बरबाद करना चाहिए।

ज़रूरत का ख़याल न करके सिर्फ़ भोगवासना तृप्त करने के लिए ही सम्पत्ति उड़ाना सम्पत्तिशास्त्र के नियमों के ख़िलाफ़ है। यहाँ पर इस बात के विचार की ज़रूरत है कि भोग-विलास में गिनती किन चीज़ों की है।

इसका उत्तर यह है कि जो चीज़ जिस समाज में सर्वसाधारण समझी जाय, अर्थात् जिसके उपभोग का रवाज सा पड़ गया हो, वह भोग-विलास की चीज़ों में नहीं। उदाहरण के लिए पान-तम्बाकू का रवाज इस देश में सर्व-साधारण है। जिसे चार पैसे की आमदनी है वह यदि पान-तम्बाकू खाय तो उसकी गिनती भोग-विलास में नहीं। पर यदि कोई चाय या काफ़ी रोज़ पीने लगे तो उसकी गिनती भोग-विलास में ज़रूर है। क्योंकि उसका रवाज नहीं है। अब चीन के रवाज को देखिए। वहाँ दिन में कई दफ़े चाय पी जाती है। कोई किसी के घर मिलने जाय तो चाय पानी से ही उसका आदर किया जाता है। इस लिए वहाँ चाय पीना भोग-विलास में दाखिल नहीं। इँगलेंड शीतप्रधान देश है। वहाँ बनियाइन, कमीज़, वास्कट, कोट, ओवर-कोट आदि से बदन ढकना और दो दो तीन तीन पायजामे पहनने की ज़रूरत है। इस लिए इन चीज़ों में रुपया खर्च करना भोग-विलास नहीं। पर हिन्दुस्तान उष्ण देश है। यहाँ अँगरेज़ो की देखादेखी उन्हीं की तरह तीन तीन चार चार गरम कपड़े, गरमियों मे भी, पहनना भोग-विलास है। इसे तो मूर्खता भी कह सकते हैं। क्योंकि इस तरह अधिक कपड़े पहनने से पहले कुछ दिन उलटो तकलीफ़ होती है। अपने देश की सामाजिक शिष्टता की रक्षा के लिए जो चीज़ें दरकार होती हैं उनके व्यवहार का नाम विलासिता नहीं। तदतिरिक्त चीज़ों का व्यवहार विलासिता ज़रूर है; क्योंकि बिना उनके व्यवहार के भी कोई सामाजिक, शारीरिक या मानसिक हानि मनुष्य को नहीं उठानी पड़ती। मतलब यह कि देश, काल और अवस्था-भेद के अनुसार पदार्थों की गिनती विलास-द्रव्यों में होती है। जो लोग देश, काल और अवस्था का ख़याल न करके अनपेक्षित और अनावश्यक चीज़ों में रुपया खर्च करते हैं वे अपनी सम्पत्ति का सम्पत्ति-शास्त्र-सम्मत उपभोग नहीं करते।

जिनकी आमदनी कम है उनको तो बहुत ही समझ बूझ कर सम्पत्ति का उपभोग करना चाहिए। जिनकी रोज़ाना आमदनी आठ दस आने या एक रुपया है उनके सिर पर फ़ेल्ट कैप, पैर में वारनिश किया हुआ बूट, और मुँह में ट्रिचनापली के सिगार यदि देख पड़ें तो समझ लेना कि

लक्ष्मी जी इनसे रूठी हैं। इन्हीं से क्यों देश से रूठी कहना चाहिए। ये विलास-द्रव्य भद्रता—भलमनसी—की सरटीफ़िकेट नहीं। जो अपना घर फूँक तमाशा देखता है, और साथ ही देश में भी विपत्ति की वृद्धि करता है, वह भला आदमी नहीं। इन चीज़ों में जो रुपया ख़र्च होता है, उचित रीति से उसका आधा ही ख़र्च करने से भद्रता की बहुत अच्छी तरह रक्षा हो सकती है।

इँगलेंड में जितना धनोत्पादन होता है उसका यदि आधा भी इस देश में होने लगे, और हमारे पूर्वज जिस सादगी से रहते थे उसकी आधी भी सादगी स्वीकार करके यदि हम उसके आगे न बढ़ें, तो हमारे दारुण जीवन-संग्राम की ज्वाला बहुत कुछ शान्त हो जाय, और बुभुक्षितों का लोमहर्षण आर्त्तनाद भी कम सुनाई पड़ने लगे। परमेश्वर करे ऐसा ही हो!

सातवाँ भाग।

देशों की आर्थिक अवस्था की तुलना।

पहला परिच्छेद।

सर्व-साधारण बातें।

से सब आदमी एक से नहीं होते, वैसे ही सब देश भी एक से नहीं होते। किसी की आर्थिक अवस्था अच्छी होती है, किसी की बुरी। किसी में किसी चीज़ की अधिकता होती है, किसी में किसी चीज़ की कमी। सम्पत्ति की उत्पत्ति के जो तीन साधन हैं वे सब कहीं एक से नहीं पाये जाते। इँगलेंड में पूँजी ख़ूब है, मज़दूरों की भी कमी नहीं है, पर ज़मीन बहुत कम है। अमेरिका में पूँजी भी है, ज़मीन भी है, पर मज़दूरी बड़ी महँगी है। हिन्दुस्तान को देखिए। यहाँ ज़मीन और मज़दूरी दोनों की कमी नहीं, कमी है पूँजी की। इसी तरह हर एक देश की स्थिति जुदा जुदा होती है। इँगलेंड के पास भूमि कम है। पर पूँजी बहुत है और उद्योग-धन्धे से लोगों को बहुत प्रेम है। इससे भूमि की कमी उसे बहुत कम हानि पहुँचाती है। उसके कम होने पर भी इँगलेंड में अनन्त सम्पत्ति भरी हुई है। अमेरिका का भी यही हाल है। उद्योग-प्रियता और पूँजी के बल से, मज़दूरी मँहगी होने पर भी, वहाँ लक्ष्मी का अखण्ड वास है। इससे साबित है कि सम्पत्ति की अधिक उत्पत्ति के लिए पूँजी और उद्योग, ये दो बातें ही प्रधान हैं। जिस देश में पूँजी है और उसे लगाकर लोग उद्योग-धन्धा करना जानते हैं वहाँ और साधनों की कमी होने पर भी सम्पत्ति का ह्रास नहीं होता। वह बराबर बढ़ती ही जाती है।

किसी देश में कम, किसी में अधिक, सम्पत्ति होने के और भी कितने ही कारण हो सकते हैं । कभी कभी ऐसा होता है कि उत्पन्न की गई सम्पत्ति को लोग बहुत ही बुरी तरह से खर्च करते हैं । वे उसका अनुत्पादक उपयोग करते हैं । इससे पूँजी कम हो जाती है और मज़दूरों को काफ़ी मज़दूरी नहीं मिलती । कभी कभी सम्पत्ति का वितरण ऐसे बुरे नियमों के अनुसार होता है कि उसके पैदा करने वालों में से किसी किसी को बहुत नुक़सान उठाना पड़ता है । इसी तरह कभी कभी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि सम्पत्ति की उत्पत्ति रुक जाती है, या बहुत कम हो जाती है । उदाहरण के लिए, कड़ा महसूल लग जाने से माल की रफ़्तनी बन्द हो जाती है । इससे बड़े बड़े कारख़ाने धूल में मिल जाते हैं । देश का व्यापार मारा जाता है । कारीगर और श्रमजीवी भूखों मरने लगते हैं । ऐसे ही ऐसे अनेक कारणों से सम्पत्ति घटा बढ़ा करती है । कोई देश सम्पत्तिमान् होता चला जाता है, कोई कगाल ।

कभी कभी प्राकृतिक कारणों से भी देशों की सम्पत्ति घट बढ़ जाती है । यदि किसी ज्वालामुखी के स्फोट से कोई देश या देशांश बरबाद हो जाय; या तूफ़ान से उसके जहाज़ डूब जायँ; फ़सलें नष्ट हो जायँ; या अकस्मात् आग लगने से बड़े बड़े शहर जल जायँ, तो इन आपदाओं से जो सम्पत्तिनाश होगा उसका कारण प्राकृतिक माना जायगा । इसी तरह यदि अचानक सोने, चाँदी, लोहे, कोयले आदि की खानों का पता किसी देश में लग जाय और उनसे ये चीज़ें ख़ूब निकलने लगें तो देश की सम्पत्ति ज़रूर बढ़ जायगी । इस सम्पत्ति-वृद्धि के कारण को भी प्राकृतिक ही कहेंगे ।

जितने देश हैं सम्पत्ति पैदा करने की शक्ति सब की जुदा जुदा है । यही नहीं, किन्तु प्रत्येक देश की शक्ति समय समय पर बदला करती है । इतिहास में इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि एकही देश की सम्पत्ति का परिमाण भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न रहा है । जिस समय जिस देश की जैसी अवस्था होती है उस समय उतनी ही सम्पत्ति वहाँ पैदा होती है । अपने ही देश को देखिए । सौ वर्ष पहले इसमें जितनी सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति थी, इस समय उतनी नहीं रह गई ।

शिक्षा से भी सम्पत्ति की उत्पत्ति बढ़ जाती है। जिस देश के लोग शिक्षित हैं, उद्योग-धन्धा करना जानते हैं, दस्तकारी के कामों में निपुण हैं वहाँ अधिक सम्पत्ति उत्पन्न होती है। यदि दो देश एक ही राजा के अधीन हों, और प्राकृतिक अवस्था भी दोनों की एक ही सी हो, तो भी सम्पत्ति के उत्पादन में अशिक्षित देश कभी शिक्षित की बराबरी न कर सकेगा। प्राकृतिक पदार्थों का जितना अच्छा उपयोग शिक्षित आदमी कर सकेंगे, अशिक्षित कभी न कर सकेंगे। जो चीज़ें ज़मीन के पेट में भरी पड़ी हैं उनका ज्ञान, अशिक्षितों को नहीं हो सकता। और यदि हो भी तो वे उनसे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। शिक्षा, विद्या और विज्ञान के बल से एक बीघे ज़मीन में जितनी पैदावार हो सकती है उतनी अशिक्षित आदमियों के किये कभी नहीं हो सकती। जिस देश में खनिज, रसायन, कृषि, भूगर्भ आदि विद्याओं के जानने वाले हैं वह देश उन देशों से ज़रूर ही अधिक सम्पत्ति उत्पन्न कर सकेगा जो इन विद्याओं को नहीं जानते। कला-कौशल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

किसी किसी देश के रहनेवाले सम्पत्ति की कम परवा करते हैं। यह बात पूर्वी देशों में अधिकतर पाई जाती है। हिन्दुस्तान ही को लीजिए; यहाँ हम लोग सन्तोष को एक बहुतही श्रेष्ठ गुण समझते हैं, और, भाग्य के भरोसे रहकर जो कुछ सुबह से शाम तक मिल जाता है, उसी पर ख़ुशी से गुज़ारा करते हैं। यहाँ की धार्म्मिक शिक्षाही कुछ इस तरह की है। इसीसे तो यह कहावत अकसर लोगों के मुँह से सुनने में आती है:—

आज खाय और कल को झक्खै—उसका गोरख संग न रक्खै।

पश्चिमी देशों का हाल इसका उलटा है। वे तक़दीर से तदबीर को श्रेष्ठ समझते हैं और हमेशा सम्पत्ति के बढ़ाने की फ़िक्र में रहते हैं। सन्तोष को वे बुरी दृष्टि से देखते हैं। छोटे से लेकर बड़े तक सब को किसी न किसी तरह का हौसिला रहता ही है। सन्तोष किसी को किसी बात से नहीं। पूर्वी और पश्चिमी देशों में सम्पत्ति-विषयक यह बात ध्यान में रखने लायक़ है।

मज़दूरों और हर पेशे के कारीगरों के चुस्त, चालाक और शिक्षित होने से भी देश की सम्पत्ति बढ़ती है। जहाँ के कारीगर अच्छा काम कर सकते

हैं और पढ़े लिखे होते हैं, जहाँ के मज़दूर ख़ूब मज़बूत होते हैं और शराबी कबाबी नहीं होते, वह देश औरों की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिमान् होता है। जिस देश के श्रमजीवी सुस्त, अपढ़, कमज़ोर और कम समझ होते हैं वह देश बहुत कम सम्पत्ति पैदा कर सकता है। दूरन्देश और ईमानदार कारीगरों से देश को जितना लाभ पहुँचता है कम समझ, काहिल और कामचोर कारीगरों से उतनीही हानि पहुँचती है। श्रमजीवी आदमियों को यह शिक्षा देना कि विश्वासपात्र, चालाक और दूरन्देश बनने से उन्हीं को नहीं, किन्तु सारे देश को लाभ पहुँच सकता है, देश के सभी शुभ-चिन्तकों का कर्तव्य है। यदि यह शिक्षा इन लोगों के दिलों पर असर कर जाय और ये काहिली आदि दोष छोड़ दें तो बहुत जल्द देश में सम्पत्ति की वृद्धि होने लगे। जो कारीगर, जो दस्तकार, जो मज़दूर सम्पत्ति के अवरोधक दोषों को नहीं छोड़ते वे अपने ही नहीं, अपनी जाति और अपने देश के भी दुश्मन हैं। और, जो लोग उनको बुरी आदतें छोड़ने की शिक्षा देने के योग्य हो कर भी नहीं देते, वे भी मानों अपनी, अपनी जाति की और अपने देश की भलाई की जड़ काटते हैं।

जिस देश में वाणिज्य-व्यवसाय अधिक होता है और थोड़ी थोड़ी पूँजी इकट्ठी करके बड़े बड़े कारोबार किये जाते हैं वह देश औरों की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली हो जाता है। जिस देश में पूँजी की कमी है उसके लिए तो कम्पनियाँ खड़ी कर के व्यवसाय करने की बड़ी ही ज़रूरत है।

आबादी बढ़ने से भी देश की सम्पत्ति कम हो जाती है। यदि लड़ाइयों और हैज़ा, प्लेग आदि रोगों से आबादी कम न होती जाय तो तीस ही वर्ष में वह दूनी हो जाय। इस दशा में जीवन-जंजाल का झगड़ा दूना बढ़ जायगा और एक की जगह दो खाने वाले हो जायँगे। आबादी बढ़ने से ज़मीन अपनी उत्पादक शक्ति की अन्तिम सीमा तक जल्द पहुँच जाती है। क्योंकि खाने को दूना चाहिए। इस लिए लोग जी जान से मेहनत कर के उसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। पर बढ़ती है वह अपनी हद ही तक। इधर आबादी की हद नहीं। वह बढ़ती ही रहती है। इससे देश की सम्पत्ति

क्षीण होने लगती है । यदि ऐसी अवस्था में कुछ लोग देशान्तर न कर जायँ, या प्राकृतिक कारणों से आबादी कम न हो जाय, तो देश की आर्थिक दशा बहुत नाज़ुक होने से नहीं बच सकती ।

सम्पत्ति के घटने बढ़ने के जो कारण हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं जो शास्त्रीय-सिद्धान्तों के अधीन हैं । अर्थात् उन कारणों से हुई सम्पत्ति की न्यूनाधिकता शास्त्रीय नियमों का अनुसरण करती है । पर कुछ कारण ऐसे हैं जिनके नियम ढूँढ़ निकालना बहुत मुश्किल है । सम्पत्ति-शास्त्र विषयक अँगरेज़ी की बड़ी बड़ी किताबों में इन बातों का सविस्तर विचार किया गया है । उसके लिए इस छोटी सी पुस्तक में जगह नहीं ।

दूसरा परिच्छेद ।

हिन्दुस्तान की आर्थिक अवस्था का दिग्दर्शन ।

सम्पत्ति-शास्त्र में बहुधा व्यापक सिद्धान्तों ही का विवेचन किया जाता है । किसी देश-विशेष से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों का विचार प्रायः कम किया जाता है । पर हमारी समझ में ऐसा ज़रूर होना चाहिए । सम्पत्ति-शास्त्र का सम्बन्ध व्यवहार की बातों से है । अतएव व्यवहार की बातों में अन्तर होने से शास्त्रीय सिद्धान्तों में ज़रूर ही अन्तर पड़ जाता है । फिर क्यों न प्रत्येक देश की व्यवस्था का अलग अलग विचार हो ? इस तरह के विचार से जो देश सम्पत्ति में हीन है उसकी हीनता के कारण मालूम हो जाते हैं और उन्हें दूर करने में सुभीता होता है ।

इस देश की आर्थिक अवस्था हीन है । इसमें कोई सन्देह नहीं । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जिन बातों से देश की आर्थिक दशा सुधरती है उन सबका करना इस देशवालों के हाथ में नहीं । उनमें से बहुतेरी बातों को राजा ने अपने हाथ में ले रक्खा है । जिसमें वह अपनी, अपने देश की, अपने देशवासियों की हानि समझता है उसे नहीं करता । फिर उससे चाहे हिन्दुस्तान को कितना ही लाभ क्यों न होता हो ।

इँगलिस्तान में ज़मींदारों को ज़मीन का लगान नहीं देना पड़ता । हिन्दुस्तान में देना पड़ता है; और थोड़ा नहीं बहुत देना पड़ता है । फिर वह बीस बीस तीस तीस वर्ष बाद बढ़ भी जाता है । यही नहीं, किसान और ज़मींदार दोनों बेदख़ल भी कर दिये जा सकते हैं । हाँ बङ्गाल में इस्तिमरारी बन्दोबस्त है । वहां न बेदख़ली का डर है और न लगान में इज़ाफ़े का ।

सरकार ज़मीन की जो मालगुज़ारी लेती है वह मज़दूरी आदि बाद देकर बची हुई पैदावार का आधा है । अर्थात् ५० फ़ी सदी मालगुज़ारी सरकार को देनी पड़ती है । यह शरह मामूली फ़सल के हिसाब से बाँधी गई है । पर यदि फ़सल ख़राब जाती है तो भी प्रजा को अकसर उतनी ही मालगुज़ारी देनी पड़ती है जितनी कि अच्छी फ़सल होने पर देनी पड़ती । फिर यह ५० फ़ी सदी की शरह सब कहीं प्रचलित नहीं । कहीं कहीं ६० फ़ी सदी तक लगान देना पड़ता है । और पटवारी, चौकीदारी, स्कूल, शफ़ाख़ाने आदि का कर लगाकर वह कहीं कहीं ६५ फ़ी सदी से भी अधिक हो जाती है । इसका फल यह होता है कि काश्तकारों को बहुत ही कम क्या, किसी किसी को प्राय: कुछ भी नहीं बचता और उनकी ज़मीन नीलाम हो जाती है । यहाँ के वाणिज्य-व्यवसाय की भी बुरी दशा और कृषी की भी । यही दो मदें देश की सम्पत्ति बढ़ानेवाली हैं । सो दोनों की दुर्दशा है । इस भूमण्डल का कोई देश, फिर चाहे वह कैसा ही सम्पत्तिमान् क्यों न हो, इस दशा में कभी उन्नत नहीं हो सकता । साठ साठ फ़ी सदी के हिसाब से कृषी की पैदावार को काश्तकारों से लेने पर कोई देश बरबाद होने से नहीं बच सकता ।

इस देश की आर्थिक अवनति का एक कारण यह भी है कि विदेशी राज्य होने के कारण विदेशी अधिकारी और विदेशी फ़ौज रखने तथा विदेशी सामान ख़रीदने में बेअन्दाज़ सम्पत्ति ख़र्च होती है । फिर यह ख़र्च हुई सम्पत्ति यहीं नहीं रहती । इँग्लेंड चली जाती है । और भारत उससे हमेशा के लिए हाथ धो बैठता है । हिन्दुस्तान के ख़र्च खाते इँगलेंड में हर साल कोई २० करोड़ रुपया लिखा जाता है । यह सब हिन्दुस्तान को देना पड़ता है ।

प्रजा से गवर्नमेंट जो मालगुज़ारी वसूल करती है उसका एक चतुर्थांश विलायत जाता है। जो अँगरेज़ इस देश में सरकारी नौकरी करते हैं वे जो द्रव्य अपने देश को, अपनी तनख़्वाह से बचा कर, भेजते हैं वह यदि इस हिसाब में जोड़ लिया जाय तो इस देश से विलायत जानेवाली सम्पत्ति का परिमाण और भी अधिक हो जाय। हर साल इसी तरह इस देश की सम्पत्ति की धारा विलायत को बहती है और इस देश की दरिद्रता बढ़ाने का कारण होती है। इस सम्पत्ति का कोई बदला हिन्दुस्तान को नहीं मिलता। इस दशा में यदि भारत की भूमि सुवर्णमय हो जाय तो भी किसी दिन यह देश कंगाल हुए बिना न रहे। विलायत में हर आदमी की सालाना आमदनी का औसत कोई ६०० रुपया है और हिन्दुस्तान में हर आदमी का सिर्फ़ ३० रुपया! इस पर भी विलायत वाले "होम चार्जेज़" के नाम से यहाँ के फ़ी आदमी से औसतन् ७½ रुपया वसूल करके अपने देश को ले जाते हैं। फिर भला क्यों न यह देश दिनों दिन दरिद्रता की फाँस में फँसता जाय?

यहाँ की साम्पत्तिक अवस्था अच्छी न होने का सबसे बड़ा सबूत यह है कि गवर्नमेंट को अकसर करोड़ों रुपया क़र्ज़ लेना पड़ता है। इस समय कई अरब रुपये क़र्ज़ हिन्दुस्तान के सिर पर है। उस पर जो सूद सरकार को देना पड़ता है उससे यहाँ का पहले ही से बढ़ा हुआ ख़र्च और भी बढ़ जाता है।

हम लोगों की रग रग में पुरानापन घुसा हुआ है। पुरानी आदतें हमारी छूटती ही नहीं। वही पुराना चर्ख़ा और वही पुराना हल अब तक चल रहा है। यहाँ की ज़मीन और आबोहवा ऐसी है कि कच्चा बाना यहाँ बहुत पैदा होता है। मज़दूर जितने चाहो मिल सकते हैं; और मज़दूरी भी सस्ती है। पर मज़दूर न तो चुस्त और चालाक ही हैं और न काम ही अच्छा करना जानते हैं। मज़दूरों से मतलब क़ुलियों से नहीं, किन्तु हाथ से काम करनेवाले जितने श्रमजीवी हैं सबसे है। पूँजी बहुत कम है। जितनी है भी उसका अधिकांश ज़ेवर या प्रामिसरी नोट आदि के रूप में पडा हुआ है। उससे कोई उद्योग-धन्धा किया ही नहीं जाता। फिर पूँजीवाले ऐसे तङ्गदिल आदमी हैं कि व्यापार-व्यवसाय में रुपया लगाने का उन्हें साहस

ही नहीं होता। वे डरते हैं कि कहीं हमारा रुपया डूब न जाय। सम्भूय-समुत्थान का तो नाम ही न लीजिए। कम्पनियाँ खड़ी करके बड़े बड़े व्यवसाय करना यहाँ वालों को मालूम ही नहीं। सब लोगों की जीविका प्रायः खेती से चलती है। सो खेती की यह दशा है कि ज़मीन को उर्वरा बनाने—उसकी उत्पादकशक्ति बढ़ाने—की उत्तम तरकीबें लोगों को न मालूम होने से उसकी पैदावार कम होती जाती है। फिर किसी साल पानी बरसता है, किसी साल नहीं बरसता। जिस साल जहाँ नहीं बरसता वहाँ कुछ नहीं पैदा होता। कलकत्ते, बम्बई और कानपुर आदि में जो बड़े बड़े कारखाने हैं वे अभी कल के हैं। बड़े बड़े व्यापारी भी बहुत कम हैं। ऐसे कुछ ही व्यापारी होंगे जिनके जहाज़ चलते हैं। जितने व्यापार और उद्यम-धन्धे हैं सब थोड़ी पूँजी से चलते हैं। ज़मीन पर प्रजा का कोई हक़ नहीं; गवर्नमेंट कहती है वह हमारी है। सञ्चय करना लोग जानते नहीं। अभी सौ सवा सौ वर्ष पहले तक तो किसी के जान-माल तक का ठिकाना न था। सञ्चय लोग लुटेरों के लिए थोड़े ही करते! हाँ अब अँगरेज़ी राज्य की बदौलत अमन चैन है। इससे कुछ सञ्चय होने लगा है। धार्म्मिक ख़याल लोगों के कुछ ऐसे हो रहे हैं कि सम्पत्ति बुरी चीज़ समझी जाती है। वह न हो सोई बेहतर। ऐसी ऐसी सैकड़ों बातें हैं जो देश की सम्पत्ति बढ़ाने की बाधक हैं। अतएव यदि हिन्दुस्तान की आर्थिक अवस्था हीन हो; यदि उसके अधिकांश निवासियों को दोनों वक्त पेट भर खाने को न मिले; एक साल पानी न बरसने पर, दरिद्रता के कारण, यदि हज़ारों आदमी भूखों मर जायँ तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं।

यहाँ के व्यापार को देखिए। विलायत की चीज़ों से यहाँ की बाज़ारें भरी हुई हैं। शुरू शुरू में इँगलिस्तान की गवर्नमेंट ने यहाँ के कपड़े की रफ़्नी को, विलायत में उस पर कड़ा महसूल लगा कर, बिलकुल ही रोक दिया। यहाँ का व्यापार—यहाँ का कलाकौशल—मारा गया। अब जब उसके पुनरुज्जीवन की ओर लोगों का ध्यान गया है तब यथेष्ट कर लगा कर विलायती वस्तुओं की आमदनी रोकी नहीं जाती। अगर किसी विलायती चीज़ पर कुछ महसूल है भी तो इतना कम है कि न होने के बराबर है।

एक समय था कि डच, अरब और अँगरेज़ सौदागर इस देश की बनी हुई चीज़ों से सारे योरप के बाज़ार पाट देते थे। पर अब वह सब स्वप्न हो गया है। अब तो सिर्फ़ कच्चा माल, विशेष करके प्रजा के पेट पालने का अनाज, देशान्तर को जाता है और अकाल पड़ने पर यहाँ वालों को दाने दाने के लिए मुहताज होना पड़ता है। प्रजा-वत्सल राजा को चाहिए कि इस अन्धेर को रोके।

प्रतिबन्ध-हीन व्यापार से इस देश को बड़ी हानि पहुँच रही है—इसकी आर्थिक दशा दिनों दिन ख़राब हो रही है। इँगलेंड एक छोटा सा टापू है। उसे खाने पीने तक की चीज़ों के लिए भी और देशों का मुँह ताकना पड़ता है। अतएव वह यदि इस तरह के व्यापार का पक्षपाती हो तो हो सकता है। हिन्दुस्तान क्यों हो? वह तो अपने व्यवहार की प्रायः सारी चीज़ें आपही पैदा कर सकता है। यदि इस देश में बाहर से आने वाला माल कर लगा कर रोका जाय, या उसकी आमदनी कम की जाय, तो यहाँ की आर्थिक अवस्था की बहुत जल्द उन्नति हो जाय। इँगलेंड ने ख़ुद ही शुरू शुरू में यह बात की थी। हिन्दुस्तानी माल पर उसने कड़े से कड़ा कर लगा कर विलायत में उसकी आमदनी रोक दी और विलायती माल बिना कर, या बहुत थोड़ा कर लगा कर, हिन्दुस्तान में भर दिया। फल यह हुआ कि यहाँ का प्रायः सारा व्यापार और प्रायः सारे उद्योग-धन्धे मारे गये। वही इँगलेंड अब हमारे लिए अबाध वाणिज्य की ज़रूरत समझता है। क्या अमेरिका, जर्मनी, फ़्रांस और ख़ुद अँगरेज़ों ही का उपनिवेश आस्ट्रेलिया आदि देश मूर्ख हैं जो अबाध वाणिज्य के ख़िलाफ़ हैं? नहीं, वे बड़े दूरन्देश और बड़े स्वदेशहित-चिन्तक हैं। इसी से वे व्यापार-विषयक "संरक्षण" के पक्षपाती हैं। अँगरेज़-अधिकारी भी इस बात को समझते हैं। पर वे करें क्या? उन्हें ख़ुद अपने देश के, अपने घर के, अपनी जाति के व्यवसायियों और व्यापारियों का भी तो ख़याल है। यदि उनके तैयार किये हुए माल पर कर लगा दिया जायगा तो उनके मुँह की रोटी छिन जायगी। उनके कारख़ाने बन्द पड़ जायँगे। इँगलेंड में हाहाकार मच जायगा। अतएव अँगरेज़-व्यापारियों को हानि पहुँचा कर हिन्दुस्तान का भला गवर्नमेंट कैसे कर सकती है? इसके

लिए गवर्नमेंट विशेष दोषी भी नहीं; क्योंकि—"अव्वल ख़ेश, बादहू दरवेश"।

हिन्दुस्तान के कुछ प्रान्त ऐसे हैं जो बेतरह घने बसे हुए हैं। वहाँ बीघे भर भी परती ज़मीन न मिलेगी। पर मध्य भारत में कई रियासतें ऐसी हैं जहाँ लाखों बीघे अच्छी ज़मीन यों ही पड़ी हुई है। कोई जोतने बोने वाला ही नहीं। ऐसे और भी कई प्रान्त हैं जहाँ ज़मीन बहुत है, पर उसे जोतने वाले कम। यदि लोग ऐसी ऐसी जगहों में जाकर आबाद हों तो सम्पत्ति की वृद्धि हुए बिना न रहे। नौ-आबाद आदमियों की आर्थिक अवस्था बहुत कुछ सुधर जाय। पञ्जाब के कुछ ज़िलों में गवर्नमेंट ने जो उपनिवेश-स्थापना शुरू कर दी है उसके कारण हज़ारों बीघे परती ज़मीन उपयोग में आ गई है और कितने ही नये नये गाँव आबाद हो गये हैं। यदि गवर्नमेंट अन्यत्र भी ऐसा ही करे, और यहाँ की देशी रियासतें भी गवर्नमेंट का अनुकरण करें, तो देश का बड़ा उपकार हो।

राजा जो कर प्रजा से लेता है वह प्रजा ही की रक्षा के लिए—प्रजा ही के लाभ के लिए—लेता है। प्रजा को अर्थकरी शिक्षा देना भी राजा ही का काम है। पर औद्योगिक कला-कौशल-सम्बन्धी शिक्षा देने का गवर्नमेंट ने आज तक इस देश में कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया। जो कुछ किया भी है वह न करने के बराबर है। जिस जाति को—जिस देश को—इस सभ्यता और व्यापार-विषयक चढ़ा-ऊपरी के ज़माने में औद्योगिक शिक्षा नहीं मिलती उसकी आर्थिक दशा कभी उन्नत नहीं हो सकती। जिस देश के लोग दास्यवृत्ति करके पेट भर लेना ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश समझते हैं वह देश क्या कभी सम्पत्तिमान् होने की आशा कर सकता है? अँगरेज़ों की जाति व्यापार ही से बढ़ी है। उद्योग और कला-कौशल ही की बदौलत वह इस समय संसार में सबसे अधिक सम्पत्तिमान् हो रही है। हिन्दुस्तान का राज्यसूत्र इसी जाति के हाथ में है। अतएव यही जाति यदि हम लोगों को शिल्प, वाणिज्य और कला-कौशल आदि से सम्बन्ध रखने वाली अर्थकरी विद्या न सिखलावे तो बड़े आश्चर्य्य की बात है। ख़ुशी की बात है कुछ दिन से हमारे प्रभु अँगरेज़-अधिकारियों का ध्यान इस तरफ़ गया है।

इससे आशा होती है कि किसी दिन यह अभाव किसी अंश में शायद दूर हो जायगा; क्योंकि हमारी गवर्नमेंट हमारी साम्पत्तिक अवस्था सुधारने में अब अधिक दत्तचित्त है।

जिधर देखते हैं उधर निराशा ही के चिह्न देख पड़ते हैं, आशा के बहुत कम। आशा का चिह्न सिर्फ़ इतना ही है कि हमें एक ऐसी जाति से काम पड़ा है जो व्यापार-व्यवसाय में अपना सानी नहीं रखती; जिसने सारी दुनिया से व्यापार करने का द्वार खोल दिया है; जिसने देश भर में रेलों का जाल बिछा दिया है; जिसकी पूँजी का कहीं अन्त नहीं है; जिसके साहस, व्यापार-चातुर्य्य, अध्यवसाय और उत्साह की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। ऐसी अँगरेज़-जाति के संसर्ग से यदि हम उसके कुछ सद्गुण सीख लें और देश की आर्थिक दशा सुधारने की तरफ़ थोड़ा बहुत ध्यान दें, तो बिगड़ी बात बहुत कुछ बन सकती है।

हिन्दुस्तान की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए जिन बातों की ज़रूरत है उनमें से कुछ का उल्लेख हम नीचे करते हैं:—

(१) नये नये उपायों से ज़मीन की उत्पादक शक्ति को बढ़ाना।

(२) आबादी न होने के कारण अच्छी ज़मीन जो परती पड़ी है उसे आबाद करना।

(३) वैज्ञानिक रीतियों से कला-कौशल और दस्तकारी की उन्नति करना।

(४) कच्चा बाना देशान्तर को न भेज कर यहीं सब तरह का माल तैयार करना।

(५) नई नई कलें जारी करके उपयोगी कारख़ाने खोलना।

(६) पूँजी बढ़ाना, और सम्भूय-समुत्थान के नियमानुसार व्यवसाय करना।

ये सब बातें प्रायः ऐसी हैं जो बिना राजा की मदद के भी हो सकती हैं।

एक बात यह कभी न भूलना चाहिए कि सम्पत्ति ही शक्ति है। जो देश सम्पत्तिमान् नहीं वह और और आपदायें तो सहेगा ही; पर सबसे बड़े दुःख की बात उसके लिए यह होगी कि वह औरों के आक्रमण और पदाघात से कभी अपनी रक्षा न कर सकेगा।
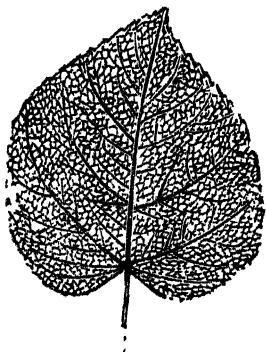
उत्तरार्द्ध ।

पहला भाग ।

व्यावसायिक बातें ।

पहला परिच्छेद ।

व्यवसायी व्यक्ति ।

व्यवसाय शब्द 'वि + अव' उपसर्ग-पूर्वक 'सो' धातु से निकला है। उसके कई अर्थों में से एक अर्थ उद्योग करना भी है। 'व्यापार' शब्द का भी प्रायः यही अर्थ होता है। पर हिन्दी में यह शब्द 'वाणिज्य' अर्थ में ही अधिक प्रयुक्त होता है। व्यापारी आदमी व्यवसायी हो सकता है और व्यवसायी आदमी व्यापारी हो सकता है। परन्तु दोनों बातें एक दूसरी से जुदा हैं। डाक्टरी, यञ्जिनियरी, यडिटरी सभी व्यवसाय हैं; परन्तु व्यापार नहीं। हाँ मूल धात्वर्थ के विचार से व्यापार भी व्यवसाय ही है। डाक्टरी करके यदि कोई दवाइयाँ बनावे, या कहीं से मोल मँगावे और उन्हें बेचे, या और और जगहों को चालान करे, तो वह व्यवसायी होकर व्यापारी भी हो सकता है। इसी तरह यदि कोई कपड़े का व्यापार करके कपड़ा बनाने का एक कारख़ाना खोल दे तो वह व्यापारी होकर व्यवसायी भी हो सकता है। कोई कोई लोग 'व्यवसाय' शब्द का व्यापार के अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। पर व्यवसाय का अर्थ रोज़गार या कारोबार ही होना चाहिए, जिसमें व्यवसाय और व्यापार का भेद सुनने के साथ ही ध्यान में आ जाय।

कभी एक आदमी अकेले ही व्यवसाय करता है; कभी दो चार आदमी मिल कर करते हैं; कभी दस-बीस, सौ-दो सौ, या इससे भी अधिक मिल कर करते हैं।

यदि किसी काम को एक ही आदमी करता है तो उसे एकाकी व्यवसायी कहते हैं। ऐसे काम में अकेले एक ही आदमी की पूँजी लगती है और वही सारे हानि-लाभ का ज़िम्मेदार होता है। हाँ, यदि ज़रूरत हो, तो वह एजंट, मैनेजर, मुनीम, कारिन्दे आदि जितने चाहे रख सकता है। पर उनको अपनी तनख़्वाह से मतलब रहता है, कारोबार के हानि-लाभ से नहीं। अपराध करने पर मालिक उन्हें जुरमाना कर सकता है, उनकी तनख़्वाह घटा सकता है, उन्हें बरख़ास्त तक कर सकता है। इसी तरह उनके काम से प्रसन्न होकर मालिक उन्हें इनाम दे सकता है और उनकी तरक़्क़ी भी कर सकता है। पर ये सब बातें उसकी इच्छा पर अवलम्बित रहती हैं। उसके नौकर यह नहीं दावा कर सकते कि आपको अपने कारोबार में जो इतना मुनाफ़ा हुआ है उसका इतना हिस्सा हमको भी मिलना चाहिए। जो काम उनके सिपुर्द रहता है उसे करते हैं और अपनी तनख़्वाह लेते हैं। हानि-लाभ से उन्हें कुछ सरोकार नहीं रहता।

जो आदमी किसी काम को अकेले नहीं कर सकता वह किसी समय और आदमियों को भी अपने कारोबार मे साझी कर लेता है। अथवा पहले ही से कई आदमी मिल कर काम शुरू करते हैं। इस तरह काम करने वालों को साझीदार व्यवसायी कहते हैं। जिन व्यवसायों में इतनी अधिक पूँजी दरकार होती है कि एक आदमी अकेले नहीं लगा सकता, या देख-भाल और प्रबन्ध आदि करने के लिए एक से अधिक आदमियों की ज़रूरत होती है, उन्हीं व्यवसायों को कई आदमी साझे में करते हैं। प्रबन्ध आदि का काम नौकरों से भी हो सकता है, पर जितना सोच समझ कर और जी लगा कर किफ़ायत के साथ मालिक काम करता है उतना नौकर बहुधा नहीं करते। किसी किसी कारोबार में भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता दरकार होती है। पर एक ही आदमी में सब प्रकार की योग्यताओं और गुणों का होना प्रायः कम देखा जाता है। इसी से यदि भिन्न भिन्न

गुण और योग्यता वाले दो चार आदमी साझे में काम करते हैं तो काम भी अच्छी तरह चलता है और लाभ भी होता है। कल्पना कीजिए कि किसी को शक्कर बनाने का एक कारख़ाना खोलना है। वह शक्कर के गुण-दोषों को तो अच्छी तरह जानता है; पर जिन कलों से शक्कर बनाई जाती है उनका कुछ भी ज्ञान नहीं रखता; और न हिसाब-किताब ही रखने में होशियार है। अब यदि उसे दो आदमी ऐसे मिल जायँ जिनमें से एक कलों के सम्बन्ध की सब बातें जानता हो, और दूसरा बहीखाते के काम में ख़ूब प्रवीण हो, तो उसका काम बन जाय और तीनों आदमियों के साझे में शक्कर का व्यवसाय होने लगे।

बहुत दिन तक कोई काम करते रहने से आदमी उसमें दक्ष हो जाता है। उसके विषय की सब बातें उसे मालूम हो जाती हैं। वह उसके सब भेदों और सब रहस्यों से जानकार हो जाता है। बड़े बड़े व्यवसाय अकेले एक आदमी नहीं कर सकता। उसे अपनी मदद के लिए नौकर रखने पड़ते हैं। ये नौकर धीरे धीरे जब उस व्यवसाय में ख़ूब प्रवीण हो जाते हैं तब अधिक तनख़्वाह पाने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं होता। इससे नौकरी छोड़ कर वे ख़ुद ही उस व्यवसाय को करना चाहते हैं। यदि वे ऐसा करें तो उस व्यवसाय में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाय—चढ़ा-ऊपरी अधिक होने लगे। इस दशा में पहले व्यवसायी को ज़रूर ही हानि पहुँचे। इसी हानि को बचाने के लिए बहुधा लोग अपने पुराने नौकरों को अपने कारोबार में साझी कर लेते हैं। ऐसा करना बुरा नहीं। इससे दोनों को लाभ होता है।

साझे के रोज़गार में साझीदारों के बीच अनबन का होना अच्छा नहीं। इससे हमेशा हानि होती है। क्योंकि व्यवसाय में भी एकता की ज़रूरत है। एकता बहुत बड़ा बल है। एकता की बदौलत बड़े बड़े काम सहज में हो जाते हैं। साझीदारों में अनैक्य और मतभेद न होना चाहिए। कभी कभी ऐसा होता है कि व्यवसाय शुरू करते समय तो साझीदार हिल मिल कर काम करते हैं और परस्पर एक दूसरे का विश्वास भी करते हैं; परन्तु कुछ दिन बाद उनको चालाकी सूझती है; उनमें अविश्वास आ घुसता

है । इससे काम बिगड़ जाता है और बहुत दिन तक नहीं चलता । कोई काम जारी करने के पहले मनुष्य को चाहिए कि साझीदारों के शील-स्वभाव का हाल अच्छी तरह जान ले और जो लोग सच्चरित्र, समझदार, विश्वासपात्र और सरल-स्वभाव हों उन्हीं को साझीदार बनावे । काम शुरू होने पर यदि किसी के स्वभाव या काम में कोई त्रुटि देख पड़े तो प्रीतिपूर्वक उसे उसको समझा दे और जहाँ तक हो सके विरोध की जड़ न जमने दे । परस्पर एक दूसरे का विश्वास करने और उनकी त्रुटियों पर विशेष ध्यान न देने ही से व्यवसाय मे सफलता होती है । अन्यथा थोड़े ही समय में सब तीन तेरह हो जाते हैं ।

साझे में कारोबार करने वालों को १८७२ ईसवी के इंडियन कान्ट्रैक्ट ऐक्ट, नं० ९ (Indian Contract Act, No 9 of 1872) की ख़ास ख़ास बातों को ज़रूर जान लेना चाहिए । और साझीदारों को अपने अपने साझे के विषय मे दस्तावेज़ लिख कर सब बातों का पहले ही से निश्चय कर लेना चाहिए, जिसमें पीछे से झगड़ा न हो ।

जिन बड़े बड़े व्यवसायों के लिए बहुत पूँजी दरकार होती है वे साझेदारी से भी नहीं चल सकते । उनके लिए कम्पनी खड़ी करनी पड़ती है । बहुत से आदमियों के मिल कर कम्पनी के रूप में कारोबार करने का नाम सम्भूय-समुत्थान है । यदि कहीं रेल निकालना हो, या ट्राम-गाड़ी चलाना हो, या कोयले की खान का काम करना हो, या बैंक खोलना हो, या और कोई बहुत बड़ा कारोबार करने का इरादा हो तो बिना कम्पनी खड़ी किये दो चार साझीदारों से काम नहीं चल सकता । क्योंकि ऐसे काम के लिए लाखों रुपये की पूँजी दरकार होती है ।

जो लोग किसी व्यवसाय के लिए कम्पनी खड़ी करना चाहते हैं वे पहले इस बात का अन्दाज़ लगाते हैं कि इस काम में कितनी पूँजी लगेगी । फिर उस पूँजी को पूँजीदारों की एक निर्दिष्ट संख्या में विभक्त करते हैं और यह बतलाते हैं कि इस काम में वार्षिक इतने लाभ की सम्भावना है । कल्पना कीजिए कि कुछ आदमियों ने मिल कर एक बैंक खोलने का विचार किया और निश्चय किया कि दस लाख रुपये की पूँजी इसके लिए दरकार होगी ।

इस पूँजी को उन्होंने दस हज़ार आदमियों में बाँट कर एक एक आदमी का हिस्सा सौ सौ रुपये निश्चित किया और अनुमान किया कि प्रति सौ रुपये पर एक वर्ष में १० रुपये लाभ होगा। यही सब बातें एक अनुष्ठान-पत्र किंवा कार्य्य-विवरण में प्रकाशित करके उसे दूर दूर तक बाँट दिया। इस विवरण में यह भी उन्होंने लिख दिया कि जो कोई इस कम्पनी में हिस्सा लेगा उसे अपने हिस्से का अमुक अंश पहले ही देना होगा, और शेष अमुक अमुक मुद्दत के बाद, या जब ज़रूरत होगी तब। जहाँ मतलब भर के लिए हिस्से बिके और काफ़ी रुपया आ गया तहाँ बैंक का काम शुरू कर दिया गया। इस तरह कम्पनी खड़ी करके काम करने से जिनके पास थोड़ी भी पूँजी होती है वे भी अपनी पूँजी लगा सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं। जिस देश में कम्पनी खड़ी करके रोज़गार करने की ओर लोगों का अधिक ध्यान है वहाँ पूँजी बेकार नहीं पड़ी रहती। विलायत में यही होता है। इसी से वहाँ का व्यापार-व्यवसाय इतनी उन्नति पर है। लाखों, करोड़ों की पूँजी से नित नई कम्पनियाँ खुलती जाती हैं और उनके द्वारा देश की सम्पत्ति दिनों दिन बढ़ती जाती है।

कोई हिस्सेदार, पीछे से, यदि अपना हिस्सा बेच देना चाहे तो वह बेच भी सकता है। यदि कम्पनी का काम अच्छी तरह चल रहा है और उसे फ़ायदा रहता है तो जितने का हिस्सा होगा उससे अधिक को बिकेगा। कम्पनी की अवस्था और लाभ के अनुसार १०० रुपये का एक हिस्सा २०० रुपये या इससे भी और अधिक को बिक सकता है। पर कम्पनी का काम अच्छा न होने से हिस्से का भाव गिर जाता है। यहाँ तक कि कभी कभी गाँठ से भी कुछ खोना पड़ता है।

साझे के व्यवसायों में साझीदारों की संख्या निर्दिष्ट नहीं रहती। परन्तु मिल कर काम करनेवालों की संख्या यदि सात से कम हो तो कम्पनी नहीं खड़ी हो सकती। सम्भूय-समुत्थान की रीति से कम्पनी खड़ी करके काम करनेवालों की संख्या कम से कम सात होनी ही चाहिए। गवर्नमेंट ने क़ानूनही ऐसा बना दिया है। जिस क़ानून में कम्पनी खड़ी करके वाणिज्य-व्यवसाय करने के नियम हैं उसका नाम है—१८८२ ईसवी का इंडियन कम्पनीज़ ऐक्ट,

नम्बर ६ (Indian Companies Act, No VI of 1882) उसके अनु-सार कम्पनी की रजिस्टरी होती है और उसके कार्य्य-कर्त्ताओं को क़ानून में लिखी गई सब बातों की पाबन्दी करनी पड़ती है ।

कम्पनी खड़ी करके सम्भूय-समुत्थान द्वारा सब तरह के व्यापार और व्यवसाय हो सकते हैं । यह विषय बहुत बड़े महत्त्व का है । अतएव इसका विचार अगले परिच्छेद में, कुछ विशेषता के साथ, अलग किया जायगा ।

दूसरा परिच्छेद ।

व्यवसायी कम्पनियाँ

अथवा

सम्भूय-समुत्थान ।

ग्लाइन बारलो, एम० ए०, नाम के एक साहब मदरास-प्रान्त में पाल-घाट नगर के विक्टोरिया कालेज में प्रधान अध्यापक हैं । आपने "औद्योगिक भारतवर्ष" (Industrial India) नाम की एक पुस्तक अँगरेज़ी में लिखी है । उसमें मिल जुलकर काम करने, अर्थात् सम्भूय-समुत्थान, पर आपने अच्छा विचार किया है । आपही के लेख के आधार पर एक लेख जून १९०७ की "सरस्वती" में प्रकाशित हुआ है । यहाँ पर हम इसी लेख का मुख्यांश उद्धृत करते हैं ।

मिल जुलकर काम करने में बड़ी शक्ति है । जिस काम को अकेला आदमी नहीं कर सकता, कई आदमी मिल कर सुगमता से कर लेते हैं । विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दुस्तान में, शहरों की जाने दीजिए, हज़ारों गाँव ऐसे मिलेंगे जहाँ व्यापार-व्यवसाय और शिल्प की उन्नति सहज में हो सकती है । परन्तु एक आदमी अकेले किसी बड़े काम को नहीं कर सकता और न एक आदमी के पास इतना रुपयाही होता है कि वह बिना किसी की मदद के ख़ुद ही उसे चला सके । ऐसे अवसर पर हमें कम्पनियाँ खड़ी करके काम करना चाहिए । कुछ आदमियों को मिलकर, अपनी अभीष्ट-

सिद्धि के लिए, चन्दे के द्वारा पूँजी इकट्ठी करनी चाहिए। इसके बाद कुछ प्रतिष्ठित और पुरुषार्थी मनुष्यों की एक प्रबन्धकारिणी कमिटी बना लेनी चाहिए। और एक योग्य और तजरिबेकार आदमी को उसका अधिष्ठाता नियत करके उसीको कम्पनी का काम चलाने का भार दे देना चाहिए। प्रबन्धकारिणी कमिटी के सभासद् कम्पनी के जमाख़र्च की निगरानी किया करें, जिसमें रुपये पैसे के मामले में गोलमाल न हो। इस प्रकार जहाँ जैसी आवश्यकता हो कम्पनियाँ खड़ी करके कोई भी काम या कारख़ाना सुगमता से चलाया जा सकता है और यहाँ के मृतप्राय उद्योग-धन्धों का पुनरुज्जीवन किया जा सकता है।

परन्तु ऐसे कामों में रुपया लगाना हम लोग नहीं जानते। यह बात शिक्षित और अशिक्षित सभी लोगों में पाई जाती है। बम्बई और कलकत्ता को छोड़ कर जहाँ व्यापार-व्यवसायरूपी लता कुछ लहलहाने के लक्षण दिखा रही है, भारतवर्ष में अन्यत्र ऐसे बहुत कम कारख़ाने हैं जिन्हें हिन्दुस्तानी ही चलाते हों और अधिकतर वही उनके हिस्सेदार भी हों। यह बात व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि में कंटक हो रही है। इसलिए इसे निकालने का बहुत जल्द यत्न करना चाहिए। इस शोचनीय अवस्था के मुख्य मुख्य कारणों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

पहला कारण यह है कि हम लोग स्पृश्य-धन (Tangible Form of Money) के बड़े प्रेमी हैं,—अर्थात् हम अपने धन को ऐसी अवस्था में रखना चाहते हैं जिसमें हम सदैव उसे अपनी आंखों से देखते रहें—जिसमें हम सदैव उसे हाथ से स्पर्श कर सकें। इस प्रेम की जड़ उस अशान्तिमय अराजकता के समय में पड़ी थी जब परस्पर मिल जुल कर व्यापार-व्यवसाय करने की प्रथा का प्रायः बिलकुल ही अभाव सा था। ठगों, डाकुओं और पिण्डारियों के झुण्ड दिन दहाड़े लोगों को लूट लेते थे। यहाँ तक कि छोटे छोटे ज़मींदार भी कभी कभी एक गाँव से दूसरे गाँव पर चढ़ाई किया करते थे और उस पर क़ब्ज़ा हो जाने पर उसे लूट लेते थे। कोई आश्चर्य्य की बात नहीं, यदि उस विपत्ति के समय में लोगों ने अपने धन को ज़मींदारी ख़रीदने में लगाना अच्छा समझा, जिसमें न उसे चोर ले सकें न डाकू

लूट सकें । जो लोग ज़मींदारी न ख़रीद सकते थे वे अपने धन को पृथ्वी के पेट में छिपा देते थे; अथवा आभूषणों और मणि-मुक्ताओं के रूप में अपनी असूर्य्यम्पश्या प्रियतमाओं की नज़र कर देते थे । वह समय ही वैसा था । लोग एक शहर से दूसरे शहर पहुँचना कठिन काम समझते थे । बड़ी बड़ी शाहराहों पर भी डाकू लोग निडर घूमा करते थे । विदेश-यात्रा सहज बात न थी । उस समय अपने ही घर की छतों तले रहना और खेत ही जोत कर निर्वाह करना अच्छा था । परन्तु अब कालचक्र घूम गया है । अब तो पारस्परिक सहायता के—मिल जुल कर काम करने के—सूर्य का उदय हो आया है । अतएव हम लोगों को अब अपनी पुरानी आदत छोड़नी चाहिए । अब गवर्नमेंट की कृपा से ठग और पिण्डारी नामावशेष हो गये हैं, गाँवों पर चढ़ाइयाँ बन्द हो गई हैं; पक्की सड़कें बन गई हैं; रेलें खुल गई हैं; डाक और तार का प्रबन्ध हो गया है । अब तो एक बच्चा भी पेशावर से कलकत्ते बेखटके जा सकता है । ज़मीन अब भी एक अनमोल चीज़ है, अब भी हमारी जननी है, अब भी हमारी जीवनाधार है । परन्तु अब वह उतनी लाभदायक नहीं रही जितनी पहले थी । लगान बढ़ जाने, आबादी अधिक हो जाने, अनाज की रफ़्नी ज़ियादह होने से अब ज़मीन की पैदावार बहुत महँगी हो गई है । इसलिए अब ज़मीन ही के भरोसे रहना बुद्धिमानी का काम नहीं । रुपये को गाड़ रखने या गहने बनवाने की हानियाँ अब सब लोगों के ध्यान में आ गई हैं । इससे अब हमको उन व्यवसायों में रुपया लगाने का साहस करना चाहिए जो अपने, और अपने देश, दोनों के लिए उपकारी हों ।

दूसरा कारण इस शोचनीय अवस्था का यह है कि हिन्दुस्तान में रुपये के उधार-व्यवहार का उद्यम किसी एक आदमी, एक समुदाय, या एक जाति का उद्यम नहीं है । किन्तु ज़मींदार, मुनीम, दुकानदार, व्यापारी, लेखक, अध्यापक और वकील प्रायः सभी लोग, जिनके पास रुपया है, इस पेशे को करते हैं । बहुत करके ज़ेवर गिरवी रख कर रुपया उधार दिया जाता है । बड़े बड़े प्रतिष्ठित आदमी भी ज़ेवर रख कर रुपया उधार देने का पेशा करते हैं ।

जो लोग उधार देने का पेशा करते हैं वे १०० रुपये पर साल में ३० रुपये तक सूद लेते हैं । ज़ेवर गिरवी रख कर रुपया उधार देने में रुपये के

डूबने का डर नहीं रहता। क्योंकि उधार लेनेवाले का ज़ेवर, ज़मानत के तौर पर, महाजन के सन्दूक़ में बन्द रहता है। फिर भला ऐसे लाभदायक पेशे पर जो लोग टूटें तो क्या आश्चर्य्य ? परन्तु उद्योग-धन्धे, शिल्प और व्यापार की बढ़ती के ऐसे व्यवसाय बहुत बाधक हैं। क्योंकि जो आदमी रुपये के बदले माल रख कर घर बैठे ३० रुपये सैकड़ा साल में पैदा कर सकता है वह किसी ऐसे व्यवसाय में, जिसमें सिर्फ़ १० रुपये सैकड़ा मुनाफ़ा होना सम्भव है और जिसके 'फेल' हो जाने का भी डर है, ज़रूर ही रुपया लगाने में आगा पीछा करेगा। रुपया कमाने के लिहाज़ से ऐसी बातों को बुरा बतलाना मूर्खता है। परन्तु सोचने से यह साफ़ मालूम हो जाता है कि यथार्थ में ज़ेवर गिरवी रखने के पेशे में उतना लाभ नहीं है जितना कि ऊपर से देखने से जान पड़ता है। क्योंकि यह पेशा करनेवालों के यहाँ गिरवी रक्खा हुआ जेवर हमेशा उनके पास नहीं रहता। कुछ दिन बाद वह छुड़ा लिया जाता है। अतएव सूद बन्द हो जाता है। यद्यपि ज़ेवर लाने और छुड़ा ले जाने का सिलसिला जारी रहता है, तथापि रुपया उधार लेनेवालों की राह हमेशा ही देखनी पड़ती है। यदि हिसाब लगाया जाय तो ३० रुपये सैकड़े ब्याज लेने पर भी वास्तविक ब्याज, जो सारी पूँजी पर मिलता है, शायद ही १० या १२ रुपये सैकड़े के हिसाब से पड़ता हो। यही पूँजी यदि किसी बड़े उद्योग-धन्धे में लगाई जाय तो लगाने वाले का रुपया एक दिन भी बेकार न रहे। साथ ही उसे अपनी पूँजी लगाने के सम्बन्ध की लिखा-पढ़ी या प्रबन्ध आदि के बखेड़े में भी पड़ने की ज़रूरत न हो। सम्भूय-समुत्थान के नियमानुसार व्यवसाय करनेवाली कम्पनियों में रुपया लगाने से हमेशा रुपया बढ़ता रहता है और रुपया लगानेवाला घर बैठे उससे लाभ उठाया करता है।

दूसरी बात रुपया उधार देने में ध्यान देने योग्य यह है कि इस व्यवसाय के करनेवालों की मूल पूँजी का वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) कभी नहीं बढ़ता। अर्थात् मूल पूँजी का मूल्य वर्षारम्भ में जो सौ रुपये हैं तो वर्षान्त में भी उतना ही रहता है; बढ़ता नहीं। परन्तु बड़े बड़े उद्योग-धन्धों में रुपया लगाने से हिस्सों के मूल्य का बढ़ जाना बहुत सम्भव है।

इस दशा में रुपया लगानेवाले को कोरा मुनाफ़ा ही न मिलेगा; किन्तु उसकी मूल पूँजी की क़ीमत भी बढ़ जायगी। मान लीजिए कि आपने किसी कम्पनी में १०० रुपये का एक हिस्सा ख़रीदा। यदि कम्पनी को सफलता हुई और वर्ष के अन्त में ८ रुपये सैकड़े की दर से मुनाफ़ा दिया गया तो सम्भव है कि आपके १०० रुपये के हिस्से का मूल्य १२० रुपये हो जाय। तब उसकी वास्तविक दर ८ रुपये सैकड़े नहीं, किन्तु २० रुपये सैकड़े हो जायगी। ऐसे कामों में कभी कभी बेहद लाभ होता है। दृष्टान्त के तौर पर कोयले का काम करनेवाली बङ्गाल की "कटरसगढ़ झरिया कम्पनी" को लीजिए। कई वर्ष हुए इसके हिस्से दस दस रुपये को बिकते थे। अचानक इसके कोयले की माँग बढ़ी। इससे इसके हिस्सों का मूल्य भी बढ़ने लगा। यहां तक कि १० रुपये का एक शेयर (हिस्सा) ४२ रुपये में लिया जाने लगा। यहीं समाप्ति न समझिए। कोयले की माँग इतनी बढ़ी कि यह कम्पनी अकेले सब कोयला न खोद सकी। इससे इसने अपनी कुछ ज़मीन एक नई कम्पनी "शिवपुर कोल माइनिंग कम्पनी" को बेचदी। इसने झरिया कंपनी के हर एक हिस्सेदार को, जिसके ५ शेयर थे, ४ शेयर पाँच पाँच रुपये के बिना मूल्य दिये। इस कम्पनी की भी बड़ी तरक्क़ी हुई और उसका ५ रुपये का एक शेयर १४ रुपये को बिकने लगा। अब ज़रा उस आदमी की अवस्था पर विचार कीजिए जिसने १०० रुपये के १० शेयर पुरानी कम्पनी में ख़रीद लिये थे। अब उसके १०० के ४२० रुपये हो गये और ४० रुपये के हिसाब से मुनाफ़ा अलग! इसके सिवा उसके ८ शेयर इस नई कम्पनी में ११२ रुपये के और हो गये। अर्थात् १०० रुपये की जगह उसकी मूल पूँजी में ५३२ रुपये हो गये और मुनाफ़ा अलग! भला ऐसे लाभ के मुक़ाबले में लेन देन से होने वाला लाभ क्या चीज़ है? परन्तु ऐसे अवसर सदैव हाथ नहीं आते। इससे रुपया लगानेवाले को बहुत सोच समझ कर लगाना चाहिए।

तीसरा कारण उद्योग-धन्धे में रुपया लगाने से डरने का यह है कि हम लोगों ने बहुत धोखे खाये हैं। कितनी ही कम्पनियाँ बड़े उत्साह और बड़े आडम्बर से खड़ी की गईं, परन्तु थोड़े ही दिनों में उनका दिवाला निकल गया। फल यह हुआ कि किसी किसी रुपया लगाने वाले की घर-गृहस्थी तक

बिक गई । इसी से, जिस तरह दूध का जला छाँछ भी फूँक फूँक कर पीता है, रुपया लगाने में लोग हिचकिचाते हैं । ऐसी बहुत सी मिसालें मौजूद हैं । १८६० ईसवी की बङ्गाल की सोने की खानं खोदने वाली कम्पनी की बात याद कीजिए । अफ़वाह उड़ी कि बङ्गाल की ज़मीन में सोना भरा पड़ा है । एक कम्पनी खोली गई । हवा में गाँठें लगाई गईं । यहाँ तक कि वहाँ के कच्चे सोने के टुकड़े तक कलकत्ते में दिखाये गये । सोने के नाम में बड़ी आकर्षण-शक्ति है । शेयर बिकने लगे । दिन दूने रात चौगुने होने लगे । अमीरों, राजाओं और नवाबों ने ख़ूब ही शेयर ख़रीदे । परन्तु पीछे से भण्डा फूटा । टाँय टाँय फिस ! मालूम हुआ कि बङ्गाल की खानों में सोने का नामोनिशान भी नहीं । एक आदमी इस चालाकी से माल मार कर मालामाल हो गया । परन्तु शेयर ख़रीदने वालों के घर हाहाकार मच गया । यही दशा, १८८२—८३ ईसवी में, मैसूर-राज्य की वाइनाद की पहाड़ियों की खानों की हुई । यद्यपि इसमें अँगरेज़ों ही का रुपया बरबाद हुआ, तथापि उसका असर इस देश वालों पर भी बहुत कुछ पड़ा । एक बात ज़रूर है कि इन खानों की बात बिलकुल ही गप न थी । सोने की खानें वहाँ अवश्य थीं और इस देश वाले किसी समय उनसे सोना निकालते भी थे । इसी से लोगों ने सोचा कि उस समय आज कल की सी अच्छी कलें न थीं । इससे हिन्दुस्तानी आदमी केवल ऊपर ही ऊपर का सोना निकाल सके होंगे । कलों की मदद से नीचे का सोना आसानी से निकल आवेगा । यह सम्भव भी था । ख़ैर, कम्पनी खुली । वाइनाद की पहाड़ियों पर साहब लोगों के बँगले बनने लगे । खानों में काम देने वाली कुछ कलें भी आ गईं । पहाड़ियों के पेट से सोना निकालने के लिए कुछ और कलें इँगलेंड से रवाना हुईं । काम आरम्भ हो गया । ये कलें अभी रास्ते ही में थीं कि पहाड़ियों का पेट फाड़ कर जो देखा गया तो सोना नदारद ! सब ओर आर्त्तनाद होने लगा । रास्ते में पड़ी कलें वहीं छोड़ दी गईं । वे अब भी टूटी फूटी अवस्था में वहाँ पड़ी हैं और पथिकों को इस घटना का स्मरण दिलाती हैं ।

काँच, दियासलाई और काग़ज़ आदि बनाने के और भी बहुत से कार-ख़ाने खुले और थोड़े ही दिनों में लोप हो गये । तो भला ऐसे भयानक

काम में कोई रुपया क्यों लगावे ? रुपये के बदले माल रख कर, बिना किसी तरह के जोखिम या ख़तरे के, रुपया कमाना क्या बुरा है ? इस पर ज़रा विचार की ज़रूरत है। विचार करने से यथार्थ बात ध्यान में आ जाती है। सोने की खानों में तो बहुत लोगों ने कम्पनी के चालाक सिद्ध-साधकों की चिकनी चुपड़ी बातों में आकर रुपया दे दिया था। फिर, सोना निकालने का व्यवसाय आशापूर्ण होने पर भी बड़े ख़तरे का है। क्योंकि पहले से ही यह अनुमान कर लेना कि खान में कितना सोना है, असम्भव है। पर कोयले की खान में पहले ही से यह अन्दाज़ कर लिया जा सकता है कि इसमें कितने हज़ार या लाख मन कोयला है। खानि में सोना रगों की तरह फैला रहता है इससे उसकी लकीरें का पता लगाना सहज नहीं। पर कोयले की तहें सीधी और अकसर एक सी होती हैं। इससे उसका वज़न आसानी से जाना जा सकता है। सोने की खान का काम करना एक प्रकार का जुआ है। पर कोयले की बात ऐसी नहीं है।

नई कम्पनियों के एजंटों की बादरचाट बातों और मन लुभाने वाली भाषा में लिखे गये रङ्ग बिरङ्गे विज्ञापनों से लोगों को सदैव होशियार रहना चाहिए। उनके फन्दे में पड़ कर धोखा खा जाने का बड़ा डर रहता है। लेकिन कम्पनियाँ खड़ी करने वाले भी भले बुरे सब तरह के होते हैं। इस लिए रुपया लगाने वालों को उन्हें अच्छी तरह जाँच लेना चाहिए। रुपया देने के पहले यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि जिस कम्पनी की बात हो रही है वह दर असल में कहीं है भी या नहीं। और, उसके अधिष्ठाता और प्रबन्ध-कर्त्ता विश्वसनीय और प्रतिष्ठापात्र हैं या नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि आदमी को अपना मन ख़ूब भर लेना चाहिए कि यह कम्पनी चलेगी या नहीं। जब सब तरह दिलजमई हो जाय तब रुपया देना चाहिए। जिन कारणों से काँच और दियासलाई आदि के छोटे छोटे कार-ख़ाने न चल सके उन पर ख़ूब अच्छी तरह विचार करके काम शुरू करना चाहिए। इनके न चलने का मुख्य कारण यह है कि बहुधा ये काम बिना पूरी योग्यता के, बिना तत्संम्बन्धी शिल्प कला-कौशल के, और बिना काफ़ी पूँजी के शुरू कर दिये जाते हैं। जिस कम्पनी के पास इतना भी धन न

हो कि काम चल निकलने तक वह अपना ख़र्च सँभाल सके उसे भला कैसे कामयाबी हो सकती है। जिस कारख़ाने का दफ़्तर एक अँधेरे झोपड़े में हो; जिसके मैनेजर या कारकुन एक घुनी हुई मेज़ के सामने किसी टूटी कुर्सी पर तशरीफ़ रखते हों; और तीन चार मरियल क़ुली इधर उधर फिर रहे हों—उसकी ज़िन्दगी चन्दरोज़ा ही समझिए। यद्यपि आलीशान आफ़िस और भाप से चलने वाली कलों से ही सफलता नहीं प्राप्त होती, तथापि कारख़ाने की इमारत और सामान ऐसा तो ज़रूर ही हो जो दर्शक के चित्त को आकर्षित करके उस पर अपने गौरव की धाक जमा दे।

चौथी बात जो इस मामले में विघ्न डालती है वह हम लोगों का एक दूसरे पर अविश्वास है। बड़े अफ़सोस की बात है कि हम लोग अपनों ही पर विश्वास नहीं करते। विश्वास न करने की हमें आदत सी हो गई है। लोग इस बात पर कभी विचार भी नहीं करते। यहाँ तक कि सीधे सादे आदमी को बहुधा लोग बेवक़ूफ़ बना कर मज़ाक़ उड़ाते हैं। वह नौकर उल्लू समझा जाता है जो अपने मालिक को बेवक़ूफ़ बना कर उससे अपनी तनख़्वाह के सिवा चालाकी से कुछ अधिक नहीं ऐंठ लेता। आज कल यह चाल सी हो गई है कि जब लोग किसी से उसकी तनख़्वाह पूछते हैं तब साथ ही ऊपरी आमदनी भी पूछते हैं। लोगों को एक अन्ध-विश्वास हो गया है कि प्रत्येक आदमी अपने व्यवसाय में कुछ न कुछ चालाकी ज़रूर करता है। इसी बुनियाद पर लोग कह देते हैं कि कम्पनियों के मैनेजर ज़रूर ही चतुर आदमी रक्खे जाते होंगे। अतएव वे चालाकी करने से क्यों चूकते होंगे? इसकी मिसाल मन्दिरों के महन्तों और प्रबन्ध-कर्त्ताओं से दी जाती है जो इस तरह की चालाकी के लिए बदनाम हैं। लोग कहते हैं कि जब ऐसों का यह हाल है तब साझे की कम्पनियों के मैनेजर भला क्यों न चालाकी करते होंगे? इसी से लोग एक दूसरे का एतबार नहीं करते। यह बात व्यापारिक उन्नति में बड़ी बाधा डाल रही है। रुपया लगाने वालों को सावधान ज़रूर रहना चाहिए; परन्तु अपने साथियों का कुछ विश्वास भी करना चाहिए। उनको समझना चाहिए कि एक सुसंगठित कम्पनी में गोल माल करना बहुत मुश्किल है; क्योंकि ऐसी कम्पनियों के

प्रबन्धकर्त्ता मन्दिरों के महन्तों की तरह नहीं होते। यहाँ सारा हिसाब-किताब यथानियम रक्खा जाता है। मैनेजर के ऊपर कितने ही तजरिबे-कार और इज़्ज़तदार डाइरेक्टर्स (Directors) होते हैं। छोटे छोटे ख़र्च भी कई जगह लिखे जाते हैं। इसके सिवा हर साझीदार के पास हर साल जमा ख़र्च का ब्योरेवार चिट्ठा भेजा जाता है। वह ख़ुद भी वार्षिक या छमाही मीटिंग् में डाइरेक्टरों से जो चाहे पूँछ सकता है और जब चाहे हिसाब की जाँच कर सकता है।

इस अविश्वास की जड़ हमारे यहाँ सौदा लेने में मोल तोल करने की कुरीति है। बाज़ार में जिस चीज़ का मोल पहले २० रुपये कहा जाता है वह १० या १५ ही में देदी जाती है। क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि बेचने वाला उसके उचित मोल से अधिक लेना चाहता है? इसीसे अविश्वास इतना बढ़ गया है। ऐसी धोखेबाज़ी साधारणतः छोटे से लेकर बड़े दुकान-दारों और सौदागरों तक में देखी जाती है। इसी लिए आज कल बाज़ारों में ख़रीदार दुकानदार को और दुकानदार ख़रीदार को अपनी अपनी चालाकी से बेवक़ूफ़ बनाने का यत्न करता है। यह बड़ी ही बुरी चाल है। ज़रासी बात के लिए लोग कितना झूठ बोलते हैं। किसी को कुछ लेना होता है तो वह और और चीज़ों की क़ीमत पूछने के बाद उस चीज़ पर हाथ लगाता है। यह इस लिए किया जाता है जिसमें दुकानदार को यह न मालूम हो कि ग्राहक को उस चीज़ की ज़रूरत है। यह मालूम हो जाने से दुकानदार उसकी क़ीमत और भी बढ़ा कर बतलाता है।

जैसे किसी को एक छाता लेना है। वह दुकान पर जायगा। दुकान पर छातों के सिवा और भी बहुत सी चीज़ें हैं। ग्राहक महाशय पहले एक और ही चीज़ उठा कर उसके दाम पूछेंगे। (यह झूठ नम्बर १ हुआ)। फिर आप कहेंगे कि यह वैसी नहीं है जैसी आप चाहते हैं। (झूठ नम्बर २)। इसी तरह करते कराते अचानक छाते की तरफ़ देख कर आप कहेंगे कि थोड़े दिनों में तो छाता लेना ही पड़ेगा, लाओ इन्हीं की दुकान से लेलें। तब आप छाते के दाम पूछेंगे। (झूठ नम्बर ३)। दुकानदार कहेगा—"तीन रुपये"। ग्राहक महाशय हँस कर चल देंगे और थोड़ी दूर जाकर

कहेंगे—"१॥) रुपया लोगे"? (झूठ नम्बर ४)। दुकानदार आवाज़ देगा—"ठहरिए तो जनाब; तशरीफ़ लाइए; सौदा कहीं भागने से थोड़े ही तै होता है। अच्छा पौने तीन रुपये दे जाइए"। ग्राहक—"पौने दो में देना हो देदो; अधिक बातें बनाना हमें नहीं आता"। (झूठ नम्बर ५)। दुकानदार—"अच्छा साहब, आप २॥) रुपये ही दे जाइए; लीजिए"। ग्राहक साहब दो रुपये कह कर झपट कर चल देंगे। (झूठ नम्बर ६)। थोड़ी दूर जाने पर आप सोचेंगे कि शायद दुकानदार न बुलावे। इधर दुकानदार सोचता है कि शिकार हाथ से निकला जा रहा है। इससे ज्योंही ग्राहक महाशय मोड़ पर से झुकते हैं कि वह चिल्लाता है—"आइए साहब आइए; ले जाइए"। बस सौदा तै हो जाता है। ग्राहक महाशय समझते हैं कि सस्ता लाये। दुकानदार कहता है—"बचा, कहाँ तक होशियारी करोगे; मैंने चार आने पिछले ग्राहक की अपेक्षा तुमसे अधिक ही लिये हैं"। अब देखिए, एक अदना सी चीज़ छाता ख़रीदने में ग्राहक ने ६ दफ़े झूठ बोला? दुकानदार ने कितनी दफ़े झूठ बोला, उसका हमने हिसाब ही नहीं लगाया! शिव! शिव! झूठ बोलना कितना घोर पाप है!

अब कल्पना कीजिए कि एक ऐसी दुकान है जहाँ एक ही बात कही जाती है। ग्राहक जाता है। चीज़ पसन्द करता है। दाम पूँछता है। जी में आता है ले लेता है, नहीं तो नम्रतापूर्वक चीज़ वापस करके चल देता है। यह कितनी सीधी सादी रीति है। दुकानदार और ख़रीदार दोनों मिथ्या भाषण के पाप से बचते हैं; और एक दूसरे पर विश्वास भी करते हैं। इससे ज़ाहिर है कि जब तक यहाँ यह मोल तोल की निन्दित कुरीति प्रचलित रहेगी तब तक लोग एक दूसरे पर कभी विश्वास न करेंगे। अतएव जहाँ तक हो सके इस कुरीति को बहुत शीघ्र छोड़ देना चाहिए।

बड़े अफ़सोस की बात है कि इस देश के मदरसों, स्कूलों और कालेजों में धर्म्म या सदाचार-विषयक कोई विशेष प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का मुख्य तात्पर्य्य यह है कि वह मनुष्य के विचारों को उच्च करे और निन्दनीय कामों से घृणा पैदा करे। कुचाली, कुमार्गी और धोखेबाज़ सभी देशों में हैं। परन्तु वहाँ उनके दुर्गुणों को दूर करने के लिए उपाय भी तो

किये जाते हैं। स्कूलों में धर्म्म और सदाचार की शिक्षा देने में कोई कसर नहीं की जाती। बचपनही से बच्चे सुधारे जाते हैं। देश की आमदनी का बहुत बड़ा भाग शिक्षा के लिए ख़र्च किया जाता है। वास्तव मे छोटे छोटे बालक ही देश के भावी गौरव के कारण होते हैं। उनको सुधारना, देश को सुधारना है। इसलिए व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए भी हम को अपने बच्चों को सुधारने में जी-जान से यत्न करना चाहिए। क्या कभी ऐसा भी समय आवेगा जब भारत का प्रत्येक बच्चा अपना अपना कर्त्तव्य दृढ़ता से करने को उद्यत होगा और अपने तथा जपने देश-वासियों के भरण-पोषण के लिए तन, मन, धन सभी अर्पण करने को सदैव तत्पर रहेगा? भाई! आइए, हम सब मिलकर अपनी भावी सन्तति का कार्य्य-क्षेत्र तैयार करने के लिए इन सब प्रचलित कुरीतियों के निवारण का यत्न करें। यह बूढ़ा भारत अब हमाराही मुहँ देख रहा है। इस से हमें पुरुषार्थ करना चाहिए। हमें उठना चाहिए और एक दूसरे की सहायता से मिल जुल कर काम करना सीखना चाहिए। निश्चय जानिए, यदि हम सब मिलकर अपनी सहायता आप करने लगेंगे तो हमारी साम्पत्तिक अवस्था के सुधरने में देर न लगेगी।

तीसरा परिच्छेद।

हड़ताल और द्वारावरोध।

जिस देश में कम्पनियाँ खड़ी करके लोग बड़े बड़े काम करते हैं; अथवा, साम्पत्तिक अवस्था सुधरने से, अकेले एकही आदमी या दो चार मिलकर बड़े बड़े व्यापार-व्यवसाय चलाने लगते हैं; उस देश में बहुधा हड़ताल का रोग पैदा हो जाता है। यह रोग बहुत बुरा है। हिन्दुस्तान अब तक इससे बचा हुआ था; परन्तु कुछ समय से यहाँ भी इसका प्रादुर्भाव हुआ है। जी० आई० पी० रेलवे और सरकारी तारघरों के तारवालों का हड़ताल, बम्बई के चिट्टीरसों का हड़ताल, जमालपुर के रेलवे-कारख़ाने के कारीगरों का हड़ताल, ई० आई० रेलवे के ड्राइवरों और गार्डों का हड़ताल और कलकत्ते के

मेहतरों का हड़ताल अभी बहुत दिन की बात नहीं है। किसी व्यवसाय-विशेष में लगे हुए लोगों का, आपस में सलाह करके, किसी निश्चित समय पर, मालिक की इच्छा के विरुद्ध, काम छोड़ कर बैठ रहना हड़ताल कहलाता है। हड़ताल करना न्याय्य भी है अन्याय्य भी। मज़दूरों और कारख़ानेदारों में दुकानदार और ग्राहक का नाता है। दुकानदार अपनी चीज़ को जिस भाव चाहे बेच सकता है। ग्राहक यह नहीं कह सकता कि हम अमुक भाव से ही लेंगे। यदि ग्राहक को कोई चीज़ महँगी मालूम हो तो उसे अख़तियार है न ले। जहाँ कहीं उसे वह चीज़ सस्ती, या मुहँ माँगे दामों पर मिले, वहाँ ले। ऐसा करने से न दुकानदार ही अपराधी या अन्यायी कहा जा सकता है और न ग्राहक ही। यही हाल मज़दूरों और कारख़ानेवालों का है। यदि कोई कारख़ानेवाला मज़दूरों को उनकी मुहँ माँगी मज़दूरी न दे, या उनसे उतनेहीं घंटे काम कराने पर राज़ी न हो जितने घंटे वे काम करना चाहें, तो मज़दूर ख़ुशी से उस कारख़ाने को छोड़ सकते हैं। इस दशा मे कारख़ाने-दार की शिकायत नहीं चल सकती कि हमारा काम बन्द हो जाने से हमारी हानि होगी; अतएव मज़दूर अपराधी हैं। हड़ताल करने के पहले मज़दूर या और श्रमजीवी साफ़ कह देते हैं कि हम इतनी तनख़्वाह पर, या इतने घंटे, काम नहीं कर सकते। कारख़ानेदार उनसे काम लेना चाहे तो उनकी शिकायतें दूर कर दे। अन्यथा इनकार करने का फल भोगने के लिए तैयार रहे।

परन्तु कभी कभी ऐसे बेमौक़े हड़ताल होते हैं कि सर्व-साधारण को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती है; यहाँ तक कि उनकी जान तक ख़तरे में पड़ जाती है और उनके माल असबाब के भी लुट जाने का डर रहता है। नवम्बर ०७ में ई० आई० रेलवे के ड्राइवरों ने जो १० दिन तक हड़ताल की थी उससे हम लोगों को इस बात का बहुत कुछ तजरिबा हो गया है कि हड़-ताल से सर्वसाधारण को कितना कष्ट उठाना पड़ता है। अमेरिका की रेलों के यंजिन ड्राइवर और गार्ड लोगों ने कई दफ़े रास्ते में चलते चलते हड़ताल कर दी। वे पहलेही से निश्चय कर लेते हैं कि अमुक दिन, अमुक समय पर, हड़ताल करेंगे। उस समय यदि दो स्टेशनों के बीच, घोर जंगल में,

गाड़ी जा रही हो तो भी वे वहीं पर उसे खड़ी करके काम छोड़ देते हैं। ऐसी दशा में मुसाफ़िरों को बेहद तकलीफ़ होती है। इस तरह के हड़ताल कभी न्याय्य नहीं माने जा सकते। अपने फ़ायदे के लिए दूसरों को हानि पहुँचाना बहुत बड़ा अपराध है। बड़े बड़े शहरों में जो पानी के नल लगे होते हैं, और गैस या बिजली की रोशनी होती है, उनके कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूर या कारीगर, यदि बिना काफ़ी नोटिस दिये अचानक हड़ताल कर दें, तो सारे शहर को अँधेरे में पड़ा रहना और बिना पानी के तड़पना पड़े। इस तरह के हड़ताल न्याय्य नहीं। जो लोग इस तरह हड़ताल करके सर्वसाधारण को कष्ट पहुँचावें उन्हें सख़्त सज़ा मिलनी चाहिए।

हाँ यदि मुनासिब तौर पर हड़ताल किये जायँ और उनसे न किसी की स्वाधीनता ही भंग हो, न किसी के जान माल ही के जाने का ख़तरा हो, और न किसी को अचानक बहुत बड़ी तकलीफ़ ही पहुँचने का डर हो, तो वे न्यायविरुद्ध कामों और अपराधों की गिनती में नहीं आ सकते। संसार में बलवान् हमेशा ही निर्बल का पीड़न करता है। मज़दूरों की अपेक्षा कारख़ानेदार अवश्य ही अधिक शक्तिमान् और सम्पत्तिशाली होते हैं। उनके हाथ से निर्बल और दरिद्र मज़दूरों का पीड़न होना सम्भव है। कारख़ानों के मालिक हमेशा यही चाहते हैं कि काम बहुत लें, पर मज़दूरी कम दें। ऐसी अवस्था में मज़दूरों अथवा अन्यान्य श्रमजीवियों को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। उन्हें प्रति दिन अधिक समय तक काम करना पड़ता है और उजरत कम मिलने के कारण उन्हें खाने-पीने और पहनने को भी काफ़ी नहीं मिलता। इससे लाचार होकर उन्हें अपने दुःख मालिक को सुनाने पड़ते हैं, शिकायतें करनी पड़ती हैं, अर्ज़ियाँ देनी पड़ती हैं। अपनी तकलीफ़ें दूर करने की वे भर सक सब तरह कोशिश करते हैं। इस पर भी यदि उनकी दाद फ़रियाद काम न करे तो वे हड़ताल न करें तो करें क्या? ऐसे मौक़ों पर हड़ताल करना अनुचित नहीं। वह एक प्रकार का अस्त्र है। यदि वह उचित रीति पर, योग्य समय में, दृढ़तापूर्वक चलाया जाय तो चलानेवालों को सफलता होती है। योरप और अमेरिका में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। इस देश में भी, कई वर्ष हुए, ई० आई० रेलवे के ड्राइवरों ने जो हड़ताल

किया था उससे उनकी शिकायतें दूर हो गई थीं। नवम्बर ०७ के हड़ताल का भी उनके लिए अच्छाही फल हुआ। पर अभी कुछ दिन हुए, इसी रेलवे के स्टेशन के बाबू लोगों ने हड़ताल करके उलटा अपनीही हानि करली। कारण यह हुआ कि दृढ़तापूर्वक सारी लाइन में हड़ताल न किया गया। और आपस में एकता न होने से कुछ लोग हड़ताल के समय भी काम करते रहे।

हड़ताल के विषय में पण्डित माधवराव सप्रे का एक लेख "सरस्वती" में प्रकाशित हुआ है। उसमें वे लिखते हैं :—

"जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूँजी वालों के हाथ में आजाती है, और अन्य लोगों को मज़दूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब पूँजीवाले अपने व्यापार का नफ़ा स्वयं आपही ले लेते हैं, और जिन लोगों के परिश्रम से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है उनको पेट भर खाने को नहीं देते। ऐसी दशा में श्रम करनेवाले मज़दूरों को हड़ताल करना पड़ता है। एडवर्ड डायसी नाम के एक लेखक ने अँगरेज़ी भाषा के बृहत्कोश (यन्सा-इक्लोपीडिया ब्रिटानिका) में लिखा है—'Strikes have increased in number and in effectiveness. In the future, as in the past, all trade disputes must be ultimately settled on the—*Pull devil, Pull baker*—principle, by strikes on the part of men and lock-outs on the part of masters.' अर्थात् हड़तालों की संख्या बढ़ गई है और उनकी कार्यक्षमता भी अधिक हो गई है। जिस नियम के अनुसार व्यापार-विषयक सब झगड़ों का तसफ़िया पहले होता था, उसी नियम का अवलम्ब भविष्य में भी किया जायगा। मतलब यह कि काम करनेवाले हड़ताल करेंगे और कारख़ानों के मालिक कारख़ानों के फाटक बन्द करेंगे—काम करने वालों को काम से छुड़ा देंगे।

"पश्चिमी देशों में भिन्न भिन्न व्यवसायियों की भिन्न भिन्न जातियाँ नहीं हैं। जो आदमी आज सुनार का काम करता है वही कल आपको चमार का काम करता हुआ देख पड़ेगा। इसी सामाजिक व्यवस्था का परिणाम, स्पर्द्धा के रूप में, पश्चिमी देशों की आर्थिक दशा पर दिखाई देता है। अर्थात् जिस समाज में सब लोगों को हर तरह के काम करने की स्वतन्त्रता

है—जिस समाज के लोगों को हर तरह के व्यवसाय करने की आज़ादी है—उन लोगों की तनख़्वाह केवल पारस्परिक स्पर्द्धा (Competition) से ही ठहराई जाती है।

"जब काम कम रहता है और मज़दूर अधिक होते हैं तब मज़दूरी का निर्ख़ घट जाता है और कारख़ाने वालों को बहुत मुनाफ़ा होता है। ऐसी अवस्था में दिन भर मेहनत करने पर भी मज़दूरों को पेट भर खाने को नहीं मिलता। इसीसे वे हड़ताल कर बैठते हैं। प्राचीन समय में इस देश की समाज-रचना भिन्न तत्त्वों पर की गई थी। उस समय यह माना गया था, और अब भी माना जाता है, कि मनुष्य जन्मही से अमुक वर्ण या अमुक जाति का पैदा हुआ है। प्राय: सब व्यवसायियों की भिन्न भिन्न जातियाँ थीं—जैसे कुम्हार, सुनार, लोहार, बढ़ई आदि। चाहे किसी एक जाति के लोगों में स्पर्द्धा होती रही हो; परन्तु एक जाति के लोगों के व्यवसाय मे अन्य जाति के लोग स्वतन्त्रतापूर्वक घुस कर उनसे स्पर्द्धा नहीं कर सकते थे। जब कभी एक जाति का व्यवसायी दूसरी जाति का व्यवसाय करने लगता था, तब लोग उसका हुक्का-पानी बन्द करके उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया करते थे। फल यह होता था कि प्रत्येक जाति के व्यवसायियों के हक़ की पूरी पूरी रक्षा होती थी। जातिभेद या वर्णभेद इस समय किसी कारण से चाहे बुरा माना जाय, तथापि औद्योगिक अथवा आर्थिक दृष्टि से बुरा नहीं कहा जा सकता। जाति और व्यवसाय का सम्बन्ध, आज कल, अँगरेज़ी राज्य में, शिथिल हो रहा है। अब लोग यह समझने लगे हैं कि हर तरह के व्यवसाय करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं। अर्थात् जिस तत्त्व पर पश्चिमी देशों के समाज की रचना की गई है उसी तत्त्व का अवलम्ब इस देश के लोग भी धीरे धीरे कर रहे हैं। यह बात अच्छी है या बुरी, इस पर हम अपनी राय नहीं देना चाहते। परन्तु हम यह अवश्य कहेंगे कि समाज की परिवर्तित स्थिति के अनुसार इस देश के भिन्न भिन्न व्यवसायियों और मज़दूरों को स्पर्द्धा और हड़ताल करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने मुनाफ़े का हिस्सा किसी दूसरे को नहीं देना चाहता। जो पूँजीवाले अपनी पूँजी लगा कर बड़े बड़े व्यवसाय करते

हैं वे यही चाहते हैं कि सब मुनाफ़ा हमीं को मिले; जिन मज़दूरों की मेहनत से उनका व्यवसाय चलता है उन्हें उस मुनाफ़े में से कुछ भी न देना पड़े। इसी को अर्थशास्त्र में पूँजी और श्रम का हित-विरोध कहते हैं"।

अकसर देखा गया है कि जो लोग हड़ताल करते हैं वे हड़ताल करके ही चुप नहीं रहते, किन्तु अपनी जगह पर औरों को काम करने से भी रोकते हैं। या अपने साथियों में से जो हड़ताल नहीं करते उनको भी हड़ताल करने के लिए मजबूर करते हैं। ई० आई० ई० रेलवे के बाबुओं ने अभी उस साल जो हड़ताल किया था उसमें उन्होंने काम पर जानेवाले अपने साथियों से बहुत ही बुरा बरताव किया था। किसी किसी को मारने—नहीं, मार डालने तक की—धमकी दी थी। ड्राइवरों के हड़ताल में तो, सुनते हैं, एक ड्राइवर पर गोली भी चलाई गई थी। हमने काम छोड़ दिया है, तुम भी छोड़ दो, या हमने मिल कर हड़ताल करदी है, तुम हमारी जगह पर काम करने मत जाव—इस तरह की काररवाई सर्वथा अन्यायपूर्ण और क़ानून के खिलाफ़ है। मज़दूरों और श्रमजीवियों को मुनासिब तौर पर हड़ताल करने का अधिकार ज़रूर है, पर दूसरों की स्वतन्त्रता—दूसरों की आज़ादी—छीन लेने का उन्हें ज़रा भी अधिकार नहीं। औरों की आज़ादी में खलल डालने-वाले वे होते कौन हैं? जो ख़ुशी से तुम्हारा साथ दें, या ख़ुशी से तुम्हारी जगह पर काम करने न जायँ, वे वैसा कर सकते हैं। पर उनसे ज़बरदस्ती हड़ताल कराने का किसी को अधिकार नहीं। श्रमजीवियों को अपनी इच्छा के अनुसार काम न करने देने से यह सूचित होता है कि हड़ताल करनेवालों का जो पेशा है उसे करने का हक़ सिर्फ़ इन्हीं को है। यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत है। ऐसा हक़ उनको न क़ानून के रू से मिल सकता है और न किसी और ही उसूल के मुताबिक़। जब एक आदमी दूसरे को अपनी इच्छा के अनुसार काम करने से रोकना शुरू करता है और उसे धमकाता है तब वह दूसरों की स्वाधीनता में हस्ताक्षेप करने का अपराधी होता है—तब वह दूसरों की आज़ादी में मदाख़िलत बेजा करने का जुर्म करता है। हर आदमी को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह ख़ुद मेहनत करने से इन्कार कर दे। पर साथ ही इसके उसका यह भी कर्तव्य है कि जो अपनी इच्छा

के अनुसार काम करने पर राज़ी हों उनके काम में वह ज़रा भी विघ्न न डाले। यदि आदमी बेकार बैठे हैं; और काम करने के लायक़ हैं; और कम उजरत पर हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने को राज़ी हैं; तो हड़ताल वालों के सिवा हर आदमी के लिए यही लाभदायक है कि वे बेकार आदमी काम पर लगा लिये जायँ। अतएव हड़ताल करनेवालों को कभी दूसरों को धमकाना या काम पर जाने से न रोकना चाहिए।

यहां तक जो कुछ लिखा गया मज़दूरों के—श्रमजीवियों के—हड़ताल के विषय में लिखा गया। अब कारख़ानेदारों की भी कैफ़ियत सुनिए। ये लोग हड़ताल की तो हमेशा निन्दा करते हैं; हमेशा कहा करते हैं कि हड़ताल करना अच्छा नहीं; हड़ताल करने वालों की शिकायतें हमेशा बेजड़ हुआ करती हैं; उनकी जितनी शिकायतें वाजबी होती हैं उन्हें हम ख़ुद ही दूर कर देते हैं। परन्तु इनको आप थोड़ा न समझिए। ये भी हमेशा अपनी घात में रहते हैं और आपस में एका करके कभी कभी मज़दूरों को एकबारगी छुड़ा देते हैं। मज़दूरों से अधिक देर तक काम लेने के लिए, या उनकी उजरत कम कर देने के लिए, या और किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सब कारख़ाने वाले एक दिल होकर कभी कभी अपने अपने कारख़ानों के फाटक बन्द कर देते हैं। उनमें ताले लगा कर मज़दूरों को भीतर नहीं धँसने देते। इस कृत्य का अँगरेज़ी नाम है "Lock-out"—अर्थात् द्वारावरोध। ये लोग आपस में मिल कर यह ठहरा लेते हैं कि हमारे व्यवसाय में मज़दूरों को कितनी उजरत देनी चाहिए, या उनसे कितने घंटे काम लेना चाहिए। इसमें वे अपने ही फ़ायदे का ख़याल रखते हैं, मज़दूरों के फ़ायदे का नहीं। इस तरह के द्वारावरोध बहुधा एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाले कारख़ानेदार करते हैं। वे अपने कृतनिश्चय के अनुसार मज़दूरों की उजरत कम करने या उनके घंटे बढ़ाने का नोटिस दे देते हैं, और यदि मज़दूर उनकी बात नहीं मानते, तो एक ही साथ कारख़ानों के फाटक बन्द कर देते हैं। यह बात योरप और अमेरिका में अकसर होती है। जो मज़दूर एक ही तरह के व्यवसाय में लगे रहते हैं उन्हें उसी व्यवसाय के काम का अनुभव रहता है। उसे ही वे अच्छी तरह कर सकते हैं।

और काम वे उतनी योग्यता और फुर्ती से नहीं कर सकते। अतएव यदि वे उस व्यवसाय को छोड़ कर अन्यत्र काम करने की इच्छा भी करें तो उन्हें नातजरिबेकारी के कारण कम उजरत मिले। द्वारावरोध का परिणाम यह होता है कि बेचारे मज़दूरों को अकसर कारख़ानेदारों के चंगुल में फँसना पड़ता है और उनकी सब शर्तें मंज़ूर करनी पड़ती हैं।

यदि न्याय और नीति की दृष्टि से देखा जाय तो कारख़ानेवाले द्वारावरोध के लिए दोषी नहीं ठहराये जा सकते। यदि वे पहले ही से मज़दूरों को नोटिस दे दें कि इतनी उजरत पर इतने घंटे जिसे काम करना हो करे, जिसे न करना हो न करे, तो वे क़ानून की रू से अपराधी नहीं। जैसे मज़दूरों को इस बात का पूरा अधिकार है कि उनकी इच्छा हो काम करें, न हो न करें, वैसे ही कारख़ानेदारों को भी अधिकार है कि जिसे चाहें नौकर रक्खें, जिसे न चाहें न रक्खें। परन्तु यदि दोनों पक्षों में कोई इक़रारनामा हो जाय और उसमें यह तै हो जाय कि अमुक उजरत पर इतने साल तक इतने घंटे काम करना ही चाहिए तो दो में से किसी पक्ष को उसे तोड़ने का अधिकार नहीं। इक़रार की गई मुद्दत गुज़र जाने पर मज़दूर हड़ताल और कारख़ानेदार द्वारावरोध कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। इक़रारनामे की शर्तें यदि बीच ही में तोड़ दी जायँ तो तोड़ने वाला पक्ष क़ानून के अनुसार दण्डनीय हो सकता है।

सम्पत्ति-शास्त्र का सिद्धान्त है कि जहाँ तक हो सके उत्पादन-व्यय बढ़ने न देना चाहिए। मज़दूरों को अधिक उजरत देना मानो उत्पादन-व्यय को बढ़ाना है—उत्पत्ति के ख़र्च को अधिक करना है। अतएव मज़दूरों को जो उजरत मिलती चली आ रही है उसे, बिना प्रबल कारण उपस्थित हुए, बढ़ा देना भी तो बुद्धिमानी का काम नहीं। यदि कारख़ानेदार को सन्देह हो कि जो उजरत दी जा रही है कम नहीं है, तो हड़ताल हो जाने पर इस बात का सहज ही में निश्चय हो सकता है कि कारख़ानेदार का सन्देह सही था या ग़लत। जो उजरत की शरह कम नहीं होती तो हड़ताल करने वालों की जगह पर काम करने के लिए, उतनी ही उजरत पर, उतना ही और उसी तरह अच्छा काम करने वाले और मज़दूर मिल जाते हैं; और

जो कम होती है तो नहीं मिलते, या बहुत थोड़े मिलते हैं। इससे उजरत की शरह के उचित या अनुचित होने की परीक्षा का हड़ताल एक अच्छा साधन है। इस दृष्टि से हड़ताल बुरा नहीं। द्वारावरोध से भी यह बात साबित हो जाती है कि कम उजरत पर काम करने वाले मज़दूर और कारीगर मिल सकते हैं या नहीं।

परन्तु समष्टि रूप से सब बातों का विचार करके यही कहना पड़ता है कि हड़ताल से सम्पत्ति के उत्पादन में बड़ा विघ्न आता है। उससे यदि कभी लाभ होता भी है तो बहुत कम; हानि ही अधिक होती है। अतएव हड़ताल करना निंद्य है। साल में ५२ हफ़्ते होते हैं। यदि ४ हफ़्ते काम बन्द रहे तो १३ भागों में एक भाग चीज़ें कारख़ानों में कम तैयार हों। व्यवहार के जितने पदार्थ हैं सब सम्पत्ति हैं। अतएव इस तरह व्यवहार की सामग्री की उत्पत्ति में कमी होना मानों देश की सम्पत्ति कम होना है। इससे जिस सम्पत्ति-शास्त्र में देश की सम्पत्ति-वृद्धि की इतनी महिमा गाई जाती है वह शास्त्र सम्पत्ति-विनाशक हड़ताल का कदापि अनुमोदन नहीं कर सकता।

उदाहरण के तौर पर, साल में सम्पत्ति का १/१३ अंश क्षय होने पर यदि कहीं श्रमजीवी लोगों की मेहनत के घंटे भी कम कर दिये जायँ तो और भी अधिक धनक्षय होने लगे और कुछ ही समय में देश को बहुत बड़ा धक्का पहुँचे। कल्पना कीजिए कि यहाँ के कारख़ाने साल में ४ हफ़्ते बन्द रहते हैं। बाक़ी ४८ हफ़्ते १० घंटे रोज़ के हिसाब से काम होता है। अब यदि उनमें नौ ही घंटे रोज़ काम हो तो एक दशांश सम्पत्ति और भी कम हो जायगी या नहीं? इतनी सम्पत्ति कम होने पर भी यदि कारख़ानेदारों को पहले से अधिक मज़दूरी देनी पड़ेगी तो व्यवहार की चीज़ें महँगी हुए बिना कदापि न रहेंगी। इसका असर सर्व-साधारण पर ज़रूर ही पड़ेगा। सब को महँगी चीज़ें मोल लेनी पड़ेंगी। मज़दूरों का भी इससे परित्राण न होगा। बहुत संभव है कि जितनी मज़दूरी उन्हें अधिक मिले उसके परिमाण से महँगी का परिमाण अधिक हो जाय। इस दशा में लाभ तो दूर रहा, उलटा उन्हें हानि उठानी पड़ेगी।

व्यावहारिक चीज़ें महँगी होने से बड़ी बड़ी हानियाँ हो सकती हैं। यदि उनकी रफ़्नी विदेश को होती हो तो वे वहाँ प्रतिस्पर्द्धा करने में असमर्थ हो जाती हैं। क्योंकि मज़दूरी अधिक पड़ने के कारण वे चीज़ें और देशों की चीज़ों से सस्ती नहीं बिक सकतीं। परिणाम यह होता है कि उनकी रफ़्नी बन्द हो जाती है; कारख़ाने टूट जाते हैं; या उनमें काम करने वालों की संख्या कम करनी पड़ती है। इससे बहुत से मज़दूर बेकार हो जाते हैं और जो रह जाते हैं उन्हें थोड़ी ही उजरत पर सन्तोष करना पड़ता है।

हड़ताल करने से यदि मज़दूरों की उजरत की शरह बढ़ भी जाय तो भी कभी कभी उन्हें कुछ भी लाभ नहीं होता। कल्पना कीजिए कि एक कारीगर को आठ आने रोज़ मिलता है। उसने भी औरों के साथ हड़ताल किया और १६ रोज़ बेकार बैठा रहा। अर्थात् ८ रुपये की उसने हानि उठाई। अब यदि १६ दिन बाद उसकी उजरत ९ आने रोज़ हो गई तो उसकी ८ रुपये की हानि कोई ४¼ महीने काम करने बाद पूरी होगी। यदि बहुत हड़ताल होने से इस बीच में व्यवहार की चीज़ें महँगी हो जायँ, या किसी कारण से उसे काम छोड़ना पड़े, तो उसकी पूर्व-हानि की कभी पूर्ति न हो सकेगी। अतएव हड़ताल की सफलता से भी उसे कोई लाभ न होगा।

यह देखा गया है कि हड़ताल बहुधा कम सफल होते हैं, निष्फल ही अधिक होते हैं। पश्चिमी देशों मे, जहाँ जीवन संग्राम का झंझट बहुत बढ़ गया है और जहाँ अनन्त कल कारख़ाने जारी हैं, हड़तालों की सफलता के लिए श्रमजीवियों ने बड़े बड़े प्रबन्ध किये हैं। तिसपर भी उन्हें यथेष्ट सफलता बहुत कम होती है। दरिद्र, अशिक्षित और पराधीन भारत में उन उपायों, उन साधनों, उन प्रबन्धों का अभी कहीं सूत्रपात भी नहीं हुआ। इस दशा में यदि यहाँ के हड़ताल निष्फल जायँ तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं।

चौथा परिच्छेद ।

व्यवसाय-समिति ।

पूँजी वालों और श्रमजीवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वे आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध न रक्खें तो दो में से एक का भी काम न चले। परन्तु श्रमजीवी लोगों की अपेक्षा पूँजी वाले कारखानेदार या व्यवसायी धनी होने के कारण बहुत अधिक प्रबल और प्रभुताशाली होते हैं। इसीसे श्रमजीवी मज़दूरों को उनका मुँह ताकना पड़ता है—जितने घंटे वे काम लें करना पड़ता है और जितना वेतन दें मंज़ूर करना पड़ता है। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए पश्चिमी देशों में व्यवसाय-समितियों की स्थापना की गई है।

किसी व्यवसाय-विशेष से सम्बन्ध रखने वाले मज़दूरों और कारीगरों आदि के संगठित समाज का नाम व्यवसाय-समिति है। व्यवसाय-समिति से हमारा मतलब "Trades' Unions" से है। इस तरह के समाज इस देश में शायद एक भी नहीं हैं। पर होने की ज़रूरत है। "चेम्बर आव् कामर्स" नामक व्यवसायियों के समुदाय को यदि इस तरह के समाजों में कोई गिने तो गिन सकता है। कलकत्ते के व्यवसायी मारवाड़ियों का समाज भी कुछ कुछ इसी तरह का है। इस देश में व्यापार-व्यवसाय की अब धीरे धीरे उन्नति हो रही है। अतएव मज़दूरों के हक़ की रक्षा के लिए व्यवसाय-समितियाँ, किसी न किसी दिन, यहाँ भी ज़रूर ही स्थापित होंगी। इस समय तो किसी किसी पेशे से सम्बन्ध रखने वाले चौधरी ही यहाँ अधिक देखे जाते हैं। वही लोग कभी कभी एका कर के अपने पेशे के आदमियों की उजरतें बढ़ाने या पूर्ववत् बनी रखने की कोशिश करते हैं।

फ़्रांस, जर्मनी, इँगलेंड और अमेरिका आदि देशों में व्यवसाय-समितियों का बड़ा ज़ोर है। वहाँ लोहे, लकड़ी, चमड़े, कोयले, कपड़े आदि के व्यवसायों में लगे हुए श्रमजीवियों ने अपनी अपनी समितियाँ बना रक्खी हैं। यहाँ तक कि डाक्टरों, वकीलों और यंजिनियरों तक ने एका करके अपने अपने समाज बना लिये हैं। प्रत्येक व्यवसाय के आदमियों का समाज

अलग अलग होता है । इसके सभासद् होने के लिए पहले कुछ फ़ीस देनी पड़ती है; फिर हर हफ़्ते या हर महीने, हर आदमी को कुछ चन्दा देना पड़ता है । इस तरह की समितियां से मज़दूरों और अन्यान्य श्रमजीवियों को बहुत लाभ होता है । मज़दूर लोग प्रायः अपढ़ होते हैं; क़ायदे क़ानून से वाक़िफ़ नहीं होते । फिर निर्धन होते हैं; इस कारण अपने वाजबी हक़ों को पाने के लिए भी पूँजी वालों से झगड़ा नहीं कर सकते । क्योंकि यदि पूँजी वाले कारख़ानेदार उन्हें काम से छुड़ा दें तो बेचारों को भूखों मरने की नौबत आवे । परन्तु अपने व्यवसाय की समिति का सभासद् हो जाने से ये डर दूर हो जाते हैं । समिति के कार्य्यकर्त्ता सभासदों के हक़ों के लिए पूँजी वालों से बाक़ायदा लड़ते हैं; उनकी उजरत बढ़ाने और काम के घंटों को कम करने की कोशिश करते हैं; और यदि पूँजी वाले श्रमजीवियों की उजरत कम करना चाहें तो वैसा न होने देने के लिए यथाशक्ति उपाय करते हैं । यदि किसी कारण से किसी सभासद् को कुछ दिन बेकार बैठना पड़े, या बीमारी के कारण वह काम पर न जा सके, तो समिति की तरफ़ से उसे एक निश्चित रक़म दी जाती है जिससे उसे खाने कपड़े के लिए मुहताज नहीं होना पड़ता । इसके सिवा यदि किसी सभासद् की मृत्यु हो जाय तो समिति के द्वारा उसके कुटुम्बियों को भी सहायता दी जाती है । व्यवसायसमितियों से मज़दूरों का बहुत उपकार होता है । इँगलेंड में इस तरह के समाजों की प्रसिद्धि विशेष करके इस कारण हुई है कि वे मज़दूरों का वेतन बढ़ाने और उनके काम के घंटे कम कराने का बहुत प्रयत्न करते हैं । पहले वे मज़दूरों की तरफ़ से कारख़ाने वालों के साथ लिखा पढ़ी करके मज़दूरों की शिकायतें दूर कराने का यत्न करते हैं । यदि उनको अपने प्रयत्न में सफलता नहीं होती और वे देखते हैं कि उनकी शिकायतें वाजबी हैं तो वे हड़ताल करा देते हैं । इसी से कारख़ानों के मालिक इस तरह की समितियों को पसन्द नहीं करते । वे उन्हें हमेशा उखाड़ने की फ़िक्र में रहते हैं—हमेशा उनसे द्वेष रखते हैं ।

सभासदों के फ़ायदे के लिए व्यवसाय-समितियाँ और भी बहुत सी बातें करती हैं । समिति के प्रधान कर्म्मचारी यह देखते रहते हैं कि समिति

के सभासदों को कारख़ानों में कोई तकलीफ़ तो नहीं। एक तो सभासद् ख़ुद ही अपनी तकलीफ़ें समिति में बयान करते हैं। परन्तु यदि कोई बात ऐसी हानिकारक होती है जिससे मज़दूरों की हानि तो धीरे धीरे होती है, पर वह फ़ौरन ही उनकी नज़र में नहीं आती, तो समिति के कर्म्मचारी उसे उनको सुझा देते हैं और उसे दूर करने की फ़िक्र करते हैं। किसी किसी कारख़ाने की इमारत ऐसी होती है कि उसके भीतर हवा अच्छी तरह नहीं जाती; अथवा वहाँ इतनी गन्दगी रहती है कि मज़दूरों के बीमार पड़ने का डर रहता है। कहीं कहीं बड़ी बड़ी कलों और यंजिनों पर काम करने वालों की प्राण-रक्षा का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं रहता—उनकी जान जाने का ख़तरा रहता है। समिति के कर्म्मचारी ऐसी ऐसी बातों की ख़बर रखते हैं और कारख़ानेदारों को सूचना देकर, उनसे प्रार्थना करके, और ज़रूरत पड़ने पर लड़ झगड़ कर के भी, मज़दूरों का हितसाधन करते हैं। यदि इस तरह की शिकायतें एक आदमी करे तो उसकी बात शायद ही सुनी जाय। कारख़ानेदार कह देंगे कि तुम्हारे आराम के लिए हम इतना रुपया नहीं ख़र्च करने जाते। तुम्हारा जी चाहे काम करो, न जी चाहे चले जाव। परन्तु समिति को मध्यस्थ करके जब मज़दूरों का सारा समुदाय अपनी शिकायतें दूर कराने पर आमादा हो जाता है तब कारख़ाने वालों को उनकी बात सुननी ही पड़ती है। क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो हड़ताल हो जाने से उनका व्यवसाय ही बन्द हो जाय, या यदि न भी बन्द हो तो काफ़ी मज़दूर न मिलने के कारण उन्हें बहुत बड़ी हानि उठानी पड़े। इस सम्बन्ध में मज़दूरों और समिति के कर्म्मचारियों को यह याद रखना चाहिए कि वे कारख़ानेदारों से कोई ऐसी बात कराने का हठ न करें जो न हो सकती हो, या जिसमें ख़र्च इतना हो जिसे कारख़ानेदार न उठा सकता हो। उनकी दरख़्वास्तें हमेशा वाजिब और मुनासिब होनी चाहिए।

व्यवसाय-समितियों को कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे सर्व-साधारण को हानि पहुँचे। कल्पना कीजिए कि टोपी बनानेवालों ने एका करके एक समिति स्थापित की और अपने सभासदों के लड़कों या कुटुम्बियों को छोड़ कर औरों को टोपी बनाना सिखलाने से इनकार कर दिया।

उसका परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में टोपी बनानेवालों की संख्या कम हो जायगी और टोपियों का दाम चढ़ जायगा। सम्भव है, ये लोग पहले ही से टोपियों का दाम बढ़ा दें। इस दशा मे इन लोगों को ज़रूर फ़ायदा होगा, पर सर्वसाधारण के ऊपर एक प्रकार का टिकस सा लग जायगा। टोपियाँ मोल लेने में जितनी क़ीमत उन्हें अधिक देनी पड़ेगी उतना मानो उन्हें टिकस देना पड़ा। इसी तरह यदि दरज़ी, मोची, लुहार, बढ़ई सभी एका करके अपने अपने पेशे के आदमियों की संख्या परिमित कर दें तो सब चीज़ें महँगी हो जायँ और सर्व-साधारण को सिर्फ़ कुछ पेशेवालों के लाभ के लिए व्यर्थ हानि उठानी पड़े। इस तरह का एका अच्छा नहीं। वह स्वार्थपरता से भरा हुआ है। अतएव ऐसी बातों को क़ानून के रू से गवर्नमेंट को रोक देना चाहिए।

परन्तु मज़दूरों की उचित शिकायतों को दूर कराने और उन्हें उनके उचित हक़ दिलाने के लिए व्यवसाय-समितियों का होना बहुत ज़रूरी है। इस देश में भी प्रेसमैन, कम्पाज़िटर, चिट्ठीरसां, तारबाबू, स्टेशनमास्टर, ख़लासी, पुतलीघरों और अन्यान्य कारख़ानों के मज़दूर आदि लोगों को ज़रूर ऐसे ऐसे समाज स्थापित करना चाहिए। उनके द्वारा उन्हें इस बात की जाँच करनी चाहिए कि उनके हक़ उन्हें मिलते हैं या नहीं। यदि बिना इस तरह की समितियों के आज कल कोई हड़ताल करेगा तो सफलता की बहुत कम सम्भावना है। हड़तालों की सफलता के लिए सब लोगों की सहायता और सहानुभूति की बड़ी ज़रूरत है।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

व्यवसायियों और श्रमजीवियों के हितविरोध-नाशक उपाय ।

पण्डित माधवराव सप्रे, बी० ए०, ने अपने एक अप्रकाशित लेख में इस विषय को थोड़े में बहुत अच्छी तरह लिखा है। पण्डितजी की अनुमति से उसीका भावार्थ हम यहाँ पर देते हैं।

नीति की दृष्टि से देखा जाय तो जिस तरह कारख़ाने के मालिकों का एका न्याय्य है उसी तरह मज़दूरों का एका भी न्याय्य है । परन्तु सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से मज़दूरों और कारख़ानेदारों का पारस्परिक हितविरोध अच्छा नहीं । ऐसे हितविरोध से सम्पत्ति के उत्पादन में बाधा आती है और देश की बड़ी हानि होती है । इस हानि से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि यह हितविरोध दूर कर दिया जाय । क्योंकि जब तक विरोध का नाश न होगा तब तक मज़दूर अधिक उजरत पाने के लिए हड़ताल, और कारख़ानेदार उजरत घटाने के लिए द्वारावरोध, करते ही रहेंगे ।

मज़दूरों की मेहनत ही से बड़े बड़े कारख़ाने चलते हैं । पर उन्हें मज़-दूरी के सिवा और कुछ नहीं मिलता । कारख़ानों की बदौलत सम्पत्ति की जो वृद्धि होती है और उससे कारख़ाने वालों को जो मुनाफ़ा होता है उसका कुछ भी अंश मज़दूरों को नहीं मिलता । पूँजीवाले कारख़ानेदार सारा मुनाफ़ा ख़ुदही ले जाते हैं । वे सिर्फ़ अपने फ़ायदे की तरफ़ देखते हैं; मज़-दूरों के फ़ायदे की कुछ परवा नहीं करते । इससे मज़दूरों का उत्साह भंग हो जाता है और विरोध का बीज अंकुरित हो उठता है । इस विरोध को दूर करने के लिए योरप और अमेरिका में बहुत से उपाय किये गये हैं । ये उपाय उस उद्देश से किये गये हैं जिस में मालिक और मज़दूरों को इस बात का विश्वास रहे कि हम दोनों का हित एक सा है । कारख़ाने को लाभ होने से हमें भी लाभ होगा, और हानि होने से हमें भी हानि होगी । यह बात तभी होगी जब मज़दूरों को मज़दूरी के सिवा और भी कुछ मिलेगा । अर्थात् यदि मुनाफ़े का कुछ अंश उन्हें भी दिये जाने की तजवीज़ कर दी जायगी तो मज़दूरों को विश्वास हो जायगा कि कारख़ाने के मालिक को लाभ होने से हमें भी लाभ होगा । इससे उनका उत्साह बढ़ जायगा । पहले की अपेक्षा अपना काम वे अधिक मुस्तैदी और ईमानदारी से करेंगे; और फिर कभी हड़ताल करने का ख़याल भी उनको न होगा । जिन उपायों से योरप और अमेरिका वालों ने इस बात में सफलता प्राप्त की है, और जिनके अवलम्बन की हिन्दुस्तान के व्यवसायियों को भी बड़ी ज़रूरत है, उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है ।

मुनाफ़े का बाँटा जाना।

कारख़ाने के मालिक और मज़दूर कभी कभी आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फ़ी सदी अमुक मुनाफ़े से जितना मुनाफ़ा अधिक होगा वह ; या उसका अमुक अंश, मज़दूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मज़दूरों का उत्साह बढ़ जाता है। वे ख़ूब दिल लगा कर काम करते हैं और कारख़ाने की हर एक चीज़ और हर एक औज़ार को अपना ही समझ कर उसका दुरुपयोग नहीं करते। इससे उनकी मेहनत अधिक उत्पादक हो जाती है और कारख़ाने का ख़र्च भी किसी क़दर कम हो जाता है। परिणाम यह होता है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति बढ़ जाती है और पहले से अधिक मुनाफ़ा होता है। इस दशा में मामूली मुनाफ़े से जितना मुनाफ़ा अधिक हुआ है वह यदि मज़दूरों को बाँट दिया जाय तो कारख़ानेदार की कोई हानि नहीं। उसे तो जितना मुनाफ़ा मिलना चाहिए मिल गया। यह जो अधिक मुनाफ़ा हुआ है वह मज़दूरों ही की मिहनत का फल है, मालिक के पुरुषार्थ का नहीं। मालिक इसका भी कुछ अंश ले सकता है। यह बात भी मज़दूर मंज़ूर कर सकते हैं। पर यदि सारा मुनाफ़ा मालिक ही ले जाय तो मज़दूर लोग कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। मुनाफ़ा बाँट कर मज़दूरों को उत्साहित करने में कारख़ानेदार का भी लाभ है और मज़दूरों का भी।

किसी किसी का यह ख़याल है कि मज़दूरों को मुनाफ़े का हिस्सा देने से पूँजी लगाने वाले व्यवसायियों का मुनाफ़ा कम हो जाता है। इससे उन्हें हानि पहुँचती है। यथार्थ में यह बहुत बड़ी भूल है। अपनी पूँजी पर मामूली मुनाफ़ा ले लेने के बाद जो बचे उसे पूँजीवाले यदि मज़दूरों को बाँट दें तो उन्हें अपने घर से कुछ भी नहीं देना पड़ता। फिर हानि कैसी? जो मुनाफ़ा शेष रहता है वह मज़दूरों के अधिक दिल लगा कर काम करने का फल है। उसे मज़दूरों को ही देना चाहिए। वह उन्हीं का हिस्सा है। उसे उन्हीं को देना न्याय्य है। इससे पूँजी वालों की हानि तो होती नहीं उलटा उनका और मज़दूरों का सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है—दोनों का हित-विरोध दूर हो जाता है।

इस उपाय से लाभ उठाने के योरप में अनेक उदाहरण हैं । उनमें से पेरिस ऐंड आरलियन्स नामक रेलवे कम्पनी का उदाहरण ध्यान में रखने लायक़ है । १८४४ ईसवी मे उसने यह निश्चय किया कि अपनी पूँजी पर फ़ी सदी ८ मुनाफ़ा लेकर जो कुछ बचेगा वह कम्पनी के नौकरों को बांट दिया जायगा । इस निश्चय के कारण उसके नौकरों ने इतनी ईमानदारी से काम किया कि १८४४ से १८८३ ईसवी तक, अर्थात् ३९ वर्ष में, ३,८७,५०,६७० रुपये मुनाफ़ा उस कम्पनी के नौकरों को बांटा गया । ३९ वर्ष में कोई ४ करोड़ रुपये की अधिक आमदनी हुई ! यह सिर्फ़ नौकरों के दिल लगा कर काम करने का फल था । इससे उस कम्पनी के मालिकों और नौकरों के हित-विरोध का एकदम नाश हो गया और कम्पनी को इतना लाभ हुआ कि इस समय यह कम्पनी बड़ी धनवान् और बड़ी प्रतिपत्ति-शालिनी गिनी जाती है ।

एक और उदाहरण लीजिए । पेरिस में मेशन लेकलेयर नाम की एक कम्पनी है । उसका काम मकान सजाने का है । इस कम्पनी को एम० लेक्लेयर नाम के एक अल्पवयस्क आदमी ने खड़ा किया था । जाति का वह मोची था । लड़कपन में वह सिर्फ़ सवा दो रुपये रोज़ की मज़दूरी करता था । पर वह बड़ा मेहनती, बुद्धिमान् और दूरन्देश था । बहुत जल्द उसने अपने नाम से कम्पनी खड़ा कर दी । १८४० ईसवी में ३०० आदमी उसके कारख़ाने में काम करते थे । उनकी सुस्ती और लापरवाही से उसे बहुत हानि होती थी । इससे वह उन लोगों की मेहनत को अधिक उत्पादक करने के उपाय सोचने लगा । उसने सोचा कि यदि मेरे कारख़ाने के मज़दूरों को मामूली मज़दूरी के सिवा कुछ और लाभ हो तो वे लोग अधिक दिल लगा कर और अधिक होशियारी से काम करें । उसने हिसाब लगा कर देखा तो मालूम हुआ कि यदि हर मज़दूर दिल लगा कर काम करे तो एक दिन में, काम के घण्टे न बढ़ाने पर भी, वह ६ आने का काम अधिक करेगा । और यदि हर मज़दूर कारख़ाने के औज़ारों तथा अन्यान्य चीज़ों को होशियारी से काम में लावे—उन्हें व्यर्थ ख़राब न करे—तो एक दिन में ढाई आने की बचत और होगी । तब उसने एक दिन सब मज़दूरों को इकट्ठा किया

और उनसे कहा कि यदि तुम लोग दिल लगाकर मेहनत करो, और कारख़ाने की चीज़ वस्तु को सावधानता से काम में लावो, तो तुम में से हर आदमी को मामूली मज़दूरी के सिवा साढ़े आठ आने रोज़ और मिलें। अतएव जिसे अधिक कमाने की इच्छा हो वह ख़ूब उत्साहपूर्वक मन लगा कर काम करे। यह कह कर उसने उन ४४ आदमियों का हिस्सा, जिन्होंने गत वर्ष अच्छा काम किया था, उसी दम बाँट दिया। इससे मज़दूरों का उत्साह बढ़ गया। उन्होंने ख़ूब दिल लगाकर काम करना शुरू किया। फल यह हुआ कि उन्हें ख़ूब लाभ होने लगा।

कुछ दिनों बाद लेक्लेयर ने अपने मज़दूरों को भी कारख़ाने का साझीदार बना लिया। उनसे भी थोड़ी थोड़ी पूँजी लेकर अपनी पूँजी में शामिल कर लिया। इससे और भी अधिक मुनाफ़ा होने लगा। लेक्लेयर और मज़दूर दोनों मालामाल हो गये। १८७२ ईसवी में लेक्लेयर की मृत्यु हो गई; पर उसने अपनी कम्पनी का प्रबन्ध ऐसी अच्छी तरह से कर दिया था कि उसके मरने पर भी उसका कारख़ाना पूर्ववत् चल रहा है। १८७२ ईसवी में इस कम्पनी की जायदाद १२,००,००० रुपये की थी। इसके दस वर्ष बाद, १८८२ ईसवी में, वह बढ़ कर १८,८३,७०८ रुपये की हो गई। १८४५ से १८८२ तक सब मिला कर १७ लाख ५५ हज़ार रुपया मुनाफ़ा मज़-दूरों को बाँटा गया! इस समय यह कम्पनी और भी अधिक उन्नति पर है। ये उदाहरण कुछ पुराने हैं और फासेट की सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक अँगरेज़ी पुस्तक से लिये गये हैं। इनके बाद योरप और अमेरिका में इस तरह के सैकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं जिनमें मज़दूरों को मुनाफ़े का कुछ हिस्सा देने के कारण, मालिकों और मज़दूरों, दोनों, को अनन्त लाभ हुआ है। इससे सिद्ध है कि मज़दूरों और कारख़ाने के मालिकों के हित-विरोध को दूर करने के लिए यह उपाय बहुत ही अच्छा है।

मज़दूरों को मुनाफ़े का कुछ हिस्सा देना लाभदायक ज़रूर है; परन्तु उससे भी पूँजी और श्रम की पूरी पूरी एकता नहीं होती। क्योंकि जब किसी व्यवसाय में बहुत मुनाफ़ा होने लगता है तब लालची पूँजीवाले अपने मज़दूरों को उस मुनाफ़े का काफ़ी हिस्सा नहीं देते। इससे मालिक

श्रौर मज़दूरों में फिर हित-विरोध पैदा हो जाता है। परिणाम यह होता है कि कारोबार में फिर हानि होने लगती है। अतएव समझदार व्यवसायियों ने इस न्यूनता को भी दूर करने का एक उपाय निकाला है। उसे साझा या शराकत कहते हैं।

साझा।

किसी किसी कारख़ाने या कारोबार के मालिक अपने मज़दूरों से भी थोड़ी थोड़ी पूँजी लेकर अपने व्यवसाय में लगाते हैं। अर्थात् उन्हें अपना साझी कर लेते हैं। ऐसा करने से मालिक और मज़दूर दोनों को बराबर हानि-लाभ उठाना पड़ता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध ख़ूब दृढ़ हो जाता है। मज़दूरों को विश्वास हो जाता है कि यदि वे जी लगाकर ईमानदारी से काम करेंगे तो उन्हें भी लाभ होगा। और यदि न करेंगे तो जो हानि होगी उसे उनको भी भुगतना पड़ेगा।

विलायत में एक जगह हालिफैक्स है। वहाँ क्रासले नाम की एक कम्पनी है। उसने दरियाँ बुनने का एक कारख़ाना खोल रक्खा है। उसमें इसी साझेदारी के तत्त्वों के अनुसार काम होता है। अर्थात् उस कारख़ाने में मज़दूरों की भी पूँजी लगी हुई है। इस कम्पनी का काम-काज ख़ूब अच्छी तरह चल रहा है। न कोई झगड़ा होता है, न फ़िसाद। न कभी हड़ताल की नौबत आती है, न द्वारावरोध की। मज़दूर ख़ूब जी लगा कर काम करते हैं और मनमाना फ़ायदा उठाते हैं।

एक और उदाहरण लीजिए। इँगलेंड में ब्रिग्ज़ नाम की एक कम्पनी कोयले की खानों का काम करती है। मज़दूरी के सम्बन्ध में इस कम्पनी के मालिकों और मज़दूरों में बहुत दिन तक झगड़े होते रहे। मज़दूर बार बार हड़ताल करके कम्पनी को हानि पहुँचाया करते थे। इससे ऊब कर कम्पनी ने अपना कारोबार बन्द कर देने का इरादा किया। परन्तु मालिकों ने फिर सोचा कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं जिससे हमारा और मज़दूरों का हित-विरोध दूर हो जाय। इस पर साझे की बात उनके ध्यान में आई। उन्होंने खान में काम करनेवाले मज़दूरों से भी थोड़ी थोड़ी पूँजी

लेकर उस संयुक्त मूल धन से एक बाक़ायदा कम्पनी खड़ी की। कम्पनी की पूँजी ६००० हिस्सों में बाँटी गई। उनमें से ३००० हिस्से मज़दूरों ने लिये। इससे श्रम और पूँजी की एकता हो गई। पूँजी पर फ़ी सैकड़े दस मुनाफ़ा काट कर जो रक़म बचती उसका आधा मज़दूरों को, इनाम के तौर पर, बाँट दिया जाने लगा। इससे इस कम्पनी का कारोबार ख़ूब चमक उठा। सब झगड़े बखेड़े दूर हो गये। परन्तु कुछ दिन बाद, जब कम्पनी को बहुत फ़ायदा होने लगा तब लालच में आकर मालिकों ने एक विवाद खड़ा कर दिया। वे इस बात का विचार करने लगे कि कम्पनी में मज़दूरों के कितने हिस्से होने चाहिए; पूँजी पर फ़ी सैकड़ा कितना मुनाफ़ा लेना चाहिए; और मज़दूरों को कितना इनाम देना चाहिए, इत्यादि। इस विचार में मालिकों ने मज़दूरों के लाभ की तरफ़ कम ध्यान दिया, अपने लाभ की तरफ़ अधिक। इससे मज़दूर असन्तुष्ट हो गये और कारोबार में फिर घाटा होने लगा।

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि जब तक पूँजी वालों और मज़दूरों के पारस्परिक हित-विरोध का नाश न हो जायगा तब तक झगड़े फ़िसाद हुआ ही करेंगे। उन्हें दूर करने के लिए एकता का होना बहुत ज़रूरी है। वे तभी दूर होंगे जब मज़दूरों को भी मुनाफ़े का काफ़ी अंश मिलेगा। यदि कहीं मज़दूर ही पूँजीवाले भी हो जायँ तो इस झगड़े और इस हित-विरोध का समूल ही नाश हो जाय। यह संभव है। संभव ही क्यों, कहीं कहीं इस तत्त्व पर बड़े बड़े व्यापार-व्यवसाय हो भी रहे हैं।

सहोद्योग।

जब किसी व्यवसाय में लगी हुई सब पूँजी उस व्यवसाय में श्रम करने वाले मज़दूरों या अन्य लोगों ही की होती है तब उसे सहोद्योग कहते हैं। इस रीति से व्यापार-व्यवसाय करने में किसी तरह का हित-विरोध नहीं होता। इससे सम्पत्ति की उत्पत्ति और उसके विभाग में बहुत लाभ होता है। अर्थ-विभाग में तो लोगों ने इस रीति का बहुत अधिक उपयोग किया है। योरप और अमेरिका में कितने ही बड़े बड़े व्यापार-व्यवसाय इसी रीति

के अनुसार होते हैं । परन्तु अर्थोत्पादन, अर्थात् सम्पत्ति की उत्पत्ति, के सम्बन्ध में इस रीति का उतना उपयोग नहीं किया गया । आशा है कि मनुष्य-समाज जैसे जैसे सुशिक्षित और सभ्य होता जायगा वैसे ही वैसे इस तत्त्व का महत्त्व अधिकाधिक लोगों के ध्यान में आता जायगा ।

खेती के व्यवसाय में सहोद्योग के नियमों के अनुसार काम करने से बहुत लाभ हो सकता है । क्योंकि जितने किसान होते हैं प्राय: अपढ़ और अल्पज्ञ होते हैं । यदि उन लोगों में शिक्षा का प्रचार हो जाय और सहोद्योग के लाभ उनके ध्यान में आ जायँ तो इस रीति से वे ज़रूर लाभ उठावें ।

विलायत में एक जगह राकडेल है । वहाँ सूती कपड़े की एक "मिल" है । वह सहोद्योग के नियमानुसार चलाई जाती है । उसमें लगी हुई सारी पूँजी मज़दूरों ही की है । पूँजी पर फ़ी सदी ५ सूद काट कर जो रक़म बचती है उसके दो हिस्से किये जाते हैं । एक हिस्सा पूँजी के हिस्सेदारों को बतौर मुनाफ़े के बाँट दिया जाता है और दूसरा हिस्सा मज़दूरों को मिलता है । उसे वे लोग बांट लेते हैं । इँगलेंड की अपेक्षा फ्रांस में सहोद्योग की रीति से व्यापार-व्यवसाय करने की चाल अधिक है । वहाँ कपड़ा सीने, ऐनक बनाने, घड़ी बनाने आदि के काम के सिवा लोहार, बढ़ई "मेसन" आदि के काम भी इसी रीति के अनुसार होते हैं । इस रीति में एक दोष भी है । वह यह कि इसमें मनसूबेबाज़ी से कभी कभी हानि हो जाती है । अतएव जिस व्यवसाय में मनसूबेबाज़ी अधिक करनी पड़ती हो उसमें इस रीति का अनुसरण बड़ी सावधानता से करना चाहिए ।

अर्थोत्पादन के व्यवसायों की अपेक्षा अर्थ-विभाग के व्यवसायों में इस रीति के अवलम्बन से अधिक लाभ होता है । योरप के व्यवसायियों ने अर्थ-विभाग के कामों में सहोद्योग के तत्त्व का अनेक तरह से उपयोग किया है । कहीं कहीं तो शुद्ध सहोद्योग के तत्त्व का अवलम्बन किया गया है, कहीं कहीं नहीं । उदाहरण के लिए, कुछ आदमी मिल कर दूकान करना विशुद्ध सहोद्योग नहीं है । इसे सहोद्योग-जात दुकानदारी कहना चाहिए । इसमें पूँजीवालों और मेहनती मज़दूरों की एकता के बदले दुकान के मालिक और ग्राहकों में धन-सम्बन्धी एकता होती है । इस तरह की दुकानों की

पूँजी किसी एक आदमी की नहीं होती। पूँजी के हिस्से कर दिये जाते हैं। जो लोग उन हिस्सों को लेते हैं वही हिस्सेदार उनके मालिक होते हैं। उन सब की तरफ़ से कुल हिस्सेदार या और लोग भी, जिनका ऐसी दुकानों से कोई सरोकार नहीं होता, उनके व्यवस्थापक और कार्य्यकर्त्ता होते हैं। ऐसी दुकानों में बेचने के लिए जो माल रक्खा जाता है वह किसी बड़े कारख़ाने से थोक भाव पर ले लिया जाता है और फुटकर भाव से नक़द दाम लेकर बेचा जाता है। उधार का व्यवहार वहाँ बिलकुल नहीं होता। इससे बहुत लाभ होता है। एक निश्चित समय पर मुनाफ़े का हिसाब लगाया जाता है और लगी हुई पूँजी का ५ फ़ी सदी के हिसाब से सूद काट कर बाक़ी मुनाफ़ा सब ग्राहकों को बाँट दिया जाता है। उस मुद्दत में जिस ग्राहक ने जितने का माल लिया होता है उतने पर उसे मुनाफ़े का हिस्सा मिलता है। इस तरह की दुकानें यद्यपि नाम मात्र के लिए सहकारी या सहोद्योग-जात होती हैं, तथापि उनसे व्यापार में बहुत लाभ होता है। इस तरह की एक सबसे पुरानी और प्रसिद्ध दुकान राकडेल में है। उसका नाम "राकडेल पायोनियर्स सोसाइटी" है। १८४४ ईसवी में कुछ मज़दूरों ने चन्दा करके उसे खोला था। उस समय इस दुकान की पूँजी १०० रुपये भी नहीं थी। पर ३८ वर्ष बाद, १८८२ ईसवी में, इसका लेन देन ४१ लाख रुपये से भी अधिक हो गया। यथार्थ में इस तरह की दुकानों को संयुक्त मूल धन से स्थापित की गई एक प्रकार की कम्पनियाँ ही कहना चाहिए, जो नक़द लेन देन करके ग्राहकों को मुनाफ़े का हिस्सा देती हैं। यही कारण है जो इस तरह की दुकानों से बहुत जल्द इतना लाभ होता है। थोक बिक्री के लिए भी इस तरह की दुकानें खोली जा सकती हैं।

इँगलेंड और जर्मनी आदि देशों में सहोद्योग-जात बैंक भी खोले गये हैं। इनसे भी बहुत लाभ होता है। हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट ने कुछ समय से "को-आपरेटिव क्रेडिट सोसायटीज़" (Co-operative Credit Societies) नामक बैंक यहाँ भी खोलने की कृपा की है। यदि ये बैंक अच्छी तरह चलाये जायँ तो ग़रीब किसानों को थोड़े सूद पर रुपया उधार मिल सके

और फ़ी सदी तीस तीस रुपया वार्षिक ब्याज से भी अधिक ब्याज लेने-वाले महाजनों के चंगुल से वे बच जायँ।

हित-विरोध—नाश के जो उपाय योरप और अमेरिका में किये गये हैं उनसे पूँजीवालों और मज़दूरों दोनों को लाभ हुआ है और बराबर होता जाता है। इन्हीं उपायों का अवलम्बन हमारे देश में भी होना चाहिए। आशा है, जैसे जैसे शिक्षा का प्रचार बढ़ता जायगा और जैसे जैसे सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वैसे वैसे उद्योग-धन्धे की सफलता के उपाय भी समझ में आते जायँगे और वैसे ही वैसे सहोद्योग के नियमों के अनुसार व्यापार-व्यवसाय करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति भी अधिक होती जायगी।

दूसरा भाग।

साख, बैंकिंग और बीमा।

पहला परिच्छेद।

साख।
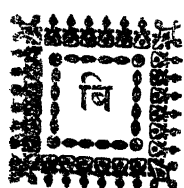
बिना एक दूसरे का विश्वास किये संसार में यों भी किसी का काम नहीं चल सकता। पर व्यापार-व्यवसाय में तो इसकी बड़ी ही ज़रूरत रहती है। बाज़ार में जिसका विश्वास नहीं—जिसकी साख नहीं—उसका कुछ भी नहीं। अँगरेज़ी में एक शब्द "क्रेडिट" (Credit) है। हिन्दी-शब्द साख और संस्कृत-शब्द विश्वास उसी के भावार्थ का बोधक है। साख शब्द का यदि स्पष्टीकरण किया जाय तो उसका मतलब उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य हो सकता है। जिस व्यवसायी की साख अच्छी है, अर्थात् उधार लिये गये रुपये को वादे पर दे देने का लोग जिसका विश्वास करते हैं, उसी को क़र्ज़ मिल सकता है—उसी को बिना नक़द रुपया दिये माल भी मिल सकता है। जब रामदास अपना माल इस उम्मेद पर कृष्णदास को देता है कि वह उसे वादे पर लौटा देगा, या उसकी क़ीमत दे देगा, तो हम कह सकते हैं कि रामदास, कृष्णदास का विश्वास करता है—वह उसकी साख मानता है। आजकल कभी कभी इस विश्वास के पीछे लोगों को धोखा भी खाना पड़ता है; उनका माल या रुपया मारा भी जाता है; वह वसूल नहीं होता। तथापि इस तरह के धोखों से साख के अर्थ में बाधा नहीं आती। असभ्य और अशिक्षित देशों में ख़ास ख़ास चीज़ों के ख़याल से साख मानी जाती है। पर सभ्य और शिक्षित देशों में उधार के लेन-देन में रुपया ही की साख मानी जाती है। कल्पना कीजिए कि किसी सभ्य देश में किसी को

एक घोड़ा लेना है । परन्तु उसके पास रुपया नहीं है । इससे वह किसी रुपये वाले के पास जायगा । यदि रुपये वाला उसकी साख मानेगा तो घोड़ा लेने के लिए उसे काफ़ी रुपया दे देगा । अथवा यदि घोड़े वाले ही को उस आदमी का विश्वास होगा तो वही उसे घोड़ा दे देगा और उसकी क़ीमत के बराबर रुपये का उसे क़र्ज़दार बना लेगा ।

जिस आदमी की साख नहीं उसे पहले तो उधार मिलता नहीं, और यदि मिलता भी है तो ब्याज बहुत देना पड़ता है । क्योंकि उधार देनेवालों को इस बात का सन्देह रहता है कि हमारा रुपया वापस मिलेगा या नहीं । यह सन्देह जितना ही अधिक होता है ब्याज भी उतना ही अधिक देना पड़ता है । इसीसे व्यापारियों और व्यवसायियों के लिए साख एक अनमोल धन समझना चाहिए । उनके लिए साख एक तरह की बहुत बड़ी पूँजी है । सुयोग उपस्थित होने पर, साख को व्यवहार में लाने से. वह पूँजी से भी अधिक काम कर जाती है । इसी से व्यवसाय में साख की इतनी महिमा है । जब कोई व्यवसायी अपनी साख के बल पर माल ख़रीद करता है तब उस माल पर उसका पूरा स्वत्व—पूरा अधिकार—हो जाता है । नक़्द रुपया देकर उसे ख़रीद करने से जिस तरह वह उसका व्यवहार कर सकता, या उसे बेच-ख़र्च सकता, ठीक उसी तरह उधार लेकर भी वह उसका व्यवहार कर सकता है और उसे बेच-ख़र्च भी सकता है ।

मसल मशहूर है कि—"लाख जाय, पर साख न जाय" । जिनकी साख है उन्हें यथेष्ट माल और रुपया मिल सकता है । बहुत आदमियों के पास रुपया होता है, पर वे बनिज-व्यापार नहीं कर सकते । औरतें, बच्चे, बुड्ढे यदि मालदार भी हुए तो भी वे कोई कारोबार अच्छी तरह नहीं कर सकते । यदि उन्हें ऐसे आदमी मिल जायँ जिनकी साख हो, तो वे अपना रुपया उन्हें थोड़े ब्याज पर दे देते हैं । इस से उनका रुपया भी नहीं डूबता और फ़ायदा भी होता है । उधर जो आदमी रुपया लेता है वह उससे व्यापार-व्यवसाय करके ख़ुद भी फ़ायदा उठाता है और देश की सम्पत्ति को भी बढ़ाता है । कितने ही आदमी ऐसे होते हैं जो अनेक तरह

के कारोबार कर सकते हैं, पर रुपया पास न होने से बेचारे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। जिनके पास माल मत्ता है, जायदाद है, गहना-गुरिया है उन्हें उधार रुपया मिल भी सकता है। परन्तु जिनके पास ये चीज़ें नहीं हैं वे तभी रुपया पैसा उधार पाते हैं जब उनकी साख होती है।

दूसरे का मूल धन व्यवहार करने ही का नाम उधार लेना है। धनी जिस धन का व्यवहार नहीं कर सकता और लोग उधार लेकर उसका व्यवहार करते हैं—हाँ उधार लेते समय उन्हें इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि उस मूल धन को वे लौटा देंगे। धनी अपने मूल धन का सिर्फ़ सूद पाता है। जो आदमी उस धन का व्यवहार करता है सारा लाभ वही ले जाता है। गोपाल से यदि गोविन्द उधार ले तो उधार लिये गये धन से गोविन्द ही के कारोबार में सुभीता होगा, गोपाल के कारोबार में नहीं। उस मूल धन पर गोपाल का हक़ ज़रूर बना रहेगा, पर उसे वह अपने काम-काज में न लगा सकेगा; उसे सिर्फ़ उसके व्याज से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा।

कई तरह से उधार दिया जाता है। अथवा यों कहिए कि कई तरह से साख या विश्वास किया जाता है। कभी कभी ऐसा होता है कि जो आदमी उधार लेना चाहता है वह अपने किसी रिश्तेदार या दोस्त के पास जाता है और वह उसका विश्वास करके रुपया दे देता है। कभी कभी कोई चीज़ रेहन रख कर रुपया उधार लिया जाता है। कल्पना कीजिए कि देवदत्त ने एक बँगला बनवाया। कुछ दिन बाद उसे रुपये की ज़रूरत हुई। उसने यज्ञदत्त से रुपया लेकर एक दस्तावेज़ लिख दी कि यदि मैं दस्तावेज़ में लिखी गई मुद्दत के भीतर रुपया न अदा करदूँ तो यज्ञदत्त बँगले को बेच कर रुपया वसूल कर ले। बहुत से बैंक ऐसे हैं जो इसी तरह लोगों की जायदाद रेहन रख कर उन्हें रुपया उधार देते हैं। जो जायदाद या जो चीज़ इस तरह रेहन करदी जाती है उसका मालिक उन्हें न समझना चाहिए जिन्होंने उसे रेहन करके रुपया लिया है। नहीं, उसके मालिक वे हैं जिन्होंने रुपया उधार दिया है। रेहन की गई चीज या जायदाद से, यदि, बेचने पर, उधार दिये गये रुपये से अधिक रुपया वसूल होने की उम्मेद होती है तो

सूद कम देना पड़ता है। अन्यथा ज़ियादह देना पड़ता है। जिस चीज़ या जिस जायदाद की जितनी क़ीमत कूती जाती है उससे कम ही रुपया उधार मिलता है। यदि कोई एक हज़ार रुपये की लागत का मकान किसी के यहाँ रेहन करेगा तो बहुधा उसे आधे रुपये से अधिक उधार न मिलेगा।

जिसकी साख जितनी ही अधिक होती है उसे उतनाही कम ब्याज पर उधार मिलता है। जैसे आदमियों को उधार लेना पड़ता है वैसेही राजाओं या देशों को भी लेना पड़ता है। यद्यपि इँगलेंड इतना प्रबल राज्य है और यद्यपि वहाँ अनन्त धन है तथापि उसे भी राजकीय कामों के लिए कभी कभी रुपया उधार लेना पड़ता है। देशों का भी हाल व्यक्तियों का ऐसा है। किसी देश की साख कम है, किसी की अधिक। आज कल जापान की चढ़ती कला है। उसका बड़ा दौर दौरा है; उसकी साख बहुत बढ़ी चढ़ी है। इसी से रूस-जापान युद्ध के समय जापान को इँगलेंड और अमेरिका से जो क़र्ज़ लेना पड़ा वह बहुतही थोड़े सूद पर मिल गया। यही नहीं, किन्तु उसे जितना रुपया दरकार था उससे दूना, तिगुना तक देने को लोग तैयार हो गये। पर रूस की साख कम होने के कारण उसे फ़्रांस से जापान की अपेक्षा अधिक सूद पर रुपया मिला; तिस पर भी बड़ी मुश्किल से राम राम करके काफ़ी रुपया इकट्ठा हो सका। टर्की की साख बहुत ही कम है। उसे किसी समय फ़ी सदी बारह के हिसाब से सूद देना पड़ता था। पर अब कुछ समय से उसकी साख बढ़ी है। इँगलेंड की साख इतनी अधिक है कि उसे फ़ी सदी तीन से भी कम शरह पर उधार मिल सकता है। मतलब यह कि जो देश उधार ली हुई रक़म को लौटाने और उसके सूद को यथा-समय चुकाने की जितनी ही अधिक शक्ति रखता है उसे उतनाही कम सूद देना पड़ता है। उधार देनेवालों को जब इस बात का विश्वास हो जाता है कि हमारी रक़म न डूबेगी और हमें सूद भी बराबर मिलता जायगा तब वे थोड़ेही सूद पर रुपया देने को राज़ी हो जाते हैं। और भी कई बातों का असर राजकीय क़र्ज़ के सूद की शरह पर पड़ता है। पर उन सबका उल्लेख इस छोटी सी पुस्तक में नहीं हो सकता।

अच्छा अब व्यापार-व्यवसाय के सम्बन्ध में साख का विचार कीजिए। साख होने से उधार रुपया मिल सकता है और उधार रुपया मिलने से अधिक माल ख़रीदने में सुभीता होता है। जब व्यवसायियों को यह मालूम हो जाता है कि किसी चीज़ का भाव चढ़जाने की शङ्का है तब वे उसे पहले ही से ख़रीदने लग जाते हैं। उनके पास जो नक़्द रुपया होता है उस से वे अपेक्षित माल ख़रीद लेते हैं। इसके सिवा वे अपनी साख के बल पर भी बहुत सा माल ख़रीदते हैं। इस से उस चीज़ की आमदनी बढ़ जाती है। जो लोग उस चीज़ को बनाते या पैदा करते हैं वे उसे अधिक परिमाण में बनाने या पैदा करने लगते हैं। यदि साख के बल पर उधार माल या रुपया न मिले तो चीज़ों की आमदनी या उत्पत्ति भी अधिक न हो। अतएव रुपया या माल उधार मिलने के कारण, किसी चीज़ की माँग अधिक होने से जो उसका भाव चढ़ जाता है तो उसकी आमदनी और उत्पत्ति भी अधिक होजाती है।

जो आदमी अपनी साख के बल पर माल ख़रीद करता है उसकी माल ख़रीद करने की शक्ति बढ़ जाती है। सब चीज़ों का क्रय-विक्रय यदि नक़्द रुपये से ही हो तो व्यापार-व्यवसाय का विस्तार बहुत कम हो जाय। कल्पना कीजिए कि किसी जुलाहे को दो चार मन रुई लेना है। पर उसके पास रुपया नहीं है। इससे वह रुई के मालिक को एक चिट्ठी लिख देगा कि मैं इस रुई की क़ीमत ६ महीने में अदा करूँगा। इस चिट्ठी को लेकर रुईवाला अपनी रुई जुलाहे को दे देगा। ६ महीने होजाने पर जुलाहे ने देखा कि रुई की क़ीमत चुकाने के लिए अब भी मेरे पास रुपया नहीं है। अतएव वह फिर रुई के मालिक के पास जायगा और यदि उसकी साख बाज़ार में अच्छी है तो कुछ व्याज क़बूल करके वह एक नई चिट्ठी लिख देगा और रुई का मालिक उसे लेलेगा। इस तरह की चिट्ठियों का नाम हुंडी है। यद्यपि साख के बल पर ख़रीद किये गये माल की क़ीमत कभी कभी नहीं चुकता होती, और माल के मालिकों को हानि उठानी पड़ती है, तथापि ऐसा बहुत कम होता है। बिना साख के व्यापार-व्यवसाय अच्छी तरह नहीं चल सकता और माल की ख़रीद भी यथेष्ट नहीं हो सकती। इस से बाज़ार में साख का

होना बहुत ज़रूरी है और साख के बल पर ख़रीद किये गये माल की क़ीमत चुकाना भी व्यवसायियों का बहुत बड़ा कर्त्तव्य है। नक़द रुपया देने की शर्त होने से जो माल ख़रीद नहीं किया जा सकता वह साख की बदौलत ख़रीदा जा सकता है। अतएव साख के कारण माल की कटती अधिक होती है और कटती अधिक होने से उसकी उत्पत्ति भी अधिक हो जाती है। इसका फल यह होता है कि लाखों हज़ारों आदमियों की रोज़ी चलती है और सब लोग थोड़ा बहुत फ़ायदा उठाते हैं।

कभी कभी लोग अपनी साख का बुरा उपयोग करते हैं। इस से उन्हें पीछे पछताना पड़ता है और बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। ये हानियाँ बहुत करके मनसूबेबाज़ी के कारण होती हैं।

एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि संयुक्त प्रान्तों में पाला या लसी लग जाने के कारण व्यापारियों ने सोचा कि इस साल गेहूँ कम होगा। उन्होंने क्या किया कि साख की चिट्ठियाँ दे देकर बहुत सा गेहूँ ख़रीद लिया। इस ख़रीद के कारण गेहूँ महँगा होगया। व्यापारियों ने मन-सूबा बाँधा था कि चिट्ठियों, अर्थात् हुंडियों, की मुद्दत पूरी होने के पहले ही हम गेहूँ बेंच कर बहुत सा मुनाफ़ा उठावेंगे और हुंडियों की मुद्दत पर रुपया चुका देंगे। या यदि ज़रूरत होगी तो हुडियों की मुद्दत बढ़वा देंगे। पर ये लोग ठहरे हिन्दुस्तानी व्यापारी। इनको यह तो ख़बर थी ही नहीं कि और प्रान्तों या और देशों में गेहूँ की फ़सल की क्या दशा है। इनके दुर्भाग्य से पंजाब में अच्छा गेहूँ हुआ। वहाँ से सैकड़ों किराचियाँ गेहूँ कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद और बरेली आदि शहरों में पहुँचा। परिणाम यह हुआ कि गेहूँ सस्ता हो गया। बिक्री कम हो गई। कितनेही व्यापारी अपनी मुद्दती हुंडियाँ सकारने अथवा भुगताने में असमर्थ हो गये और उनकी साख मारी गई; अर्थात् उनका दिवाला निकल गया।

साख की बदौलत जब माल की ख़रीद बहुत होने लगती है तब ख़रीदे गये माल की क़ीमत पर साख का बड़ा असर पड़ता है। जो चीज़ जितनी ही अधिक ख़रीदी जाती है, उत्पत्ति के ख़र्च से उतनी ही अधिक उसकी क़ीमत भी चढ़ जाती है। ऐसा होने, और साख पर व्यापार करने वाले

व्यापारियों की मनसूबेबाज़ी के कामयाब न होने, तथा लिखी गई हुंडियों के न सकारे जाने से बड़ा कठिन प्रसङ्ग उपस्थित होता है। ऐसी अवस्था में, कुछ समय के लिए, साख का व्यापार अर्थात् हुंडी का लेन देन बिलकुल ही बन्द पड़ जाता है। कितने ही व्यापारियों का व्यापार-व्यवसाय धूल में मिल जाता है। क्योंकि साख के डामाडोल होने के कारण वे लोग अपनी हुंडियों की मुद्दत नहीं बढ़ा सकते। रुपया डूबने के डर से लोग हुंडी लेते ही नहीं। ऐसे समय में सिर्फ़ सरकारी नोट और नक़द रुपये से ही कारो-बार होता है। अन्त में माल की ख़रीद बहुत कम हो जाती है। चीज़ों की क़ीमतें उतरने लगती हैं; यहाँ तक कि उत्पत्ति के ख़र्च से पहले वे जितनी ज़ियादह थीं उतनी ही अब कम हो जाती हैं। इससे सिद्ध है कि जब साख का दुरुपयोग किया जाता है और पदार्थों की क़ीमत जान बूझ कर बढ़ाई जाती है तब व्यवसायियों पर ऐसे ऐसे कठिन प्रसङ्ग आते हैं। नादानी के कारण साख का व्यवहार जितना पहले बढ़ता है उतना ही पीछे कम भी हो जाता है।

साख के बल पर व्यापार-व्यवसाय करने से क्रय-विक्रय करने वालों ही को नहीं, किन्तु सारे समाज को लाभ पहुँचता है। पर हाँ समझ बूझ कर साख का व्यवहार करना चाहिए। क्रय-विक्रय बढ़ने से रुपये की ज़रूरत बढ़ती है। ऐसी अवस्था में यदि रुपया या उसके बदले और कोई चीज़ न मिले तो ख़रीद-फ़रोख़्त का काम ज़रूर कम होजाय और कम होने से बेची जानेवाली चीज़ों का बाज़ार भी मन्दा पड़ जाय। जितना ही क्रय-विक्रय बढ़ता है उतनी ही अधिक हुंडियाँ लिखनी पड़ती हैं। यदि किसी का क्रय-विक्रय दूना बढ़ जायगा तो उसे पहले से बहुत अधिक हुंडियाँ लिखना और उनका भुगतान करना पड़ेगा। व्यापार-व्यवसाय बढ़ने से साख का व्यवहार आपही आप बढ़ जाता है और उसके कम होने से साख का व्यवहार भी कम हो जाता है। व्यापार-व्यवसाय बढ़ने पर भी यदि साख का उपयोग न किया गया तो चीज़ों की क़ीमतें कम होने लगती हैं और व्यापार-व्यव-साय मन्दा होने पर चढ़ने लगती हैं। मतलब यह कि व्यापार-व्यवसाय के अनुसार साख का व्यवहार घटता बढ़ता है। साख का उपयोग होने से

साधारण रीति से चीज़ों की क़ीमत बहुत करके बे-हिसाब नहीं चढ़ती उतरती। इस कारण सर्वसाधारण को प्रायः हमेशा ही इससे लाभ होता है।

साख के प्रभाव से सोने चाँदी के सिक्कों की कम ज़रूरत रह जाती है। यदि हुंडियाँ और नोट वग़ैरह का चलन बन्द हो जाय तो सोने चाँदी के बिना काम न चले। साख ऐसी चीज़ है कि उसकी बदौलत कौड़ियों का काग़ज़ हज़ार रुपये का काम कर जाता है। इसे क्या थोड़ा फ़ायदा समझना चाहिए।

सम्भूय-समुत्थान के नियमों के अनुसार व्यापार-व्यवसाय करनेवाली कम्पनियाँ साख ही की बदौलत चलती हैं। यदि उनके कार्य्यकर्त्ता विश्वास-पात्र न हों—यदि उनकी साख न हो—तो क्यों लोग हज़ारों रुपये दे कर उनके हिस्से ख़रीद करें। साख न होने के कारण जहाँ इस तरह की कम्पनियाँ नहीं हैं, अथवा हैं भी तो बहुत कम, वहाँ लोगों का बहुत सा धन व्यर्थ उनके पास पड़ा रहता है। उसका उपयोग नई सम्पत्ति उत्पन्न करने में नहीं होता। इससे उनको ही नहीं सारे देश को हानि पहुँचती है। हिन्दुस्तान का बहुत कुछ यही हाल है।

बैंकिंग् अथवा महाजनी भी साख ही का एक प्रकार है। उसका विचार अगले परिच्छेद में किया जायगा।

दूसरा परिच्छेद।

बैंकिंग्।

बैंक (Bank) अँगरेज़ी शब्द है। परन्तु वह अब हिन्दी हो रहा है। जिनको अँगरेज़ी का गन्ध भी नहीं वे भी बैंक का अर्थ समझते हैं। पर बहुत कम आदमी ऐसे होंगे जो यह अच्छी तरह जानते होंगे कि बैंक में क्या क्या काम होता है। बहुधा लोग इतनाही जानते हैं कि बैंक रुपया जमा करने की जगह है। इससे बैंक के कामों का थोड़ा सा हाल लिखना अनुपयोगी न होगा।

बैंक भी साख ही का फल है। यदि बैंक की साख न हो तो कोई उसमें

रुपया न जमा करे—कोई उससे किसी तरह का व्यवहार न करे। बैंक जो काम करता है उसी का नाम बैंकिंग है। बैंकिंग और महाजनी प्रायः समानार्थक शब्द हैं। महाजन का पेशा महाजनी और बैंक का बैंकिंग कहलाता है। भेद दोनों में सिर्फ़ इतनाही है कि बैंक औरों से रुपया क़र्ज़ लेकर सूद पर उठाता है। महाजन क़र्ज़ नहीं लेता। वह अपना ही रुपया औरों को क़र्ज़ देता है। बैंक सूद देता भी है और लेता भी है; महाजन देता नहीं, सिर्फ़ लेता है।

बैंकों की उत्पत्ति सुनने लायक़ है। इटली में एक जगह विनिस है। बारहवी शताब्दी में वहाँ प्रजा-सत्ताक राज्य था। राजधानी, विनिस, में एक महासभा थी। उसी के हाथ मे राज्य का सूत्र था। ११७१ ईसवी में एक युद्ध के कारण विनिस के राजकोश मे रुपये की बड़ी ज़रूरत हुई। इससे महासभा ने क़ानून बना दिया कि हर आदमी को अपनी आमदनी पर फ़ी सदी एक के हिसाब से गवर्नमेंट को क़र्ज़ देना पड़ेगा। इसके बदले गवर्नमेंट ने क़र्ज़ देने वालों को फ़ी सदी पाँच के हिसाब से सूद देना क़बूल किया। इटलीवालों ने इस क़र्ज़ का नाम रक्खा "मंटी" (Monte)। उस समय इटली के कितने ही स्थानों में जर्मन लोगों का भी राज्य था। इससे जर्म्मन-शब्द "बैंक" (Banck) भी इटली में प्रचलित था। इन्हीं "मंटी" और "बैंक" शब्दों के योग से धीरे धीरे एक नया शब्द "बैंको" (Banco) प्रचलित हुआ। विनिस-राज्य ने क़ानून बना कर नगर-निवासियों से जो रुपया क़र्ज़ लिया उसे राजकीय काम में ख़र्च किया; और क़ानून के रू से क़र्ज़ देने वालों को वह रुपया वापस पाने का हक़ दिया। यही नहीं, किन्तु उसने यह भी नियम बना दिया कि क़र्ज़ देने वाले, अपने इस रुपया वापस पाने के हक़ को, और लोगों को हस्तान्तरित भी कर सकेंगे। तभी से इस बैंकिंग कारोबार का सूत्रपात हुआ। और इटालियन "बैंको" (Banco) और जर्मन बैंक (Banck) शब्द का अँगरेज़ी "बैंक" (Bank) शब्द बना।

बैंकर अर्थात् बैंकवाले कई तरह के काम करते हैं। उनका ख़ास काम यह है कि वे उन लोगों से थोड़े सूद पर रुपया क़र्ज़ लेते हैं जिनके पास नक़द रुपया होता है, जिसे वे ख़ुद किसी काम में नहीं लगा सकते। इस

रुपये को बैंकर ऐसे लोगों को ज़ियादह सूद पर देते हैं जिन्हें माल वग़ैरह ख़रीदने या और किसी ज़रूरी काम के लिए वह दरकार होता है। दुकान-दार या व्यापारी आदमी रोज़ माल बेचते हैं। रोज़ उनके पास रुपया आया करता है। जब तक वे और माल नहीं ख़रीदते तब तक उस रुपये की उन्हें ज़रूरत नहीं रहती। इसके सिवा तनख़्वाह, लगान, मकानों वग़ैरह का किराया, हर तीसरे या छठे महीने पाई हुई पेन्शन का रुपया—इसी तरह और भी कितनी ही तरह की आमदनी—लोग एकदम ही नहीं ख़र्च कर देते। इस लिए वे सब रुपये को घर में न रखकर, जितने रुपये की उन्हें उस समय ज़रूरत नहीं रहती, उतने को किसी बैंक में जमा कर देते हैं। ऐसा करने से उनका रुपया भी महफ़ूज़ रहता है और उन्हें सूद भी मिलता है। वही रुपया यदि घर में पड़ा रहे तो चोरी जाने, खो जाने, जल जाने या और किसी तरह नष्ट जाने का डर रहता है। साथ ही, उससे कुछ आमदनी भी नहीं होती। इसी से समझदार आदमी बेकार रुपये को बैंक में जमा कर देते हैं। इस जमा करने का नाम "डिपाज़िट" (Deposit) करना, अर्थात् अमानत के तौर पर रखना, है। बैंकवाले अमानत के रुपये को कई शर्तों पर रखते हैं। यथा :—

(क) तीन महीने, छः महीने, वर्ष दिन या इससे कमोवेश मुद्दत के लिए अमानत। इसे अँगरेज़ी में "फिक्सड डिपाज़िट" (Fixed Deposit) कहते हैं। इस तरह की अमानत रखने में बैंक से यह शर्त करनी पड़ती है कि निश्चित मुद्दत के पहले हम अपना रुपया वापस न लेंगे। मुद्दत जितनी ही अधिक होती है, सूद भी उतना ही अधिक मिलता है। मुद्दत का दिन आने पर सूद सहित असल रुपया बैंक लौटा देता है।

(ख) रोज़मर्रा के हिसाब की अमानत। इसे अँगरेज़ी में "करंट अका-उंट (Current Account) कहते हैं। इस तरह की अमानत से आदमी जब जितना रुपया चाहे ले सकता है, और जब जितना चाहे जमा कर सकता है। ऐसी अमानत पर कोई कोई बैंक बिलकुल ही सूद नहीं देते; जो देते हैं, बहुत कम देते हैं। इस तरह के हिसाब की रक़मों से रुपया निका-लने के लिए एक "चेक" अर्थात् आदेशपत्र या हुक्मनामा बैंक के नाम

लिखना पड़ता है। उसमें जितना रुपया लिखा रहता है उतना रुपया बैंक, जमा करनेवाले को या जिस किसी का नाम चेक में लिखा हो उसे, दे देता है। हां अमानत के रुपये से अधिक रक़म के लिए यदि चेक लिखी जाय तो उसे देने में बैंक एतराज़ करता है।

इस तरह बैंक की निज की पूँजी के सिवा और बहुत लोगों का रुपया उसके पास जमा रहता है। इस सब रुपये से बैंक कई तरह के कारोबार करता है। वह लोगों को कर्ज़ देता है और हुंडियाँ वग़ैरह ख़रीद करता है। इसके सिवा वह विलायती हुंडियों का भी कारोबार करता है। वह हमेशा अपने पास इतना रुपया रखता है कि यदि रुपया जमा करनेवाले अपनी अमानत वापस माँगें तो वह तुरन्त उन्हें दे सके। परन्तु ऐसा संभव नहीं कि सब लोग एकदम ही अपनी अपनी अमानत का रुपया माँगने लगें। यदि कुछ लेलेते हैं तो कुछ और नई अमानत रख जाते हैं। अतएव रुपया जमा करनेवालों को समय समय पर उनका रुपया लौटाने के लिए बहुत थोड़ा रुपया बैंक में जमा रखने ही से काम चल जाता है। कितना रुपया हमेशा बैंक में जमा रखना चाहिए, यह बात बैंकवालों को तजरिबे से मालूम होजाती है।

जिस बैंक की पूँजी, मान लीजिए, १० लाख रुपया है। वह अमानत के रुपये की बदौलत उससे कई गुने अधिक रुपये का व्यवसाय कर सकता है। परन्तु इस तरह व्यवसाय को बहुत अधिक फैलाने में बड़ी होशियारी से काम करना पड़ता है। क्योंकि यदि रुपया अन्दाज़ से अधिक फैल जाय और अमानत रखने वाले उसी समय अपना रुपया माँगने लगें तो बैंक को बड़ी भारी विपत्ति का सामना करना पड़े। संभव है, ऐसे मौक़े पर बैंक का दिवाला हो जाय। इससे बैंक वाले बहुत समझ बूझ कर रुपया फैलाते हैं। वे रोज़ देखते रहते हैं कि उनके पास कितना रुपया जमा है, कितना बाहर है। और कितना पास है। और आवश्यकतानुसार, सब बातों को ध्यान में रख कर, उचित फेर फार किया करते हैं।

जब कोई आदमी बैंक में रुपया जमा करता है तब बैंक को इस बात का हक़ प्राप्त हो जाता है कि उस रुपये को वह जिस तरह चाहे ख़र्च करे।

जमा करने वाला न उससे अपने रुपये का हिसाब ही माँग सकता है और न यही कह सकता है कि आप हमारे रुपये को इस तरह खर्च कीजिए। रुपया जमा करनेवाले का बैंक सिर्फ़ देनदार रहता है । अथवा यों कहिए कि जमा करने वाले के रुपये के बदले वह उसे रुपया वापस पाने का अधिकार या हक़ बेच देता है । बैंक रुपया ले लेता है और हक़ दे देता है । मानों यह भी एक तरह का सौदा हुआ—क्रय-विक्रय हुआ । व्यापार-व्यवसाय के देने पावने के सूचक हुंडी इत्यादि काग़ज़ पत्र भी बैंक इसी तरह ख़रीद करता है । बहुधा हुंडी-पुरज़े के लेन देन में बैंक को नक़द रुपये का बहुत कम काम पड़ता है। यथासमय हुंडी का रुपया वसूल कर लेने की ज़िम्मेदारी ख़रीद करके यद्यपि बैंक बहुत सा क़र्ज़ अपने सिर लाद लेता है तथापि बहुत कम लोगों को उसे नक़द रुपया देना पड़ता है। क्योंकि जहाँ वाणिज्य-व्यवसाय बहुत होता है वहाँ एक के लहने से दूसरे के पावने की भरपाई हो जाती है । रुपये का काम ही नहीं पड़ता । हक़, स्वत्व, या लहने-पावने के क्रय-विक्रय अथवा हेर-फेर से बिना रुपये ही के काम चल जाता है ।

बैंक का काम करनेवालों और दूसरे व्यवसायियों में कोई विशेष भेद नहीं । दूसरे व्यवसायी अनेक प्रकार का माल असबाब बेच कर उसके बदले रुपया संग्रह करते हैं । बैंकर लोग भविष्यत् मे बैंक से रुपया वसूल कर लेने का हक़ लोगों को बेच कर उनसे धन संग्रह करते हैं । जैसा ऊपर एक जगह लिखा जा चुका है, महाजनों का मुख्य काम क़र्ज़ देना है, बैंकरों का मुख्य काम क़र्ज़ लेकर क़र्ज़ देना है ।

रोज़मर्रा के, अर्थात् चलित, हिसाब में जमा किये गये रुपये पर बैंक सूद नहीं देता । इसका यह कारण है कि उस रुपये से बैंक बहुत कम फ़ायदा उठा सकता है । क्योंकि जो इस तरह रुपया जमा करता है वह जब चाहे उसे निकाल सकता है । बैंक यह नहीं कह सकता कि हम अभी न देंगे । इस से बैंक को हमेशा उतना रुपया तहवील में रखना पड़ता है; क्योंकि वह नहीं जानता कब उसकी माँग होगी । परन्तु कोई कोई बैंक यह नियम कर देते हैं कि चलित हिसाब में यदि किसी की अमुक रक़म

बनी रहेगी तो उस पर फ़ी सदी अमुक सूद दिया जायगा। इस तरह की रक़मों पर जो सूद मिलता है बहुत थोड़ा मिलता है। क्योंकि बैंक उस रुपये का व्यवहार करके विशेष फ़ायदा नहीं उठा सकता।

जो रुपया किसी ख़ास मुद्दत के लिए बैंक में जमा किया जाता है उस पर अधिक सूद मिलने का कारण यह है कि बैंक उससे अधिक फ़ायदा उठाता है। बैंकर लोगों को तजरिबे से मालूम रहता है कि अमानत का जितना रुपया लोग रोज़ निकालते हैं उतना ही, या उससे कुछ कम या ज़ियादह, और लोग जमा कर जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी तहवील में रोज़ शाम को प्रायः उतना ही रुपया रहता है जितना कि पहले था। अतएव लोगों की अमानतें लौटाने के लिए थोड़ा सा रुपया तहवील में रख कर बाक़ी रुपये को बैंकर अपने काम में ले आते हैं। मान लीजिए कि आपने पाँच हज़ार रुपये बैंक में जमा किये। अब इस रुपये में से कोई चार पाँच सौ रुपया तहवील में रख कर शेष रुपया अधिक सूद पर बैंक और लोगों को क़र्ज़ दे देगा। कल्पना कीजिए कि यह रुपया एक वर्ष की मुद्दत पर ५ फ़ी सदी ब्याज के हिसाब से रक्खा गया है। इस दशा में बैंक ११ महीने तक १० फ़ी सदी ब्याज के हिसाब से यह रुपया औरों को क़र्ज़ दे सकेगा और उसकी बदौलत ११ महीने तक फ़ी सदी ५ रुपये ब्याज के फ़ायदे में रहेगा। इतने समय तक इस रुपये का कुछ भी अंश उसे अपनी तहवील में रखने की ज़रूरत न पड़ेगी। क्योंकि बैंक जानता है कि १२ महीने बीतने पर यह रुपया मुझे लौटाना है; उसके पहले नहीं। अतएव ३६४ दिन तक भी उसे ब्याज पर लगा रखने से बैंक की कोई हानि नहीं। हाँ वादे पर उसे लौटा देने के लिए रुपया तैयार रखने का उसे पक्का प्रबन्ध ज़रूर रखना पड़ता है।

ऊपर एक जगह लिख जा चुका है कि बैंक हुंडियाँ भी ख़रीद करता है। अच्छा अब मान लीजिए कि जिस पाँच हज़ार रुपये की अमानत का ज़िक्र ऊपर किया गया उसमें से पाँच सौ रुपया तहवील में रख कर शेष पैंतालीस सौ रुपये के बल पर बैंक ने हुंडियाँ ख़रीदीं। आप जानते हैं, इस पैंतालीस सौ रुपये की बदौलत कितने की हुंडियाँ बैंक ने ख़रीदीं? जितनी रक़म उसके पास है प्रायः उससे दस गुने की—अर्थात् कोई पैंतालीस

हज़ार रुपये की ! वह इस तरह की, बैंक ने हुंडियाँ ख़रीद करके उनके सकारने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली और नक़्द रुपया न देकर हुंडी वालों के नाम खाते में उतनी रक़म जमा कर ली। हुंडियाँ ख़रीद करने के समय बैंक बट्टा काट लेता है। इसका कारण यह है कि हुंडियों की मुद्दत पूरी होने के पहले ही बैंक बट्टा काट कर हुंडियों की रक़म जब चाहे ले लेने और उसे अपने काम में लाने का हक़ हुंडी वालों को दे देता है। बट्टे का रुपया इसी हक़ की बिक्री का बदला है। यदि बट्टे की शरह फ़ी सदी एक रुपया है तो पूर्वोक्त पैंतालीस हज़ार रुपये का बट्टा साढ़े चार सौ रुपया हुआ। इसे पैंतालीस हज़ार में कम करने से बाक़ी चवालीस हज़ार साढ़े पाँच सौ रुपया रहा। बैंक इस रुपये को हुंडी वालों के नाम खाते में जमा कर लेगा और उन्हें हक़ दे देगा कि जब चाहें वे इतना रुपया बैंक से ले लें और जैसा चाहें उसका व्यवहार करें।

अब आप देखिए कि कुल पाँच हज़ार नक़्द रुपये की बदौलत बैंक ने पचास हज़ार का उलट फेर कर दिया और साढ़े चार सौ रुपये कमा लिये। अर्थात् पाँच हज़ार तो उसने अमानत रखनेवाले से नक़्द पाये और पैंतालीस हज़ार हुंडीवालों से। इस तरह पचास हज़ार हुए। अब उसे देना रहा पाँच हज़ार अमानतवाले के और चवालीस हज़ार साढ़े पाँच सौ हुंडीवालों के—अर्थात् सब मिला कर उनचास हज़ार साढ़े पाँच सौ। शेष साढ़े चार सौ के वह फ़ायदे में रहा। अब हुंडीवाले यदि उससे आवश्यकतानुसार नक़्द रुपया माँगेंगे तो उसी पैंतालीस सौ नक़्द रुपये में से वह देता रहेगा। क्योंकि संभव नहीं, सब लोग एकदम ही रुपया माँगने आवें। कुछ लोग जो नक़्द रुपया ले जायँगे तो कुछ अमानत में नक़्द रक्खेंगे भी तो। हाँ यदि हुंडियाँ ख़रीदने के साथ ही हुंडीवाले नक़्द रुपया चाहें तो इतने रुपये का उलट फेर करने में शायद बैंक समर्थ न होगा।

हुंडी के चलन से व्यापार-व्यवसाय में बड़ा सुभीता होता है। हुंडी एक प्रकार का काग़ज़ी रुपया है। साख की बदौलत वह ठीक रुपये का काम देती है। कल्पना कीजिए कि रामगोपाल रामदास ने शिवराम शङ्करलाल से दस हज़ार का कपड़ा ख़रीदा। उसे बेच कर रक़म वसूल करने के लिए

रामगोपाल रामदास को कई महीने चाहिए। पर कपड़े की क़ीमत शिवराम शङ्करलाल को उसी दम देना है अथवा उसका समझौता करना है। नक़्द रुपया उतना रामगोपाल रामदास के पास है नहीं। अतएव रामगोपाल रामदास शिवराम शङ्करलाल को इस बात पर राज़ी करेगा कि वह दस हज़ार रुपये की उसकी साख माने। इसपर शिवराम शङ्करलाल, रामगोपाल रामदास पर एक हुंडी करेगा और उसमें लिखेगा कि आज से तीन महीने (या जितनी मुद्दत ठहर जाय) बाद मुझे, या जिसे मैं हुक्म दूँ उसको, दस हज़ार रुपये की रक़म अदा की जाय। इस हुंडी पर रामगोपाल रामदास यह लिख कर कि, इसे मैंने मंज़ूर किया, अपने दस्तख़त कर देगा। अब यदि शिवराम शङ्करलाल और रामगोपाल रामदास दोनों की साख अच्छी है तो कोई भी बैंक इस हुंडी को ख़रीद लेगा और बट्टे का रुपया काट कर बाक़ी रक़म हुंडीवाले के नाम जमा कर लेगा। या यदि रुपया नक़्द माँगा जायगा तो नक़द देदेगा। तीन महीने की मुद्दत पूरी होने पर बैंक इस हुंडी का पूरा रुपया रामगोपाल रामदास से माँगेगा। यदि वह रुपया देने से इनकार करेगा तो हुंडी बेचनेवाला, शिवराम शङ्करलाल, रुपये का देनदार होगा। इस तरह की हुंडियाँ अकसर एक आदमी दूसरे के हाथ बेंचा करता है और उन पर "बेंचा" लिख कर अपने दस्तख़त कर दिया करता है, जिसका मतलब यह है कि ख़रीदार को उनका रुपया मिल जाय। जब हुंडियों की मुद्दत पूरी हो जाती है तब आख़िरी ख़रीदार, जिनके नाम हुंडियाँ लिखी गई होती हैं उनसे रुपया माँगता है। यदि वे रुपया देने से इनकार करते हैं तो हर ख़रीदार अपने से पहले ख़रीदार पर रुपये का दावा करता है।

हुंडियों के प्रचार से सोने चाँदी के सिक्के की ज़रूरत बहुत कम हो जाती है। विदेश से व्यापार करने में इस प्रथा से बड़ा सुभीता होता है। हिन्दुस्तान और इँगलेंड में परस्पर बहुत व्यापार होता है। जितना माल एक देश दूसरे से ख़रीदता है उसकी क़ीमत यदि सिक्के के रूप में देनी पड़े तो व्यापार में बड़ी बाधा उपस्थित हो जाय और रुपया भेजने की ज़िम्मेदारी भी बहुत बढ़ जाय। हुंडियों के चलन ने इस बाधा और इस ज़िम्मेदारी को बिलकुल ही दूर कर दिया है। कल्पना कीजिए कि कलकत्ते के गोपीनाथ

रमामोहन ने ५०,००० रुपये का गल्ला इँगलेंड के व्यापारी बेकर ग्रे के हाथ बेचा। और इँगलेंड के व्यापारी राली ब्रदर्स ने ५०,००० रुपये का कपड़ा कलकत्ते के व्यापारी कर, तारक ऐंड कम्पनी के हाथ बेचा। अब यदि हुंडियों का चलन न होता तो यह सब रुपया नक़द देना पड़ता। पर हुंडियों के प्रचार के कारण यह झंझट नहीं करना पड़ा। राली ब्रदर्स और बेकर ग्रे ये दोनों इँगलेंड के व्यापारी हैं। एक ने माल ख़रीदा है, दूसरे ने बेचा है। अर्थात् एक को रुपया पावना है दूसरे को देना है। इसी तरह गोपीनाथ रमामोहन और कर, तारक ऐंड कम्पनी हिन्दुस्तान के व्यापारी हैं। अतएव यदि बेकर ग्रे ५०,००० रुपया राली ब्रदर्स को इँगलेंड में दे दें और कर, तारक ऐंड कम्पनी उतनाही रुपया गोपीनाथ रमामोहन को देदें तो काम बन जाय। किसी को विदेश रुपया भेजने की ज़रूरत न पड़े। यह इस तरह होता है कि इँगलेंड का व्यापारी बेकर ग्रे हिन्दुस्तान के व्यापारी गोपीनाथ रमामोहन को एक चिट्ठी (हुंडी), लिख देता है कि हम तुम्हें ५०,००० रुपया देंगे। इसी तरह हिन्दुस्तान का व्यापारी कर, तारक ऐंड कम्पनी इँगलेंड के व्यापारी राली ब्रदर्स को एक चिट्ठी (हुंडी) लिख देता है कि हम तुम्हें ५०,००० रुपया देंगे। अर्थात् एक की हुंडी हिन्दुस्तान पर लिखी गई, दूसरे की इँगलेंड पर। इन दोनों हुंडियों की अदला बदल हो जाने से दोनों देशों के व्यापारियों का पावना, बे रुपया पैसा भेजे, चुकता हो जाता है।

हुंडियों की अदला बदल बहुधा व्यापारी ख़ुद ही नहीं करते। लन्दन, कलकत्ता और बंबई आदि बड़े बड़े शहरों में हुंडियों के दलाल रहते हैं। वही भिन्न भिन्न देशों पर लिखी गई हुंडियाँ ख़रीद करते हैं। ऊपर के उदाहरण में गोपीनाथ रमामोहन और राली ब्रदर्स अपनी हुंडियों का ख़ुद ही अदला बदल न करेंगे। गोपीनाथ रमामोहन अपनी हुंडी कलकत्ते में हुंडियों के दलाल को कुछ कमीशन देकर बेच देगा और राली ब्रदर्स अपनी हुंडी लन्दन में इसी तरह बेच देगा। इस सौदे में यदि कुछ हानि होगी तो सिर्फ़ थोड़े से कमीशन अर्थात् बट्टे की। बस, और कुछ नहीं। परन्तु ५०,००० रुपया यदि नक़द भेजना पड़ता तो उससे कई गुना अधिक ख़र्च पड़ता। लन्दन और कलकत्ते के जो दलाल हुंडियों का रोज़गार करते हैं वे इसी तरह

हुंडियां ख़रीद किया करते हैं। जब बहुत सी ख़रीद लेते हैं तब वे भी आपस में अदला बदल कर लेते हैं। कल्पना कीजिए, कलकत्ते के दलाल के पास ५ लाख की हुंडियाँ लन्दन पर जमा हो गई और इतनी ही लन्दन के दलाल के पास कलकत्ते पर। अब वे आपस में अपनी अपनी हुंडियाँ बदल लेंगे और अपने अपने देश में हुंडियाँ लिखने वालों से रुपया वसूल कर लेंगे। बदले के लिए बहुत सी हुंडियों के जमा हो जाने की कोई शर्त नहीं। दो एक हुंडियों का भी बदला हो सकता है। इस तरह की हुंडियाँ बैंक भी ख़रीदते हैं और उनसे बहुत लाभ उठाते हैं। पर व्यापारियों को हुंडियों के इस अदला बदल से जो लाभ होता है वह बैंक के लाभ की अपेक्षा बहुत अधिक है।

एक तरीक़ा ऐसा है जिससे नक़द रुपया दिये बिना ही व्यापारी आदमी अपने लहने पावने का भुगतान कर सकते हैं। उसका नाम खाता है। खाते के व्यवहार में नक़द रुपये की बिलकुल ज़रूरत नहीं पड़ती। रामनाथ रामप्रसाद लोहे का कारोबार करता है और शिवनाथ शिवप्रसाद कोयले का। पहले ने दूसरे से ५०० रुपये का कोयला लिया और दूसरे ने पहले से ५०० का लोहा। दोनों न नक़द रुपया ही देते हैं, न हुंडी ही करते हैं। शिवनाथ शिवप्रसाद ५०० रुपये रामनाथ रामप्रसाद के नाम लिखता है, और रामनाथ रामप्रसाद ५०० रुपये शिवनाथ शिवप्रसाद के नाम। दोनों देखते हैं कि हमें एक दूसरे को ५०० रुपये देना है। अतएव दोनों परस्पर जमा-ख़र्च मिला लेते हैं; न उन्हें नक़द देना पड़ता है, न लेना। इस तरह के हिसाब से भी व्यापार-व्यवसाय में बड़ा सुभीता होता है। पर खाते के हिसाब में बैंक से सरोकार रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस तरह के व्यवहार से बैंक को कुछ भी फ़ायदा उठाने का मौक़ा नहीं मिलता।

ऊपर एक जगह "चेक" शब्द आया है। चेक का अर्थ है हुक्मनामा या दर्शनी चिट्ठी। जिस आदमी का रुपया जिस बैंक मे जमा रहता है वह उस पर चेक लिखता है। चेक देखने के साथही बैंक रुपया देदेता है। इन चेकों की भी अदला बदल होती है। इनसे भी व्यापार में बहुत सुभीता होता है। कल्पना कीजिए कि देवदत्त का रुपया बङ्गाल बैंक में जमा है और रामदत्त का इलाहाबाद बैंक में। देवदत्त ने रामदत्त से हज़ार रुपये का माल

ख़रीदा और उतने का चेक बंगाल बैंक पर लिख कर रामदत्त को दे दिया। रामदत्त इस चेक का रुपया लेने के लिए बंगाल बैंक में न जायगा। वह उस चेक को इलाहाबाद बैंक में भेज देगा, क्योंकि उसका रुपया वहीं जमा है। अब कल्पना कीजिए कि हरदत्त का रुपया इलाहाबाद बंक मे जमा है। उसने एक हज़ार का चेक इलाहाबाद बैंक पर लिख कर शिवदत्त को दिया। शिवदत्त ने उसे बंगाल बैंक को भेज दिया क्योंकि उसका हिसाब उस बैंक से है। अब बङ्गाल बैंक पर लिखा हुआ हज़ार रुपये का चेक इलाहाबाद बैंक के पास हो गया और इलाहाबाद बैंक पर लिखा हुआ उतने ही का चेक बंगाल बैंक के पास हो गया। अतएव दोनों बैंक परस्पर एक दूसरे के चेक की अदला बदल कर लेंगे। किसी को रुपया देने की ज़रूरत न पड़ेगी। हां यदि किसी का चेक हज़ार रुपये से ज़ियादह का हो तो जितना रुपया ज़ियादह होगा उतना देकर हिसाब साफ़ कर लिया जायगा।

कोई कोई बैंक अपने नोट भी चलाते हैं। इँगलेंड के बैंक के नोट विलायत में वैसे ही चलते हैं जैसे यहाँ सरकारी नोट चलते हैं। बैंक-नोट और हुंडी में सिर्फ़ इतना ही फ़रक़ है कि नोट दिखाने के साथ ही रुपया देना पड़ता है, पर हुंडी में जो मुद्दत लिखी रहती है उसी समय रुपया मिलता है। हिन्दुस्तान में बैंक-नोट नहीं चलते।

हुंडी, चेक और नोट साख के दर्शक चिह्न हैं। उन्हें देख कर, साख के बल पर, उनमें लिखी गई रक़म लोग बे-खटके दे देते हैं।

बैंकों का काम बहुत नाज़ुक होता है। बड़ी होशियारी और बड़ी दूरन्देशी से काम करना पड़ता है। बैंकर लोग लाखों रुपया लोगों से क़र्ज़ लेकर जमा कर लेते हैं। जितनाही अधिक धरोहर वे धरते हैं और उसकी सहायता से जितना ही अधिक कारोबार वे फैलाते हैं उतनी ही अधिक उनकी ज़िम्मेदारी बढ़ती है। मांगने के साथ ही अमानत रखने वालों को रुपये देने के लिए वे, अपनी समझ के अनुसार, काफ़ी रुपया तहवील में रखते हैं। परन्तु रुपये की तेज़ी तथा सराफ़ों के दिवाले निकलने पर अकसर ऐसा होता है कि किसी कारण से तक़ाज़ा अधिक हो जाता है—बहुत आदमी एक ही साथ अपना रुपया वापस मांगने लगते हैं। इस दशा में,

यदि मतलब भर के लिए बैंक में रुपया न हुआ, और यदि कोई दूसरा प्रबन्ध भी न हो सका, तो बैंक ख़रीद की हुई हुंडियों को बेच देता है या उनको कहीं गिरवी रख कर रुपया इकट्ठा करता है। इस प्रकार उसे तक़ाज़ों का भुगतान करना पड़ता है। जिस तरह और व्यवसायी सस्ते भाव से माल ख़रीद कर महँगे भाव बेचते हैं, उसी तरह बैंक भी बट्टा काट कर कम क़ीमत पर हुंडी ख़रीद करता है और मुद्दत पूरी होने पर हुंडी मंज़ूर करने वाले से हुंडी में लिखी हुई पूरी रक़म वसूल करता है। परन्तु यदि उसे ख़रीद की हुई हुंडियां बेचनी पड़ती हैं तो उसे भी बट्टे से ग़म खाना पड़ता है। हुंडी के और दूसरे व्यवसायों में भेद इतना ही है कि और व्यवसायों में माल ख़रीद करने से यदि वह न बिका तो जिससे वह ख़रीद किया गया है वह उसके न बिकने का ज़िम्मेदार नहीं होता। किन्तु बैंकर लोग हुंडी ख़रीद करते समय इस बात की चिन्ता नहीं करते कि वह पट जायगी या नहीं। हुंडी की मुद्दत बीतने पर जिसने उसे बेचा होता है उसे उस हुण्डी को पटाने के लिए वे बाध्य कर सकते हैं। यदि वह भुगतान करने से इनकार करता है तो जिसने हुण्डी लिखी होती है उससे, अथवा हुण्डी की पीठ पर "बेचा" लिख कर जिसने उसे हस्तान्तरित की होती है उससे, हुंडी में लिखा गया रुपया वसूल पाने का बैंकर दावा कर सकता है। सारांश यह कि हुंडियां ख़रीदने वालों को यह निश्चय रहता है कि वे ज़रूर बिक जायँगी और उनमें लिखी हुई रक़म ज़रूर मिल जायगी। परन्तु और माल ख़रीद करने वालों को इस बात का निश्चय नहीं रहता। यही इस दो प्रकार के सौदे में भेद है।

हुण्डियाँ बेचने वालों की साम्पत्तिक अवस्था और उनके साख-विश्वास की ख़ूब जांच करके बैंकर लोग उन्हें ख़रीद करते हैं। जब उन्हें विश्वास हो जाता है कि रुपया डूबने का डर नहीं तभी हुण्डियाँ ख़रीदते हैं। वे देख लेते हैं कि बाक़ायदा हुण्डी लिखी गई है या नहीं? स्टाम्प ठीक लगा है या नहीं? जिसके नाम लिखी गई है उसने मंज़ूर कर लिया है या नहीं? जब सब तरह से उनकी दिलजमई हो जाती है तब उसे ख़रीद करते हैं। बैंकर लोग बहुधा ज़ियादह दिन की मुद्दती हुण्डी नहीं ख़रीद करते। क्योंकि

उसके सकारने के लिए उन्हें बहुत दिन ठहरना पड़ता है। इससे उन्हें कारोबार में सुभीता नहीं होता । लाखों रुपये की हुण्डियाँ ख़रीद करके उनकी रक़म (बट्टा काट कर) वे अपने खाते में बेचने वालों के नाम लिख रखते हैं। यदि हुण्डियाँ बेचने के कुछ ही दिन बाद—उनकी मुद्दत पूरी होने के पहले ही—बहुत लोग हुण्डियों का रुपया बैंकरों से माँगने लगें तो उतना रुपया, बिना उन हुंडियों को बेचे, देने में बैंकरों को कठिनता का सामना करना पड़े। इसीसे बैंकर बहुधा थोड़ी मुद्दत की ही हुंडियाँ अधिक ख़रीद करते हैं।

बैंकरों के खाते में व्यवसायी आदमियों के नाम लाखों रुपये की रक़मों का जमा ख़र्च देख कर किसी को यह न समझना चाहिए कि बैंकर इतने नक़द रुपये का व्यवहार कर रहे हैं । यदि कोई ऐसा समझे तो उसका भ्रम है। हुंडियों के व्यवहार के कारण व्यवसायियों के रुपये का अधिकांश सिर्फ़ काग़ज़ पर लिखा भर रहता है। वह देखने को नहीं मिलता। उसे सिर्फ़ काग़ज़ी जमा-ख़र्च समझना चाहिए।

बैंक कई तरह के आदमियों को रुपया क़र्ज़ देता है। उनमें से तीन मुख्य हैं:—

(१) साधारण आदमी जो कोई व्यापार-व्यवसाय नहीं करते।

(२) व्यापार-व्यवसाय करने वाले काम-काजी आदमी।

(३) क़ानून के अनुसार रजिस्ट्री की हुई कम्पनियाँ।

पहले प्रकार के लोगों से बैंक को हुंडियाँ नहीं मिलतीं; क्योंकि जो लोग किसी तरह का कारोबार करते हैं वही बहुत करके हुंडियाँ लिखते और बेचते हैं; और लोग नहीं। ऐसे आदमियों को बैंक बहुत समझ बूझ कर क़र्ज़ देता है। क्योंकि उनकी निज की कोई सम्पत्ति न होने से उनके मरने पर बैंक को अपना रुपया वसूल करने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। दूसरे प्रकार के लोगों को क़र्ज़ देने में भी बैंक को आगा पीछा देख लेना पड़ता है। उन की बाज़ार साख और उनके देने-पावने की ख़ूब जाँच पड़ताल करके बैंक क़र्ज़ देता है। कभी कभी व्यवसायी आदमी अपने बही-खाते में कुछ का कुछ लिख रखते हैं, और जो १०० रुपये पावना होता है तो उसे बढ़ा कर

१००० कर देते हैं। ऐसे काग़ज़-पत्र देख कर यदि बैंक बहुत सा रुपया उधार दे देता है तो पीछे से उसे हानि उठानी पड़ती है। तीसरे प्रकार के लोगों को क़र्ज़ देते समय भी बैंक को दो चार बातों का विचार करना पड़ता है। बहुत सी कम्पनियाँ ऐसी होती हैं जिन्हें क़र्ज़ लेने का अधिकार ही नहीं होता, और यदि होता भी है तो बहुत कम क़र्ज़ लेने का। ये सब बातें जानने के लिए बैंक को कम्पनी के व्यवस्था-पत्र आदि देखने पड़ते हैं। नई कम्पनियों को बैंक तब तक रुपया क़र्ज़ नहीं देता जब तक उनकी बाक़ायदा रजिस्ट्री नहीं हो जाती और वे अपना काम नहीं करने लगतीं।

बैंक से क़र्ज़ लेने के मुख्य तीन प्रकार हैं। यथा:—

(१) बट्टा बाद कम से कम दो आदमियों की हस्तान्तरित अर्थात् बिचान की हुंडी देकर;

(२) अपने रोज़मर्रा के चलित हिसाब में जितना रुपया जमा है उससे अधिक रुपया लेकर;

(३) बाक़ायदा दस्तावेज़ लिख कर या योंही साधारण तौर पर क़र्ज़ लेकर।

हुंडियों का ज़िक्र पहले हो चुका है। बैंक हुंडी ले लेता है और बट्टा काट कर शेष रुपया हुंडी बेचने वाले को दे देता है। या उसके नाम जमा कर लेता है और जैसे जैसे वह माँगता है देता जाता है। यह भी एक प्रकार का क़र्ज़ है: क्योंकि हुंडी बेचने वाला रुपया तो बैंक को देता नहीं, एक चार अंगुल का काग़ज़ मात्र देता है। उस हुंडीरूपी काग़ज़ के मंज़ूर कराने वाले से जब तक बैंक रुपया वसूल नहीं पाता तब तक जो रुपया उसे देन पड़ता है वह मानों क़र्ज़ के तौर पर देना पड़ता है। दूसरे और तीसरे प्रकारानुसार उधार लेने में विशेष फ़र्क़ है। बैंक में जमा किये गये रुपये से जितना अधिक रुपया क़र्ज़ लिया जाता है उतने अधिक रुपये पर ही, लेने के दिन से, सूद देना पड़ता है। इस तरह जैसे जैसे ज़रूरत पड़ती है लोग क़र्ज़ लेते जाते हैं। जिस दिन यह अधिक रुपया लिया जाता है उसी दिन से सूद देना पड़ता है। किन्तु साधारण रीति से क़र्ज़ लेने पर सब रुपया एकदम ही लेना पड़ता है और उसे अपने घर में रख कर जैसे जैसे ज़रूरत

पड़ती है ख़र्च करना पड़ता है । चाहे उसे क़र्ज़ लेने वाला एक दिन में ख़र्च कर दे, चाहे एक वर्ष मे । इस तरह क़र्ज़ ली गई पूरी रक़म पर लेने के दिन ही से बैंक को सूद देना पड़ता है ।

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि तीसरे प्रकारानुसार क़र्ज़ लेने की अपेक्षा दूसरे प्रकारानुसार क़र्ज़ लेना अधिक लाभदायक है । क्योंकि दूसरे प्रकारानुसार जितना रुपया ख़र्च करने की ज़रूरत होती है उतना ही बैंक से ले लिया जाता है और उतने ही पर सूद देना पड़ता है । परन्तु तीसरे प्रकारानुसार सब रुपया एकदम ही लेकर घर रखना पड़ता है और उस सब पर सूद देना पड़ता है । क़र्ज़ लेने वाला यदि चाहे कि तीसरे प्रकारानुसार वह हर हफ़्ते या हर महीने बैंक से बार बार क़र्ज़ लिया करे तो इस बात को बैंक मंज़ूर न करेगा । कारण यह है कि इस तरह क़र्ज़ लेने में लिखा पढ़ी आदि के अनेक झंझट करने पड़ते हैं । इसीसे बैंकर लोग दूसरे प्रकारानुसार लिये गये क़र्ज़ पर कुछ अधिक सूद लेते हैं और तीसरे प्रकारानुसार लिये गये पर कुछ कम । दूसरे प्रकार को अँगरेज़ी में "ओवर ड्राफ्ट अपान करंट अकौंट" (Overdraft Upon Current Account) और तीसरे को "लोन अकौंट" (Loan Account) कहते हैं । तीसरे प्रकारानुसार क़र्ज़ लेने का एक और नाम "कैश क्रेडिट" (Cash Credit) है । इस तीसरे प्रकार में बिना कुछ रुपया जमा किये ही, अपनी या किसी और की साख पर, अथवा कोई चीज़ गिरवी रख कर, बैंक से क़र्ज़ लेना पड़ता है । व्यवसायी आदमियों को "कैश क्रेडिट" की रीति से रुपया क़र्ज़ लेने में बहुत सुभीता होता है । क्योंकि उनको मज़दूरों और मुलाज़िमों को तनख्वाह देने और अनेक प्रकार के दूसरे ख़र्च करने के लिए हमेशा ही कुछ रुपया दरकार होता है । यह रुपया यदि वे अपने कारोबार में लगावें तो उनको बीस पचीस रुपया सैकड़े के हिसाब से मुनाफ़ा हो सकता है; पर बैंक से इससे बहुत कम सूद पर रुपया मिल सकता है । इससे व्यवसायी आदमी घर का रुपया व्यवसाय में लगा कर बाहरी ख़र्च के लिए वे बैंक से क़र्ज़ ले लेते हैं । इस तरह क़र्ज़ लेकर वे उस रुपये को अपने रोज़गार में भी लगा सकते हैं । हां रुपया पाने के लिए साख या

गिरवी रखने के लिए जायदाद ज़रूर चाहिए। योरप में कितने ही देश ऐसे हैं जहाँ "कैश क्रेडिट" की बदौलत अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते हैं। हज़ारों आदमी ऐसे हैं जिनके पास कौड़ी भी न थी। पर बैंकों से "कैश क्रेडिट" लेकर उन्होंने व्यवसाय शुरू किया और अपनी योग्यता और बुद्धिमानी से धीरे धीरे अमीर हो गये। यदि हिन्दुस्तान के बड़े बड़े शहरों में स्वदेशी बैंक खुल जायँ, और विश्वसनीय आदमियों को "कैश क्रेडिट" के तरीक़े से थोड़े सूद पर क़र्ज़ मिलने लगे, तो व्यापार-व्यवसाय में बहुत उन्नति हो।

मामूली महाजनों से जो क़र्ज़ लिया जाता है उस पर बहुत सूद देना पड़ता है। देहात में तो सूद की शरह और भी अधिक है। बेचारे किसान इतने ग़रीब हैं कि बे-क़र्ज़ लिये उनका काम नहीं चल सकता। और क़र्ज़ लिया कि महाजनों के हाथ बिके। फिर वे किसी तरह नहीं उबरते। क्योंकि प्राय: उन्हें हर महीने हर रुपये पीछे एक आना सूद देना पड़ता है। यह ७५ रुपये सैकड़े साल की शरह हुई! फिर भला इतना सूद देकर कौन महाजनों के चंगुल से बच सकता है? इस दुर्व्यवस्था से बचने के लिए गवर्नमेंट ने बड़ी कृपा करके कुछ समय से "को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज़" नाम के महाजनी बैंक खोलने का प्रबन्ध कर दिया है। इस तरह के बैंक हर गाँव, हर क़सबे और हर शहर में हो सकते हैं। आज तक इस तरह के कितने ही बैंक खुल चुके हैं और बहुत कुछ लाभ पहुँचा रहे हैं।

दस पाँच आदमी मिल कर इस तरह के बैंक हर गाँव में खोल सकते हैं। ये बैंक सम्भूय-समुत्थान के तरीक़े से खोले जाते हैं। जितने आदमी बैंक से सम्बन्ध रखना चाहते हैं सब को थोड़ा थोड़ा चन्दा, अनाज या रुपये के रूप में, देना पड़ता है और जितना रुपया या अनाज वे इकट्ठा करते हैं उतना, ज़रूरत होने पर, गवर्नमेंट अपनी तरफ़ से उधार दे देती है। उस पर गवर्नमेंट को तीन वर्ष तक कुछ सूद नहीं देना पड़ता। जो लोग इस तरह के बैंक मिल कर खोलते हैं उनको उनसे बीज के लिए, हल-बैलों के लिए, निकाई-जुताई आदि के लिए बहुत थोड़े सूद पर रुपया मिल जाता है। और जो रुपया या अनाज वे बैंक में जमा करते हैं वह भी कहीं नहीं

जाता। देहाती बैंक क़सबाती बैंकों की शाख बनाये जा सकते हैं और क़सबाती बैंक ज़िले के बैंकों की। इस प्रबन्ध से क़र्ज़ लेने में और भी सुभीता होता है। इस तरह के बैंक यदि अच्छी तरह चलाये जायँ तो इनकी पूँजी बहुत जल्दी बढ़ जाती है और रुपया नहीं मारा जाता। इन बैंकों से बड़े फ़ायदे हैं। एक तो इसके मेम्बर ज़रूरत के समय इन से क़र्ज़ पा सकते हैं; दूसरे महाजनों के चंगुल से बच जाते हैं; तीसरे उन्हें अपनी आमदनी से कुछ बचाने की आदत हो जाती है। इस तरह के बैंक खोलने के क़ायदे हर ज़िले की कचहरी में मिल सकते हैं और ज़िले के हाकिम बैंक खोलने वालों को सब बातें अच्छी तरह समझा सकते हैं। इस कृपा के लिए गवर्नमेंट का अभिनन्दन करना चाहिए और इस तरह के बैंक खोल कर उनसे लाभ उठाना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद।

बीमा।

संसार में न मालूम कितनी दुर्घटनायें ऐसी होती हैं जिनसे मनुष्यों की बड़ी बड़ी हानियाँ हो जाया करती हैं। इस तरह की हानियों से बचने का प्रत्यक्ष उपाय एक तो किया नहीं जा सकता, और यदि किया भी जाय तो प्रायः व्यर्थ जाता है। मौत को कौन रोक सकता है? अकस्मात् आग लगने से होनेवाली हानि का पहले से कौन प्रतिबन्ध कर सकता है? समुद्र में सहसा तूफ़ान आने से जहाज़ों में लदे हुए लाखों रुपये के माल को डूबने से बचाने में कौन समर्थ हो सकता है? ये ऐसी दुर्घटनायें हैं जिनसे बचना मनुष्य के लिए साध्यातीत है। इसी लिए उनसे होनेवाली हानियों की पूर्त्ति के लिए मनुष्यों ने एक अप्रत्यक्ष युक्ति निकाली है। उसका नाम है बीमा-विधि। जिन लोगों को रजिस्टरी चिट्ठियों के भीतर नोट या पारसलों के भीतर कोई क़ीमती चीज़ें भेजना पड़ती होंगी वे बीमे के नाम से अधिक परिचित होंगे। ऐसी चिट्ठियाँ या पारसल जब डाक से भेजे जाते हैं तब डाक घर वाले उन पर अधिक महसूल लेकर इस बात की ज़िम्मेदारी लेलेते हैं कि यदि

वे चीज़ें खो जायँगी तो सरकार उनकी क़ीमत देदेगी। जिस बीमा-विधि का संक्षिप्त वर्णन हम इस परिच्छेद में करने जाते हैं वह भी कुछ कुछ इसी तरह का है। इस बीमा-विधि के तीन प्रकार हैं—अग्नि-बीमा, वारि-बीमा और जीवन-बीमा।

किसी इमारत, मकान, दुकान या गोदाम अथवा माल असबाब आदि के जल जाने पर होनेवाली हानि की पूर्ति कर दी जाने के लिए जो बीमा किया जाता है उसका नाम अग्नि-बीमा है। समुद्र में जहाज़ों के डूब जाने से जो माल-असबाब की हानि होती है उससे बचने के लिए जो बीमा होता है उसे वारि-बीमा कहते हैं। और मनुष्य के मरने से उसके कुटुम्बियों या वारिसों की जो हानि होती है उसके कुछ अंश की पूर्ति जिस विधि से होती है उसे जीवन-बीमा कहते हैं।

जैसे और अनेक प्रकार के व्यवसाय हैं वैसे ही बीमे का भी व्यवसाय है। यह व्यवसाय बहुत करके सम्भूय-समुत्थान के नियमानुसार किया जाता है। कुछ आदमी मिल कर एक कम्पनी खड़ी करते हैं और बीमे का व्यवसाय करने लगते हैं। इस देश में भी इस तरह की कम्पनियाँ हैं। बम्बई की "ओरियंटल लाइफ अशूरेन्स कम्पनी" का नाम बहुत लोगों ने सुना होगा। इसके हिस्सेदार प्रायः इसी देश के हैं। यह जीवन-बीमे का काम करती है। अग्नि-बीमे और वारि-बीमे का काम करनेवाली कम्पनियाँ भी कई एक हैं।

बीमा-विधि का आन्तरिक अभिप्राय परस्पर एक दूसरे की सहायता करने, और जो लोग मध्यस्थ हो कर सहायता करते हैं उनको पुरस्कार के तौर पर कुछ देने, के सिवा और कुछ नहीं है। बैंक में जैसे एक आदमी रुपया जमा करता है और दूसरा निकालता है, और औसत लगाने से बैंक की तहवील में कोई विशेष कमी वेशी नहीं होती, वैसे ही बीमा करनेवाली कम्पनियों का भी हाल है। कुछ बीमा करनेवाले लोग मरते हैं, कुछ नये बीमा कराते हैं; कुछ जहाज़ डूबते हैं, कुछ निर्विघ्न अपने निर्दिष्ट स्थान को पहुँचते हैं; कुछ इमारतें जलती हैं, कुछ नहीं जलतीं। जो लोग ज़िन्दा हैं वे अपने बीमे का रुपया देकर मानों मरे हुओं के कुटुम्बियों की मदद कर रहे हैं। जहाज़ डूबने और माल असबाब जलने पर जो हानि पूरी करनी

पड़ती है उसका भी यही हाल है । वह क्या बीमे की कम्पनियाँ अपने घर से देती हैं ? नहीं; लोगों का रुपया जो उनके पास जमा रहता है उसीसे वे उसकी पूर्ति करती हैं । बीमे की कम्पनियां मध्यस्थ मात्र हैं । क्षति की जो पूर्ति होती है वह बीमा करानेवालों ही के रुपये से होती है ।

बीमा-कम्पनियाँ बहुत करके हमेशा फ़ायदे ही में रहती हैं । उन्हें शायद ही कभी नुक़सान होता हो । क्योंकि हानि की जितनी संभावना होती है उससे वे हमेशा अधिक रुपया बीमा करानेवालों से वसूल कर लेती हैं । यह तो संभव ही नहीं कि बीमा किये गये सब आदमी एक ही साथ मर जायँ; या बीमा की गई सब इमारतें एक ही साथ जल जायँ; या बीमा किये गये सब जहाज़ एक ही साथ डूब जायँ । ऐसा होता तो बीमा करनेवाली कम्पनियों पर ज़रूर आफ़त आती—उनका ज़रूर दिवाला निकल जाता । पर ऐसा बहुत कम होता है । फ़ी सदी बहुत कम आदमी मरते हैं; बहुत कम इमारतें जलती हैं; बहुत कम जहाज़ डूबते हैं ।

जब कोई आदमी अपना या किसी मकान या जहाज़ आदि का बीमा कराता है तब उसे एक निदर्शनपत्र मिलता है । बीमा से सम्बन्ध रखने वाली शर्तें उसमें दर्ज रहती हैं । उसका अँगरेज़ी नाम "पालिसी" (policy) है । यदि बीमा जीवन-सम्बन्धी है तो उसे "लाइफ पालिसी" (Life Policy); यदि अग्नि-सम्बन्धी है तो "फ़ायर पालिसी" (Fire Policy); और यदि समुद्र-सम्बन्धी है तो "मैरीन पालिसी" (Marine Policy) कहते हैं । जो लोग—जो जन-समुदाय—मृत्यु होने, या जहाज़ डूबने, या चीज़-वस्तु जल जाने से, क्षति की पूर्ति कर देने की ज़िम्मेदारी लेते हैं उन्हें "इन्शूरर" (Insurer) अर्थात् बीमा वाला कहते हैं । जो बीमा कराते हैं वे "इन्श्यूर्ड" (Insured) अर्थात् बीमाकारी कहलाते हैं । बीमाकारी को हर साल, हर छठे महीने, हर तीसरे महीने, या हर महीने जो रुपया बीमा वालों को देना पड़ता है उसे "प्रीमियम" (Premium) अर्थात् क़िस्त-बन्दी कहते हैं ।

बीमे की शर्तें पालिसी में छपी रहती हैं । नाम इत्यादि लिखने के लिए जो जगह ख़ाली रहती है वह पालिसी लिखते और दस्तख़त करते समय

भर दी जाती है। पालिसी के फ़ार्म में कुछ विशेष बातें भी रहती हैं। आवश्यकतानुसार वे काट दी जाती हैं; या उनमें फेर फार कर दिया जाता है।

अग्नि-बीमा।

बीमे के काम में बहुत अधिक तजरिबेकार एक साहब की राय है कि और बीमों की अपेक्षा आग के बीमे से लोगों को विशेष लाभ होता है। मनुष्यों की अपमृत्यु और जहाज़ों के सहसा डूब जाने की घटनाओं की अपेक्षा आग लगने की घटनायें अधिक होती हैं। नहीं मालूम कब किस के घर में, या गोदाम में, या कारख़ाने में आग लग जाय और उसका सारा माल-असबाब, घर-द्वार, जल कर भस्म हो जाय। अभी उस साल बम्बई में न मालूम रुई का कितना "स्टाक" जल गया। जिन कल-कारख़ानों में यंजिन चलते हैं और बहुत आदमी काम करते हैं उनको आग से बड़ा डर रहता है। यंजिन से उड़ा हुआ एक ही अग्नि-कण, या काम में लगे हुए आदमियों की चिलम से गिरी हुई एक ही चिनगारी, लाखों रुपये का माल जला कर ख़ाक कर सकती है। रुई इत्यादि ऐसी चीज़ें हैं जो एक जगह पर दबा कर रक्खी रहने से भीतर ही भीतर बहुत गरम हो जाती हैं और आप ही आप जल उठती हैं। इस तरह की दुर्घटनाओं से होने वाली हानि से बचने के लिए लोग अग्नि-बीमा कराते हैं। बड़े बड़े शहरों में इस तरह के बीमे अब अधिकता से होने लगे हैं। जो मनुष्य कोई अच्छा मकान, होटल या कारख़ाने की इमारत बनाता है वह अक्सर उसका बीमा करा देता है। इस तरह का बीमा करने वाली अब स्वदेशी कम्पनियाँ भी इस देश में खड़ी हो गई हैं।

जिस मकान, गोदाम या कारख़ाने का बीमा होता है उसकी पालिसी में लिख दिया जाता है कि वह आग से जल जाय तो बीमे वाला इतना रुपया हानि का बदला देगा। उससे अधिक रुपया पाने का दावा बीमा कराने वाला नहीं कर सकता। जितना रुपया पालिसी में लिखा रहता है वह सब हमेशा नहीं मिलता। जितना नुक़सान होता है उतना ही मिलता

है । कल्पना कीजिए कि किसी ने अपने गोदाम का बीमा एक लाख रुपये का कराया । दैवयोग से उसमें आग लग गई और ५० हज़ार का माल जल गया । इस दशा में गोदाम का मालिक ५० हज़ार से अधिक रुपया बीमा-कम्पनी से न पा सकेगा । यदि वह कहे कि मेरा इतना माल न जल जाता तो मुझे उससे ५ हज़ार मुनाफ़े का मिलता; अतएव मुझे ५५ हज़ार हरजाने का मिलना चाहिए; तो उसका यह दावा न चल सकेगा । जितना असल में उसका नुक़सान हुआ होगा उतने ही का बदला उसे मिलेगा, अधिक नहीं । किसी के मकान का यदि एक हिस्सा जल जाय और वह कहे, अब मैं इसमें न रहूँगा, बीमा-कम्पनी इसे ले जाय और इसकी पूरी लागत मुझे दे दे, तो उसकी एक न सुनी जायगी । जितना हिस्सा जल गया होगा सिर्फ़ उतने ही का मुआविज़ा उसे मिलेगा । ये सब बातें पालिसी में साफ़ साफ़ लिखी रहती हैं जिसमें पीछे से किसी तरह का झगड़ा न हो ।

अग्नि-बीमे की कम्पनियाँ पालिसी मे शर्त कर लेती हैं कि रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, नोट, हुंडी, दस्तावेज़ें या और कोई बही खाते वग़ैरह काग़-ज़ात जल जायँ तो हम उनका मुआविज़ा न देंगी । इसके सिवा वे यह भी शर्त कर लेती हैं कि अगर देश में ग़दर हो जाय, या कोई बाहरी शत्रु चढ़ आवे, या और किसी ऐसे ही कारण से किसी का बीमा कराया हुआ मकान या गोदाम वग़ैरह जला दिया जाय तो वे उसकी ज़िम्मेदार न होंगी । क्योंकि इस तरह की घटनाओं को रोकना कम्पनियों के बस की बात नहीं ।

जलने का ख़तरा जितना ही अधिक होता है, बीमा कराई का चार्ज भी उतना ही अधिक देना पड़ता है ।

वारि-बीमा ।

वारि-बीमे की पालिसी में जिस जहाज़ या जिस माल का बीमा किया जाता है उसका वर्णन रहता है । कौन सी दुर्घटनाओं के कारण हानि होने से मुआविज़ा मिलेगा, किस समय से किस समय तक हानि हो जाने से बीमा वाली कम्पनी ज़िम्मेदार होगी, कितना रुपया बीमा कराई देना पड़ेगा,

हानि होने के कितने दिन बाद कम्पनी हानि का मुआविज़ा देगी इत्यादि सब बातें क़ानूनी भाषा में लिखी रहती हैं। जिस जहाज़ में माल जाने को होता है उसके नाम की जगह बहुधा कोरी छोड़ दी जाती है; क्योंकि पालिसी लिखने के समय कभी कभी यह नहीं मालूम रहता कि किस जहाज़ में माल जायगा। इस तरह की पालिसी "फ्लोटिंग्" (Floating) पालिसी कहलाती है। और जब उस पर जहाज़ का नाम लिख दिया जाता है तब वह "नेम्ड" (Named Policy) कही जाती है। जहाज़ से जाने वाले माल का जो बीमा कराना चाहता है उसे इस बात का सबूत देना पड़ता है कि वह माल उसी का है। इस लिए उसे उस माल का चालान आदि दिखला कर बीमावालों की दिलजमई करनी पड़ती है।

किसी जहाज़ या उसमें लदे हुए माल को जो हानि पहुँचती है उसकी सूचना जहाज़ वाले देते हैं। किस तरह नुक़सान हुआ और कितना नुक़सान हुआ, सो सब वे एक काग़ज़ पर यथानियम लिखते हैं। हानियाँ दो तरह की मानी गई हैं—एक साधारण हानि, दूसरी विशेष हानि। यदि समुद्र में तूफ़ान आवे और जहाज़ हलका करने के लिए कुछ माल पानी में फेंक दिया जाय तो उसे साधारण हानि कहेंगे; क्योंकि वह सब के भले के लिए की गई। परन्तु यदि कोई ऐसी हानि हो जाय जिसके कारण किसी और का कुछ भी भला न होता हो तो उसे विशेष हानि कहेंगे। उदाहरणार्थ जहाज़ ख़राब हो जाने, या उसे चलाने और लदे हुए माल को अच्छी तरह रखने में कर्म्मचारियों की असावधानता होने, आदि से जो हानि होती है वह विशेष हानि कहलाती है। किस तरह की हानि हुई है—इसका निर्णय करने, और कितने रुपये की हानि हुई है—इसका हिसाब लगाने वाले लोग अलग होते हैं। उन्हीं के फैसले को बीमा वालों और बीमाकारियों को मानना पड़ता है। जितने की हानि वे कूत देते हैं उतनी ही का मुआविज़ा बीमा वाली कम्पनियाँ देती हैं। इन दो तरह की हानियों में प्रत्येक प्रकार की हानि का निर्ख़ जुदा जुदा होता है।

अभी तक वारि-बीमे से इस देश के व्यापारी बहुत कम फ़ायदा उठाते थे। पर अब इसका भी चलन चलने लगा है। बम्बई और कलकत्ते आदि

के बड़े बड़े व्यापारी, जो चीन, जापान और योरप, अमेरिका को माल भेजते हैं, बहुधा अपने माल का वारि-बीमा करा देते हैं। परन्तु विदेशी व्यापारी ही इस बीमे को अधिक कराते हैं। इस देश के व्यापारियों में बहुत कम ऐसे हैं जो अपने नाम से ख़ुद ही विदेश माल भेजते हों और वहाँ अपने ही अढ़तियों की मारफ़त बेचते हों।

जैसे जहाज़ों से भेजे गये माल का बीमा होता है वैसे ही ख़ुद जहाज़ों का भी बीमा होता है। बीमा किये गये जहाज़ यदि टूट फूट जायँ या बिलकुल ही डूब जायँ तो बीमा-कम्पनियाँ जहाज़ों के मालिकों को उनका मुआविज़ा देती हैं।

जीवन-बीमा ।

और बीमों की अपेक्षा हम लोग जीवन-बीमे से अधिक परिचित हैं। इस देश में उसका अधिक चलन है। जीवन-बीमे का काम करने वाली कई कम्पनियाँ इस देश में हैं। ख़ुद गवर्नमेंट जीवन-बीमे का काम करती है। डाकख़ाने के महकमे में यह काम होता है। पर अपने मुलाज़िमों को छोड़ कर औरों का जीवन-बीमा गवर्नमेंट नहीं करती। पण्डित श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र का जीवन-बीमा-विषयक एक लेख "सरस्वती" में प्रकाशित हो चुका है। उसमें इस विषय का अच्छा विचार किया है। अतएव उसी का भावार्थ हम यहाँ पर देते हैं। जीवन-बीमा लोग अक्सर कराते हैं। इसी से हम इस विषय को ज़रा विस्तार से लिखना चाहते हैं।

जीवन-बीमा वाली कम्पनियाँ मनुष्य के जीवन की ज़िम्मेदारी सी लिये रहती हैं। यदि बीमा किये गये आदमियों में से कोई आदमी बीमे की मीयाद के अन्दर मर जाय, या मीयाद के दिन पार कर जाय, तो बीमे की कम्पनी उसे, अथवा उसके वारिसों को, अथवा जिसे वह कह दे उसको, एक निश्चित रक़म देती है। इस बीमे या ज़िम्मेदारी के बदले कम्पनी उन लोगों से कुछ सामयिक चन्दा लेती है।

बीमों के नियम जुदा जुदा होते हैं। पर विशेष करके दो तरह के बीमे

देखने में आते हैं। एक वे जिनमें बीमा किये गये मनुष्य की मृत्यु पर कम्पनी धन देती है। दूसरे वे जिनमें किसी निश्चित उम्र तक (अधिकतर ५०, ५५ या ६० वर्ष की उम्र तक) जीवित रहने से, स्वयं बीमा किये गये मनुष्य, या मीयाद के पहले ही उसके मर जाने से उसके वारिसों को, कम्पनी नियत धन अदा करती है। पहली सूरत में उस मनुष्य को अपने जीवन-पर्य्यन्त, और दूसरी सूरत में निश्चित उम्र तक या उसके पहले ही मर जाने से मरने के समय तक, अपना सामयिक निश्चित चन्दा अदा करते रहना चाहिए। नियत समय पर चन्दा न पहुँचने से बीमा, नियमानुसार, टूट जा सकता है; और जो रुपया उस समय तक अदा किया गया हो उस से या तो उस आदमी को एकदम ही हाथ धोना पड़ता है, या नियमानुसार जैसा उचित हो किया जाता है। इनके सिवा और भी कई तरह के बीमे होते हैं; पर यहाँ पर हम इन्हीं दो तरह के बीमों की बात कहेंगे। क्योंकि उचित फेरफार करने से इनकी सब बातें और तरह के बीमों पर भी प्रायः घटित होती हैं।

बहुधा देखा गया है कि ५००० रुपये का जीवन-बीमा कराने वालों को निम्न-लिखित हिसाब के लगभग मासिक चन्दा देना पड़ता है:—

(क) यदि ५५ साल की उम्र पर, या उसके पहले मृत्यु हो जाने से तत्काल, कम्पनी को रुपया अदा करना पड़े—

यदि आगामी जन्म-दिन पर २५ साल पूरे हों तो १५ से १७ रुपये मासिक देना पड़ता है।

,,	,,	३०	,,	१८ से १९	,,
,,	,,	३५	,,	२२ से २३॥	,,
,,	,,	४०	,,	२९॥ से ३१	,,
,,	,,	४५	,,	४५ से ४६॥	,,

(ख) यदि मरने पर ही बीमे का रुपया मिलना हो—

यदि आगामी जन्म-दिन पर २५ साल पूरे हों तो ११ से १२ रुपये मासिक देना पड़ता है।

,,	,,	३०	,,	१२॥ से १३	,,
,,	,,	३५	,,	१३॥ से १४॥	,,

यदि आगामी जन्म-दिन पर ४० साल पूरे हों तो १२॥ से १६॥ रुपये मासिक देना पड़ता है ।
,, ,, ४५ ,, १८ से १९ ,, ,,

इस हिसाब से स्पष्ट है कि जितनी ही कम उम्र में बीमा कराया जाय उतना ही कम मासिक, या अन्य सामयिक, चन्दा देना पड़े । क्योंकि सम्भावना यही रहती है कि वह मनुष्य उतने ही अधिक दिन तक जीता रहेगा और कम्पनी को उतनी ही अधिक क़िस्तें अदा करेगा । केवल मृत्यु पर हिसाब बन्द करनेवाले की अपेक्षा ५५ साल पूरे होने, या उसके पहले ही मृत्यु हो जाने से तत्काल, बीमे का रुपये लेने वाले की सामयिक क़िस्त का रुपया अधिक होना ही चाहिए; क्योंकि ५५ साल के बाद वह अवश्य ही चन्दा देना बन्द कर देगा । परन्तु पहले प्रकार के बीमे वाला आदमी, सम्भव है, ७०—८० अथवा ९० वर्ष तक चन्दा देता ही चला जाय । ऊपर दिये हुए हिसाब से पाठक यह भी स्वयं जान सकते हैं कि १००० रुपये से लेकर १०—१५ हज़ार तक का बीमा कराने में सामयिक चन्दा प्रायः कितना देना पड़ेगा । इसलिए अधिक ब्यौरा देने की यहाँ आवश्यकता नहीं ।

बीमे से लाभ ।

सबसे बड़ा, और प्रायः एक मात्र वास्तविक, लाभ बीमे से यह है कि जो लोग नौकरी पेशा हैं, और घर के मालदार नहीं हैं, एवं थोड़ी तनख़्वाह होने, अथवा किसी और कारण से अपने परिवार के लिए कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकते, जिससे उनकी अकालमृत्यु कम उम्र में हो जाने पर. उनके कुटुम्ब को कष्ट न भोगना पड़े, वे लोग २—३ हज़ार का जीवन-बीमा कराके इसका प्रबन्ध कर सकते हैं । दस बीस रुपये से लेकर प्रायः १००-१२५ रुपये मासिक तक की आमदनी वाले इस प्रकार के लोगों को जीवन-बीमा करा लेना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है । न जाने कब शरीर छूट जाय और बिना बीमा के, सम्भव है, स्त्री और बच्चे टके टके को इधर उधर भटकते फिरें । बीमा करा लेने से लड़के वालों को बहुत कम चिन्ता रह जाती है । इससे चित्त को बहुत कुछ शान्ति मिलती है । थोड़ी

आमदनी वालों को कोई अच्छी रक़म जमा कर लेना बहुत ही कठिन काम है।

प्राय: देखा गया है कि कम आमदनीवाले लोग कुछ भी नहीं बचा सकते। इधर आया, उधर उड़ा। उनका रुपया यों ही उठ जाता है और बचत खाता प्राय: कोरा ही रह जाता है। अथवा यदि थोड़ा सा रुपया जमा भी हुआ तो लड़के लड़कियों के काम-काज में ख़र्च हो जाता है। जीवन-बीमा करा लेने से ऐसे लोगों को, लाचार होकर, कम्पनी को क़िस्त देने के लिए कुछ बचत करनी ही पड़ती है। उससे उन्हें कुछ विशेष कष्ट भी नहीं होता। क्योंकि वास्तविक आमदनी में से बीमे के मासिक चन्दे को घटा कर जो कुछ शेष रह जाता है उसी को वे लोग अपनी असल आमदनी समझते हैं। "इन्कम-टैक्स" की तरह वह चन्दा भी आमदनी खाते में मानो जोड़ा ही नहीं जाता। यदि कहिए कि बिना ऐसे बन्धन के ही कोई निश्चित रक़म हर महीने क्यों न बचा रक्खी जाय? तो यह बात उन लोगों से नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें इतना दृढ़ निश्चय जो नहीं। फिर समय समय पर, अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं जिन्हें दूर करने के लिए रुपये की ज़रूरत पड़ती है। इससे बीमा करा लेने से एक निश्चित रक़म बचा रखने का द्वार खुल जाता है, और वह कुछ खलता भी नहीं।

आफ़त-बिपत में बीमे की "पालिसी" काम भी आ सकती है। उसके आधार पर मुनासिब सूद पर क़र्ज़ मिल सकता है। संभव है, ज़रूरत पड़ने पर, बिना "पालिसी" के क़र्ज़ न मिलता; फिर चाहे इज़्ज़त ही क्यों न मिट्टी में मिल जाती।

अपने पास, अथवा बैंक आदि में, जमा किया हुआ रुपया, थोड़ी सी भी ज़रूरत पड़ने पर, उठ जाता है। पर बीमे में लगा हुआ रुपया मीयाद के पहले नहीं मिलता। इससे उसका ख़र्च हो जाना कठिन है।

अकाल-मृत्यु हो जाने पर बीमे से अच्छा लाभ हो जाना भी सम्भव है। यद्यपि ऐसा लाभ उठाना कदाचित् कोई भी पसन्द न करेगा; तथापि, होनहार हो जाने पर, एक अच्छी रक़म हाथ लग जाने से लड़के बालों के थोड़े बहुत आँसू पुछ ही जाते होंगे। इस प्रकार के लाभ के लिए

बीमा किया गया मनुष्य जितना ही जल्द मर जाय उतना ही अधिक लाभ होता है ।

अधिकांश सरकारी नौकरों और अन्य प्रकार के लोगों को पेन्शन इत्यादि के कारण स्वयं अपनी विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती । पर जिन लोगों को ऐसा अवलम्ब न हो, उन्हें अपने ही बुढ़ापे के विचार से, ५५ या ६० साल की उम्र वाला बीमा करा लेना उचित कहा जा सकता है । ऐसे ही और कई लाभ बीमे से हो सकते हैं ।

बीमे से हानियाँ ।

यों तो बहुत सी हानियाँ संभव हैं; पर हम यहाँ पर केवल एक ही हानि का उल्लेख कर देना बस समझते हैं । क्योंकि एक तो वास्तविक हानि केवल इसी को कह सकते हैं, दूसरे एक मात्र यह हानि अनेक मनुष्यों को सभी लाभों से वञ्चित रखती है । वह हानि यह है कि बीमा करानेवालों को विशेष सम्भावना आर्थिक हानि ही की होती है, लाभ की नहीं । प्रायः पचीस तीस वर्ष के ही मनुष्य जीवन-बीमा कराते हैं । उसके पहले बीमे की बात ही कहाँ ? बीमा करने के पहले कम्पनियाँ सब लोगों की भली भाँति डाक्टरी परीक्षा करा लेती हैं । इसके सिवा बीमा वही कराता है जो खाने पीने से सुखी होता है । अतः इस उम्र के तन्दुरुस्त आदमियों में से हज़ार में पचास साठ चाहे भले ही जल्द मर जायँ; पर, अधिकांश, कम से कम, साठ पैंसठ साल की उम्र तक अवश्य ही जीवित रहेंगे । और, सम्भव है, कि सौ डेढ़ सौ आदमी ७० और ८० वर्ष तक भी पहुँच जायँ । क्योंकि ख़ूब तन्दुरुस्त आदमी, बीस पचीस साल की उम्र हो जाने पर शीघ्र नहीं मरते । हैज़ा, प्लेग, बुख़ार इत्यादि सभी बलायें सर्व-साधारण मनुष्यों में से, जिनमें नव-जात बच्चों से लेकर सौ वर्ष के बुड्ढे तक शामिल हैं, प्रति हज़ार केवल ३५ से लेकर कुछ कम ४५* तक ही मनुष्यों को, वर्ष भर में, काल-कवलित कराने में समर्थ होती हैं । पर यदि २५ से ६० वर्ष वालों की मृत्यु का लेखा

* सन् १९०१ ईसवी की भारतीय मनुष्य-गणना की रिपोर्ट, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ ४७६ देखो ।

अलग लगाया जाय और उसमें केवल वही लोग जोड़े जायँ जो जीवन-बीमा कराने का सामर्थ्य रखते हों (क्योंकि सैकड़े पीछे केवल दस ही पन्द्रह मनुष्य ऐसे निकलेंगे, और, शेष, थोड़ी हैसियत रखने अथवा बुरे स्वास्थ्य के कारण गणना के बाहर ही रह जायँगे) तो हज़ार पीछे, साल भर में, मृत्युसंख्या कदाचित् तीन-चार मनुष्यों से अधिक न निकलेगी। अतः यह स्पष्ट है कि बीमा किये गये मनुष्यों में से हज़ार पीछे तीन, चार या पाँच से अधिक मनुष्य प्रति वर्ष कम उम्री में न मरते होंगे। और बीमा-कम्पनियों को कदाचित् सौ दो सौ बीमा किये गये मनुष्यों में से, साल भर में, केवल एक ही आध आदमी के कारण विशेष हानि उठानी पड़ती होगी। शेष मनुष्य उनके कोश को बराबर बढ़ाते ही रहते होंगे। इन बातों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि बीमा कराने वालों को आर्थिक—हानि का होना बहुत सम्भव है। पर आर्थिक लाभ बहुत कम है और वह लाभ भी कैसा कि जानहीं पर बीत जाय! इससे जिन लोगों के घर में खाने भर का भी सुभीता हो, जिनकी कम उम्री में अकाल-मृत्यु हो जाने पर उनके लड़के बालों के पालन-पोषण की तकलीफ़ होने का खटका न हो, जो ऐसे दृढ़चित्त न हों कि बिना किसी विशेष बन्धन के उन्हें बचा रखना असंभव सा हो, और जिन्हें मृत्यु पर जुआ खेलने की लोलुपता न हो, उनको जीवन-बीमा कराना, जब तक कि कोई गुप्त भेद न हो, एकदम अनावश्यक, अनुपकारी और हानिकर समझना चाहिए।

नीचे हम केवल दो नक़शे दिये देते हैं जिनपर ध्यान देने से पाठकों को हानि-लाभ का ब्यौरा अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा। इनमें दोनों बीमे पाँच पाँच हज़ार रुपये के, तीस वर्ष की अवस्था में कराये गये, माने गये हैं। इन में से पहले में ५५ साल पूरे होने अथवा उसके पहले मृत्यु हो जाने पर तत्कालही, रुपया पाने की शर्त है; और दूसरे में केवल मृत्यु के बाद। हमने इनमें ब्यौरेवार दिखा दिया है कि बीमा कराने के बाद कितने दिनों में मर जाने से कितना रुपया उस समय तक देना पड़ेगा और उससे क्या लाभ अथवा हानि होगी। पहली क़िस्त अदा करने के साल भर पीछे से साल साल का सूद हमने केवल ४ रुपये सैकड़े सालाना के हिसाब से जोड़ा है। यद्यपि इससे अधिक सूद बहुत प्रामाणिक बैंकों से मिल सकता है और ज़मींदारी ख़रीद लेने से कम से कम ५ रुपये सैकड़ा सालाना मुनाफ़ा होता है और पन्द्रह बीस वर्ष में उसका मूल्य ड्योढ़ा दूना हो जाना सम्भव है।

नक़्शा १

२५ साल, या उससे पहले मृत्यु होने पर तत्काल, बीमे का रुपया मिले। ३० साल की उम्र में ५००० रुपये का बीमा। मासिक चन्दा १८॥) रुपये, वार्षिक २२२ रुपये।

बीमा कराने के जितने साल बाद मनुष्य मरे	उस समय तक कितना रुपया देना पड़ा — पिछले साल की रक़म	उस पर ४ रुपये फ़ी सदी सालाना सूद	वर्तमान साल की क़िस्त	जोड़	मुनाफ़ा या घाटा		कैफ़ियत
	रुपया	रुपया	रुपया	रुपया	रुपया		
१	...	...	२२२	२२२	४७७८	मुनाफ़ा	१ से १६ साल के भीतर, अर्थात् ३१ से ४६ वर्ष की अवस्था में मर जाने से लाभ होगा। उसके आगे हानिही हानि है।
२	२२२	९	२२२	४५३	४५४७	,,	
३	४५३	१८	२२२	६९३	४३०७	,,	
४	६९३	२८	२२२	९४३	४०५७	,,	
५	९४३	३८	२२२	१२०३	३७९७	,,	
६	१२०३	४८	२२२	१४७३	३५२७	,,	
७	१४७३	५९	२२२	१७५४	३२४६	,,	
८	१७५४	७०	२२२	२०४६	२९५४	,,	
९	२०४६	८२	२२२	२३५०	२६५०	,,	
१०	२३५०	९४	२२२	२६६६	२३३४	,,	
११	२६६६	१०६	२२२	२९९४	२००६	,,	
१२	२९९४	१२०	२२२	३३३६	१६६४	,,	
१३	३३३६	१३३	२२२	३६९१	१३०९	,,	
१४	३६९१	१४८	२२२	४०६१	९३९	,,	
१५	४०६१	१६२	२२२	४४४५	५५५	,,	
१६	४४४५	१७८	२२२	४८४५	१५५	,,	
१७	४८४५	१९४	२२२	५२६१	२६१	घाटा	
१८	५२६१	२१०	२२२	५६९३	६९३	,,	
१९	५६९३	२२८	२२२	६१४३	११४३	,,	
२०	६१४३	२४६	२२२	६६११	१६११	,,	
२१	६६११	२६४	२२२	७०९७	२०९७	,,	
२२	७०९७	२८४	२२२	७६०३	२६०३	,,	
२३	७६०३	३०४	२२२	८१२९	३१२९	,,	
२४	८१२९	३२५	२२२	८६७६	३६७६	,,	
२५	८६७६	३४७	२२२	९२४५	४२४५	,,	

कैफ़ियत (१७ से २५): १७ वें साल, अर्थात् ४७ साल की उम्र से घाटा होना शुरू हुआ। अतएव यदि इस तरह का बीमा करानेवाला आदमी ५५ साल जी जाय तो कम्पनी को उससे ४२४५ रुपये का लाभ हो। अर्थात् यदि वह आदमी २५ साल तक जीता रहै और ५५ साल का हो जाय तो उस समय तक वह बीमा कम्पनी को ९२४५ रुपये दे चुकेगा और केवल ५००० रुपये पावेगा। इस तरह पर ४२४५ रुपये के घाटे में रहेगा।

नक़्शा २

मृत्यु ही पर बीमे का रुपया मिले।

३० साल की उम्र में ५००० रुपये का बीमा। मासिक चन्दा १२॥।) रुपये, वार्षिक १५३ रुपये।

बीमा कराने के जितने साल बाद मनुष्य मरे	उस समय तक कितना रुपया देना पड़ा				मुनाफ़ा या घाटा	कैफ़ियत
	पिछले साल की रक़म	उस पर ४ रुपये फ़ी सदी सालाना सूद	वर्तमान साल की क़िस्त	जोड़		
	रुपया	रुपया	रुपया	रुपया	रुपया	
१	...	...	१५३	१५३	४८४७ मुनाफ़ा	२१ साल तक, अर्थात् ५१ साल की उम्र तक मर जाने से लाभ है। इसके बाद जीवन-पर्य्यन्त हानि ही हानि है। जितना ही मनुष्य अधिक ज़िन्दा रहे उतनी ही अधिक हानि !
२	१५३	६	१५३	३१२	४६८८ ,,	
३	३१२	१२	१५३	४७७	४५२३ ,,	
४	४७७	१९	१५३	६४९	४३५१ ,,	
५	६४९	२६	१५३	८२८	४१७२ ,,	
६	८२८	३३	१५३	१०१४	३९८६ ,,	
७	१०१४	४०	१५३	१२०७	३७९३ ,,	
८	१२०७	४८	१५३	१४०८	३५९२ ,,	
९	१४०८	५६	१५३	१६१७	३३८३ ,,	
१०	१६१७	६४	१५३	१८३४	३१६६ ,,	
११	१८३४	७३	१५३	२०६०	२९४० ,,	
१२	२०६०	८२	१५३	२२९५	२७०५ ,,	
१३	२२९५	९२	१५३	२५४०	२४६० ,,	
१४	२५४०	१०२	१५३	२७९५	२२०५ ,,	
१५	२७९५	११२	१५३	३०६०	१९४० ,,	
१६	३०६०	१२२	१५३	३३३५	१६६५ ,,	
१७	३३३५	१३३	१५३	३६२१	१३७९ ,,	
१८	३६२१	१४५	१५३	३९१९	१०८१ ,,	
१९	३९१९	१५७	१५३	४२२९	७७१ ,,	
२०	४२२९	१६९	१५३	४५५१	४४९ ,,	
२१	४५५१	१८२	१५३	४८८६	११४ ,,	
२२	४८८६	१९५	१५३	५२३४	२३४ घाटा	५१वें साल से हानि शुरू
३०	८०९५	३२४	१५३	८५७२	३५७२ ,,	६० वाँ साल
३५	१०६७७	४२७	१५३	११२५७	६२५७ ,,	६५ वाँ साल
४०	१३८१७	५५२	१५३	१४५२२	९५२२ ,,	७० वाँ साल
४५	१७६३८	७०५	१५३	१८४९६	१३४९६ ,,	७५ वाँ साल
५०	२२२८७	८९१	१५३	२३३३१	१८३३१ ,,	८० वाँ साल

क्या किसी तन्दुरुस्त आदमी का ८० वर्ष तक जीता रहना असंभव है? कम से कम ६०—६५ तक तो वह अवश्य ही चलेगा। सो उसे ६० वर्ष की उम्र में मरने पर साढ़े तीन हज़ार, और ६५ वर्ष की उम्र में मरने पर सवा छः हज़ार का घाटा होना संभव है। और जो कहीं वह ८० वर्ष तक जी गया तब तो सवा अठारह हज़ार के मत्थे जायगी। कम से कम इन नक़शों से इतना तो ज़रूर ज़ाहिर होता है कि बीमा करानेवालों को कुछ न कुछ आर्थिक-हानि ही की अधिक संभावना रहती है। अतः बिना विशेष आवश्यकता के बीमा कराना भूल है। पर आवश्यकता होने से बीमा ज़रूर करा लेना चाहिए; अन्यथा संभव है कि बुढ़ापे में आदमी ख़ुदही, या उसकी अकाल मृत्यु होने से उसके लड़के बाले, एक एक कौड़ी के लिए मारे मारे फिरें। हानि का तो यह हाल है कि पहले नक़शे के अनुसार ४७ वें और दूसरे के अनुसार ५२ वें साल सेही बीमा किये गये मनुष्य हानि उठाने लगते हैं! भला इस घाटे का कहीं ठिकाना है!! और जो कहीं कोई दूसरे नक़शेवाला आदमी ८०—८५ वर्ष तक जी गया तो वह तो मानों बीमा-कम्पनी के लिए कल्पवृक्ष ही होगया!!!

बहुत सी कम्पनियाँ कुछ दिनों के बाद कुछ सूद भी देने लगती हैं। बहुतेरी अपने मुनाफ़े का कुछ अंश भी देती हैं। औरों में अन्य प्रकार के लाभ दिखलाये जाते हैं। पर जाँच और हिसाब करने पर प्रत्यक्ष ज्ञात हो जायगा कि बीमा कराने वाले को सदा हानि ही की संभावना अधिक रहती है। और ऐसा तो होनाही चाहिए। क्योंकि कम्पनियाँ बीमे का काम व्यवसाय के तौर पर करती हैं; किसी पर कुछ एहसान करने या किसी को मदद पहुँचाने के इरादे से नहीं। अतः वे अवश्य ही अपने लाभ की तरफ़ ध्यान रक्खेंगी। जो कम्पनियाँ आपको अपना हिस्सेदार बनावेंगी उन में भी जाँच से कुछ ऐसे ही पेंच निकलेंगे जिनके कारण उनके वास्तविक संचालकों को कुछ न कुछ फ़ायदा ज़रूर होता होगा। इससे सब बातों को ख़ूब सोच विचार कर बीमा कराना चाहिए।

हमारी समझ में (१) केवल उन्हीं लोगों को बीमा कराना चाहिए जिनको बुढ़ापे में स्वयं उनके अथवा अकाल मृत्यु हो जाने से उनके बाल-बच्चों

के भूखों मरने का खटका हो । उन्हें भी केवल उतने रुपये का बीमा कराना चाहिए जितना भरण-पोषण के लिए आवश्यक हो । (२) तमाम उम्रवाले की अपेक्षा ५५ साल वाला बीमा अधिक अच्छा है; क्योंकि उस में बहुत अधिक हानि नहीं होसकती । पर हाँ उस रुपये को, मिल जाने पर आपत्काल के लिए रखले; चाट न जाय । (३) धन-सम्पन्न लोगों को इस झगड़े में न पड़ना चाहिए ।

बीमा-कम्पनियों के एजंटों की बातों में न पड़ना चाहिए । उनकी बातों से तो यही जान पड़ता है कि बीमा-कम्पनियाँ मानों धर्म्मशाला या सदावर्त्त खोले बैठी हैं । उनकी बातें ऐसी होनीहीं चाहिए । क्योंकि उन्हें तो आपको किसी न किसी तरह फँसा कर अपना कमीशन झटकना है । सेठ फलाँदास करोड़पती के बीमा कराने की बात एजंट के मुँह से सुन कर बीमा कराने न दौड़ना चाहिए । न मालूम उस करोड़पती ने क्या समझ कर बीमा कराया हो । अपना हानि-लाभ खुद सोच कर बीमा कराने या न कराने का निश्चय करना चाहिए ।

तीसरा भाग।

व्यापार।

पहला परिच्छेद।

व्यापार से लाभ।

संस्कृत में एक शब्द "वणिक्" है। उसका अर्थ है क्रय-विक्रय, अर्थात् ख़रीद-फ़रोख़्त, करनेवाला। वणिग्वृत्ति का नाम वाणिज्य है। अर्थात् बनिये का व्यवसाय या काम वाणिज्य कहलाता है। क्रय-विक्रय करने वालों का यथार्थ नाम वणिक् होना ही चाहिए; परन्तु हिन्दी में "व्यापारी" शब्द का ही अधिक प्रयोग होता है और व्यापारियों की वृत्ति, अर्थात् रोज़गार या धन्धा, व्यापार कहलाता है। इसीसे हमने इस भाग का नाम "वाणिज्य" न रखकर "व्यापार" रक्खा है।

मनुष्य को न मालूम कितनी चीज़ें दरकार होती हैं। पर वह उन सब को ख़ुदही नहीं बना सकता। जितनी व्यावहारिक चीज़ें हैं उनमें से सैकड़ों ऐसी हैं जिन्हें उपार्जन करने के लिए उसे औरों का मुँह देखना पड़ता है—औरों का आश्रय लेना पड़ता है। किसी किसान के पास जाकर आप पूँछिए कि तुम अपने पहनने के कपड़े, या सोने की चारपाई, या जोतने का हल आप ही क्यों नहीं बना लेते? यदि वह समझदार है तो फ़ौरन जवाब देगा कि मुझे इन चीज़ों के बनाने का अभ्यास नहीं। यदि मैं व्यवहार की सारी चीज़ें बनाने का अभ्यास करूँ तो बहुत समय लगे और फिर भी शायद मैं सब चीज़ें अच्छी न बना सकूँ। यदि कपड़े लत्ते बनाने ही में मेरा बहुत सा समय चला जायगा तो मैं अपना किसानी का काम न कर सकूँगा। फिर हल, फाल, चारपाई और कपड़े बनाने के लिए कितने हीं

औज़ार दरकार होते हैं । उनको मोल लेने के लिए बहुत सा रुपया चाहिए । वह कहाँ से आवेगा । एक हल, एक चारपाई या एक जोड़ा धोती बनाने के लिए जितने औज़ार और जितनी चीज़ें दरकार होती हैं उतनी हीं से सैकड़ों हल, सैकड़ों चारपाइयाँ और बहुत से कपड़े तैयार हो सकते हैं । अतएव यदि मैं वे सब चीज़ें मोल ले भी लूँ तो भी उनका यथेष्ट उपयोग न कर सकूँगा । जितना रुपया मुझे औज़ार आदि ख़रीदने में ख़र्च करना पड़ेगा उतने में मैं कई हल, कई चारपाइयाँ और कई जोड़े धोतियाँ ख़रीद कर सकता हूँ । इससे, बेहतर यही है कि जो लुहार हल बनाता है वह हल बनाने ही का व्यवसाय करे; जो बढ़ई चारपाइयाँ बनाता है वह चारपाइयाँ ही बनावे; और जो जुलाहा धोती जोड़े तैयार करता है वह वही काम करे । मैं भी अपना किसानी ही का काम करता रहूँगा और जब जब इन लोगों की बनाई हुई चीज़ें दरकार होंगी तब तब उनसे मोल ले लिया करूँगा ।

इससे सिद्ध है कि जो हल बनाता है उसे हल बनाने ही में फ़ायदा है; जो चारपाइयाँ बनाता है उसे उसी में फ़ायदा है ; जो कपड़े तैयार करता है उसे भी उसी में फ़ायदा है । जो जिस चीज़ को बनाता या उत्पन्न करता है वह और चीजें उनके बदले में प्राप्त करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है । इसी में समाज का कल्याण है; इसी में हर आदमी का भी कल्याण है । मनुष्य जैसे जैसे अधिक सज्ञान, सभ्य और सुशिक्षित होता जाता है वैसे ही वैसे वह इस अदला-बदल के व्यापार को बढ़ा कर फ़ायदा उठाता है । अफ़रीक़ा के जङ्गली आदमियों को देखिए । वे अब तक असभ्य अवस्था में हैं । वे अपने खेत आप ही जोतते हैं; अपने हल, फाल भी आपही बनाते हैं; अपने तीर, कमान भी आपही बनाते हैं; और रहने के लिए झोपड़ियाँ भी आपही तैयार करते हैं । ये बातें उनकी असभ्यता की सूचक हैं । इससे उन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं । इससे उनकी सामाजिक उन्नति में बड़ी बाधा आती है । इससे ही उन्हें दारिद्र भोग करना पड़ता है । जहाँ सब लोग अपने सारे काम आप ही करते हैं वहाँ सब का काम बिगड़ता है । कोई किसी काम को अच्छी तरह नहीं कर सकता ।

जिस तरह हम लोग एक गाँव या एक शहर में, अथवा आस पास के गावों और शहरों में, अपनी बनाई हुई चीज़ें देकर, ज़रूरत के अनुसार, दूसरों की बनाई हुई चीज़ें लेते हैं, उसी तरह अपनी चीज़ों के बदले सुदूर-वर्त्ती प्रान्तों से भी हम आवश्यक चीज़ें प्राप्त करते हैं। हिन्दुस्तान में कहीं गेहूँ बहुत पैदा होता है, कहीं चावल। कहीं रुई अधिक होती है, कहीं शकर। अतएव जो चीज़ जिस प्रान्त में अधिक होती है वह उसी प्रान्त से आती है। इससे बड़ा सुभीता होता है। जो चीज़ जहाँ अच्छी होती है उसी को पैदा करके उस प्रान्त वाले और प्रान्तों को भेजते हैं और फ़ायदा उठाते हैं। अनावृष्टि आदि कारणों से जिस प्रान्त की खेती मारी जाती है उस प्रान्त में यदि और प्रान्तों से अनाज न जाय तो वहाँ वालों को भूखों मरने की नौबत आवे। यह पदार्थों के अदला-बदल, अर्थात् व्यापार ही, की कृपा का फल है जो ऐसे कठिन समय में भी मौत के मुँह से मनुष्यों की रक्षा होती है।

पृथ्वी पर अनेक देश हैं। उनकी भूमि, उनकी आबोहवा, उनकी लोक-रीति एक सी नहीं; सब जुदा जुदा हैं। जो चीज़ें इस देश में होती हैं वे उस देश में नहीं होतीं, जो काम इस देश के आदमी कर सकते हैं वह उस देश के नहीं कर सकते। पर प्रसङ्ग पड़ने पर मनुष्यों को सब तरह की चीज़ों की ज़रूरत होती है। अतएव जैसे एक ही देश में एक प्रान्त की चीज़ों को दूसरे प्रान्त में ले जाना पड़ता है, वैसेही एक देश की चीज़ों को दूसरे देश में भी ले जाना पड़ता है। इसी अदला-बदल का नाम व्यापार है। बिना व्यापार के सभ्य आदमियों का काम नहीं चल सकता; असभ्यों का चाहे भले चल जाय। पर सभ्य और शिक्षित लोगों के सम्पर्क से अब असभ्य जङ्गली भी चीज़ों का अदला-बदल करने लगे हैं। जैसे जैसे मनुष्य सभ्य और शिक्षित होता जाता है तैसे ही तैसे उसकी ज़रूरतें बढ़ती जाती हैं; अतएव व्यापार की वृद्धि होती जाती है। आज तक हिन्दुस्तान को भाफ़ से चलने वाले यंत्रों की ज़रूरत न थी। पर अब यह ज़रूरत प्रति दिन बढ़ती जाती है। रेल, बड़े बड़े पुतलीघर और छापेख़ाने, जो जारी हैं, बिना ऐसे यंत्रों के नहीं चल सकते। ऐसे यंत्र बनाने के लिए लोहा, कोयला और

शिल्पज्ञान चाहिए। ये बातें इँगलेंड और अमेरिका आदि में यथेष्ट हैं। इससे इस तरह के यंत्र वहीं अच्छे बनते हैं। हिन्दुस्तान में वे अभी नहीं बन सकते; अतएव वहीं से लाने पड़ते हैं। इसी तरह रुई, रेशम और जूट आदि चीज़ें हिन्दुस्तान में जैसी अच्छी होती हैं, इँगलेंड में वैसी नहीं होतीं। अतएव वे यहाँ से इँगलेंड जाती हैं। व्यापार की बदौलत एक देश की चीज़ें दूसरे देशों में जाती हैं और दोनों देशों को फ़ायदा पहुँ-चाती हैं।

किसी किसी का ख़याल है कि पदार्थों के अदला-बदल, अर्थात् व्यापार, से यदि यह मान लिया जाय कि ज़रूर ही फ़ायदा होता है, तो एक का फ़ायदा होने से दूसरे का नुक़सान होना ही चाहिए। एक यदि धनवान् हो जायगा तो दूसरा ज़रूर ही लुट जायगा। व्यापार से दोनों का फ़ायदा एकही साथ नहीं हो सकता। व्यापार कोई ऐसी चीज़ नहीं जिससे कोई चीज़ नई पैदा हो सकती हो। वह केवल रुपया कमाने या औरों को लूटने की एक कुञ्जी है।

इस तरह का आक्षेप निर्मूल है—सर्वथा भ्रमात्मक है। व्यापार से यद्यपि नई चीज़ें नहीं पैदा होतीं, तथापि उनमें एक प्रकार की विशेषता ज़रूर आजाती है; उनके गुणों की वृद्धि ज़रूर हो जाती है। सब लोगों को सब चीज़ें नहीं दरकार होतीं। कल्पना कीजिए कि किसी के पास कई लोटे हैं; उन सब की उसे ज़रूरत नहीं। दूसरे के पास दस थान मारकीन के हैं; परन्तु उस समय उसके पास पहनने ओढ़ने के लिए काफ़ी कपड़े-लत्ते हैं। इस लिए वह मारकीन उसे दरकार नहीं। अब यदि लोटे वाले को मार-कीन दरकार हो और मारकीन वाले को लोटे, तो दोनों को अपनी अपनी चीज़ का अदला-बदल करना चाहिए। इस तरह के अदला-बदल से लोटे और मारकीन, दोनों चीज़ें, उपयोग में आजायँगी। इस से एकही को फ़ायदा न पहुँचेगा, दोनों को पहुँचेगा। दोनों की ज़रूरत रफ़ा होगी। ऐसा कदापि न होगा कि इस अदला-बदल से एक का फ़ायदा हो, दूसरे का नुक़सान। यदि दो में से किसी के भी नुक़सान की संभावना होगी तो अदला-बदल होगा ही नहीं।

कोई कोई चीज़ें ऐसी हैं जो किसी विशेष स्थल में सम्पत्ति नहीं कही जा सकतीं। पर वही चीज़ें, किसी दूसरी जगह पहुँचाने से सम्पत्ति हो जाती हैं। इसी तरह कोई कोई चीज़ें किसी मनुष्य के पास रहने से उनकी गिनती सम्पत्ति में नहीं हो सकती; परन्तु दूसरे के पास जाते ही उन्हें सम्पत्ति का रूप प्राप्त होजाता है। व्यापार से नई चीज़ें नहीं पैदा होतीं, परन्तु एक जगह से दूसरी जगह, अथवा एक आदमी के पास से दूसरे के पास, जाने से उन में एक प्रकार की उपयुक्तता—एक प्रकार का उपयोगीपन—ज़रूर आजाता है। अतएव सम्पत्ति की वृद्धि के लिए व्यापार एक बहुत बड़ा साधन है। कत्थे से जङ्गली आदमियों के बहुत ही कम काम निकलते हैं। पर उसी कत्थे को बाज़ार में लाकर जब वे अनाज से बदल लेते हैं तब उस का उपयोगीपन बढ़ जाता है—उसके साम्पत्तिक गुण की वृद्धि हो जाती है। उधर कत्थे की अपेक्षा अनाज से जङ्गली लोगों का भी अधिक काम निकलता है। अतएव सिद्ध है कि व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ होता है। जो काम दो आदमियों के लिए लाभदायक है वह दो देशों, अथवा दो प्रान्तों, के लिए भी लाभदायक होसकता है। दो आदमियों के पास जुदा जुदा दो चीज़ें हैं। जो पहले के पास है वह दूसरे के पास नहीं, और जो दूसरे के पास है वह पहले के पास नहीं। और जिसके पास जो चीज़ नहीं है उसे उसकी ज़रूरत है। इस दशा में हर आदमी अपनी चीज़ में से, जितनी उसे अपेक्षित होगी उतनी रखकर, बाक़ी दूसरे को देदेगा और उसके पास की चीज़ ख़ुद लेलेगा। एक देश या एक प्रान्त में जो चीज़ें होती हैं वे बहुधा दूसरे देश या दूसरे प्रान्त में नहीं होतीं; अथवा एक देश या एक प्रान्त की अपेक्षा दूसरे देश या दूसरे प्रान्त में कम लागत से तैयार होती हैं। इसी से भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न प्रान्तों में भी, भिन्न भिन्न दो आदमियों की तरह, व्यापार शुरू होता है। इस से भी दोनों देशों अथवा दोनों प्रान्तों को लाभ होता है। जिस प्रान्त या जिस देश में जो चीज़ नहीं होती वह उसे व्यापार की बदौलत दूसरे देश या दूसरे प्रान्त से मिलती है। यह क्या कम फ़ायदे की बात है? यञ्जिन इस देश में नहीं बनते। यदि वे विदेश से न मँगाये जाते तो हिन्दुस्तान में रेल न चल सकती। इसी तरह जो चीज़ जिस

देश या जिस प्रान्त में सस्ती मिलती है उसे वहाँ से लाने में भी बहुत फ़ायदा होता है । जहाँ गेहूँ पैदा करने योग्य ज़मीन नहीं है वहाँ उसे पैदा करने की यदि कोशिश की जाय तो बहुत ख़र्च पड़े । इस से वहाँ इस बात की खटपट न करके जहाँ की ज़मीन में अच्छा गेहूँ, बिना विशेष ख़र्च किये ही, पैदा होता है वहीं से मँगाया जाता है । सारांश यह कि व्यापार की बदौलत जैसे ख़रीद-फ़रोख़्त करनेवाले दोनों आदमियों को लाभ होता है, वैसे ही माल बेचने और मोल लेनेवाले देशों और प्रान्तों को भी लाभ होता है ।

जिस समय किसी प्रान्त या देश में अकाल पड़ता है उस समय व्यापार का महत्त्व और भी अच्छी तरह लोगों के ध्यान में आ जाता है । ऐसे दुःसमय में यदि दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रान्त या देश में और प्रान्तों या देशों से अनाज की कटती न हो तो लाखों मनुष्य भूखों मर जायँ ।

व्यापार की बदौलत मनुष्य बहुत जल्द धनवान् हो सकता है । जितने अमीर आदमी दुनिया में हैं उन में से अधिकांश व्यापार ही की कृपा से अमीर हुए हैं । व्यापार वह व्यवसाय है जिसमें लाभ की सीमा नहीं । ऐसे कितने ही उदाहरण वर्त्तमान हैं जिनमें एक टका लेकर घर से निकलने वाले आदमी व्यापार करके थोड़े ही दिनों में लखपती हो गये हैं । इससे यह न समझना चाहिए कि व्यापारी आदमी अनुचित मार्ग से धन संग्रह करते हैं । नहीं, बिना ज़रा भी अन्याय और अनौचित्य का अवलम्ब किये ही व्यापारी आदमी, व्यापार को बढ़ाकर, अनन्त धन पैदा कर सकते हैं । यदि रुपये पीछे एक पैसा मुनाफ़ा लिया जाय तो सौ रुपये में १ रुपया ९ आने मुनाफ़ा हो सकता है । अब यदि एक सौ की जगह एक हज़ार या एक लाख रुपये का माल ख़रीद करके, रुपये पीछे एक पैसा मुनाफ़ा लेकर बेचा जाय, तो बतलाइए कितना लाभ होगा ?

व्यापारी आदमियों के लिए व्यापार का अच्छा ज्ञान होना चाहिए । उन्हें दुनिया भर की ख़बर रखनी चाहिए । कौन चीज़ कहाँ पैदा होती है, कहाँ सस्ती मिलती है, कहाँ ले जाने से महँगी बिकेगी, किस रास्ते, किस तरह लाने से ख़र्च कम पड़ेगा—इन सब बातों का उन्हें यथेष्ट ज्ञान होना चाहिए । उन्हें यह भी मालूम होना चाहिए कि माल ख़रीद करके उसे

किस समय, अथवा कितनी मुद्दत के भीतर, बेचना चाहिए। तभी उन्हें मुनाफ़ा होगा। अन्यथा, उनके मुनाफ़े की मात्रा बहुत कम हो जायगी; या बिलकुल ही नष्ट हो जायगी; यहाँ तक कि मुनाफ़े के बदले उन्हें घाटा उठाना पड़ेगा। जो व्यापारी आलसी अथवा अज्ञान या अल्पज्ञ हैं उनको बहुत कम मुनाफ़ा होता है।

व्यापार की विद्या बहुत व्यापक है। परन्तु यह विद्या सिखलाने का न तो यहाँ कोई अच्छा स्कूल ही है और न कोई अध्यापक ही है। जितने व्यापारी हैं सब अपने से बड़े व्यापारियों के शिष्य और छोटे व्यापारियों के गुरु या अध्यापक हैं। जहाँ माल का क्रय-विक्रय या लेन-देन होता है—चाहे वह जगह घर हो, बन्दर हो, गोदाम हो, दुकान हो, बाज़ार हो या जङ्गल हो वही व्यापार-विद्या सीखने का स्कूल या कालेज है। व्यापार-विद्या का स्थूल सिद्धान्त यद्यपि माल सस्ता लेना और महँगा बेचना है, तथापि उसका यथेष्ट ज्ञान बिना अनुभव के नहीं होता। उसके लिए तजरुबा चाहिए—व्यापारियों का सहवास चाहिए। जो लोग अनुभव से व्यापार-विद्या सीख लेते हैं और प्रामाणिकतापूर्वक व्यापार करते हैं उनको ज़रूर लाभ होता है।

जिस देश में जितनाही अधिक व्यापार होता है वह देश उतना ही अधिक समृद्धिशाली हो जाता है। क्योंकि सम्पत्तिमान् होने का सबसे बड़ा साधन व्यापार ही हैं। इँगलेंड को देखिए। व्यापार ही की बदौलत उसके ऐश्वर्य्य की वृद्धि हुई है; व्यापार ही की साधना से उसे हिन्दुस्तान का राज्य प्राप्त हुआ है; व्यापारही की कृपा से अन्यान्य देशों को क़र्ज़ देकर उन्हें अपने अनुग्रह का पात्र बनाने में वह समर्थ हुआ है। और व्यापार में उन्नति न करनेही से हिन्दुस्तान की अधोगति हुई है।

दूसरा परिच्छेद।

विदेशी व्यापार।

प्रत्येक देश में यह बात देखी जाती है कि एक आदमी अनेक व्यवसाय न करके सिर्फ़ एक ही व्यवसाय करता है। अपने काम या परिश्रम के फल

का वह उतनाहीं अंश अपने व्यवहार के लिए रख छोड़ता है जितने की उसे ज़रूरत होती है। बाक़ी का विनिमय करके वह और और आवश्यक चीज़ें संग्रह करता है। इसी तरह जिस देश में जो चीज़ ज़रूरत से अधिक होती है वह और देशों को भेजी जाती है, और उसके बदले उस देश की आवश्यक चीजें संग्रह की जाती हैं। गेहूँ, जौ, चना, सरसों, कपास आदि चीज़ें जिस तरह गाँवों से बड़े बड़े क़सबों और शहरों को रवाने होती हैं और वहाँ से कपड़े, शक्कर, सूत और रङ्ग आदि चीज़ें गाँवों को जाती हैं, उसी तरह ये सब चीज़ें शहरों से कलकत्ता, बम्बई और कराची आदि बन्दरों में पहुँचती हैं और वहाँ से भिन्न भिन्न देशों को, वहाँ की चीज़ों के बदले, भेजी जाती हैं। दुनिया में जितने सभ्य देश हैं सब कहीं यही बात देखी जाती है। रूस से मिट्टी का तेल और गेहूँ इँगलेंड जाता है, इँगलेंड से कपड़े और लोहे की चीज़ें रूस जाती हैं। हिन्दुस्तान से रुई, नील, लाख, गेहूँ आदि इँगलेंड और जर्मनी को जाते हैं और वहाँ से लोहे के यंत्र, चाकू, कैंची, काँच का सामान, कपड़े और खिलौने आदि हिन्दुस्तान आते हैं। पदार्थों के इसी परस्पर अदला-बदल का नाम विदेशी-व्यापार है। यही आन्तर्जातिक वाणिज्य है। यही एक जाति का दूसरी जाति के साथ वस्तु-विनिमय है। इसी को अँगरेज़ी में इंटरनेशनल ट्रेड (International Trade) कहते हैं।

जो चीज़ जिस देश में नहीं पैदा होती उसका व्यवहार यदि उस देश-वाले करना चाहें तो दूसरे देश से मँगानी पड़ती है। परन्तु देखा जाता है कि जो चीज़ जहाँ अनायास पैदा हो सकती है, या तैयार की जा सकती है, वह भी कभी कभी और देशों से मँगाई जाती है। ऊपरी दृष्टि से देखने से इसका कारण यही मालूम होता है कि ऐसी चीज़ दूसरे देशों में सुलभ होती है, इसीसे वह वहाँ से मँगाई जाती है। अर्थात् उसे उत्पन्न करने की अपेक्षा विदेश से लाने में अधिक लाभ होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि जिस देश में जिस चीज़ के बनाने या तैयार करने में लागत कम लगती है उसी देश से वह चीज़ मँगाने में सुभीता होता है। यह कारण ठीक हो सकता है; परन्तु यह सर्व-व्यापक नहीं। कभी

कभी ऐसे देशों से भी चीज़ों की आमदनी होती है जिनके बनाने या तैयार करने में कम लागत नहीं लगती । एक उदाहरण लीजिए:—

हिन्दुस्तान में अनाज और कोयला दोनों चीज़ें इँगलेंड की अपेक्षा कम ख़र्च में तैयार हो सकती हैं । अतएव हिन्दुस्तान को ये चीज़ें इँगलेंड से कभी न मँगानी चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं होता । ज़मीन से कोयला निकालने में इँगलेंड की अपेक्षा हिन्दुस्तान में कम ख़र्च पड़ता है । तिस पर भी हिन्दुस्तान से जो अनाज इँगलेंड जाता है उसके बदले वहाँ से बहुधा कोयला आता है । क्यों ऐसा होता है, इसका कारण है । कल्पना कीजिए कि कोयले और अनाज का एक निश्चित परिमाण प्रस्तुत करने के लिए हिन्दुस्तान मे तीन तीन महीने लग जाते हैं । और उतना ही अनाज और उतना ही कोयला तैयार करने मे इँगलेंडवालों को चार चार महीने मेहनत करनी पड़ती है । तीन महीने की मेहनत से तैयार हुआ अनाज हिन्दुस्तान ने इँगलेंड भेजा; अब उतना ही अनाज तैयार करने के लिए इँगलेंड को चार महीने मेहनत करनी पड़ती है । अतएव हिन्दुस्तान से भेजा गया अनाज इँगलेंड के चार महीने की मेहनत से तैयार किये गये अनाज के बराबर हुआ । उसके बदले चार महीने की मेहनत से तैयार हुआ कोयला हिन्दुस्तान को मिलेगा । पर इँगलेंड में चार महीने की मेहनत से तैयार हुआ कोयला हिन्दुस्तान में सिर्फ़ तीन महीने की मेहनत से तैयार हुए कोयले की बराबर है । अतएव तीन महीने की मेहनत से उत्पन्न किया गया अनाज इँगलेंड भेज कर, जितना कोयला यहाँ तीन महीने में निकलता उतना ही इँगलेंड से मिला; अधिक नहीं । इस व्यापार से इन दोनों देशों में से किसी को कुछ फ़ायदा न हुआ । उलटा माल भेजने और मँगाने का ख़र्च व्यर्थ उठाना पड़ा । इस अवस्था में इँगलेंड और हिन्दुस्तान के दरमियान कभी व्यापार जारी न होगा । क्योंकि हिन्दुस्तान में अनाज और कोयला दोनों चीज़ें तैयार करने में थोड़ा ख़र्च लगने पर भी ये चीज़ें इँगलेंड भेजने से उस देश को कुछ भी लाभ नहीं होता । फिर भला ये चीज़ें इँगलेंड क्यों हिन्दुस्तान से लेगा ? हिन्दुस्तान को भी इस बदले से कुछ लाभ न होगा । इससे वह भी इस विनिमय को न स्वीकार करेगा ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ कम लागत से माल तैयार होता है वहीं से वह हमेशा नहीं मँगाया जाता । अब यह देखना है कि किस स्थिति मे दो देशों के बीच व्यापार शुरू होता है ।

पूर्वोक्त कल्पित उदाहरण में कुछ फेरफार कीजिए । जितना कोयला हिन्दुस्तान में तीन महीने में तैयार हो सकता है उतना इँगलेंड में चार महीनें में होता है । परन्तु तीन महीने में जितना अनाज हिन्दुस्तान में तैयार होता है उतना इँगलेंड में पाँच महीने से कम में नहीं तैयार होता । इस दशा में दोनों देशों के दरमियान निःसन्देह व्यापार शुरू हो जायगा । चार महीने में तैयार किया गया कोयला इँगलेंड ने हिन्दुस्तान भेजा; वह कोयला तीन महीने में तैयार किये गये हिन्दुस्तानी कोयले के बराबर है । अतएव उसके बदले हिन्दुस्तान में तीन महीने की मेहनत से तैयार किया गया अनाज ज़रूर ही मिलेगा । पर तीन महीने में तैयार किया गया हिन्दुस्तानी अनाज इँगलेंड में पाँच महीने की मेहनत के बराबर है । अतएव अपने चार महीने की मेहनत से तैयार किया गया कोयला देकर, जो अनाज पैदा करने के लिए इँगलेंड को पाँच महीने मेहनत करनी पड़ती है, वह उसे हिन्दुस्तान से मिला । अर्थात् इस अदला-बदल से—इस व्यापार से—इँगलेंड को एक महीने की मेहनत की बचत हुई । जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक इँगलेंड कोयला भेजता ही जायगा और हिन्दुस्तान से उसके बदले अनाज लेता जायगा । जितना कोयला पैदा करने में हिन्दुस्तान को तीन महीने मेहनत करनी पड़ती है, उतना पैदा करने के लिए इँगलेंड को चार महीने लगते हैं । अर्थात् हिन्दुस्तान की अपेक्षा इँगलेंड में कोयला मँहगा पड़ने पर भी हिन्दुस्तान ने वहीं से उसे लिया । तीन महीने की मेहनत से प्राप्त हुआ अनाज देकर जो कोयला हिन्दुस्तान ने इँगलेंड से लिया, उसे तैयार करने मे इँगलेंड का यद्यपि अधिक ख़र्च हुआ, तथापि वह हिन्दुस्तान को तीनही महीने की मेहनत से पैदा हुए अनाज के बदले मिला । अतएव यहीं कोयला न निकाल कर इँगलेंड से उसे मँगाने में हिन्दुस्तान की कोई हानि न हुई । हाँ उसे फ़ायदा ज़रूर कुछ न हुआ । तथापि इस व्यापार से इँगलेंड को ज़रूर फ़ायदा हुआ । अतएव इस स्थिति में व्यापार जारी हो

सकेगा और हिन्दुस्तान में इँगलेंड की अपेक्षा कम लागत में तैयार होने पर भी कोयला इँगलेंड से मँगाया जा सकेगा ।

इस उदाहरण के अनुसार स्थिति होने से हिन्दुस्तान को कुछ भी लाभ न होगा। परन्तु व्यापार शुरू होने पर सारा लाभ एक ही देश को नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा होगा तो दूसरा देश क्यों व्यर्थ में व्यापार करने का झंझट उठावेगा। उसे भी थोड़ा बहुत लाभ ज़रूरही होना चाहिए। तभी व्यापार जारी होगा। पूर्वोक्त उदाहरण में यह दिखाया गया है कि हिन्दुस्तान को कोयला भेज कर उसके बदले अनाज लेने में इँगलेंड की एक महीने की मेहनत बचती है। अर्थात् उसे मानों इतना लाभ होता है। अब यदि इँगलेंड इस लाभ का कुछ अंश हिन्दुस्तान को देने पर राज़ी हो जायगा तो हिन्दुस्तान उसके साथ व्यापार जारी रखना स्वीकार कर लेगा, अन्यथा नहीं।

जब तक दो देशों के माल के मूल्य का परिमाण बराबर होता है तब तक व्यापार जारी नहीं होता। परन्तु उनमें अन्तर पड़ते ही जारी हो जाता है। यह पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ। अब यह देखना है कि यह अन्तर—यह फरक—कितना होना चाहिए। भिन्न भिन्न दो देशों में तैयार होने वाले माल में जो लागत लगती है, जो मज़दूरी देनी पड़ती है, या जो समय ख़र्च होता है उसका अन्तर कितना हो जो व्यापार जारी हो सके। इसका उत्तर यह है कि एक देश से दूसरे देश को माल भेजने या वहाँ से मँगाने में आने जाने का जो ख़र्च पड़ता है उसे निकाल कर कुछ मुनाफ़ा रहना चाहिए। अर्थात् अदला-बदल के माल के परिमाण में इतना फ़र्क होना चाहिए कि आने जाने का ख़र्च भी निकल आवे और कुछ बच भी जाय। पूर्वोक्त उदाहरण में यह कल्पना कीजिए कि कोयले और अनाज की आमदनी और रफ़्तनी में जो ख़र्च पड़ता है वह एक हफ़्ते की मज़दूरी के बराबर है। हिन्दुस्तान में जितना धान्य तीन महीने में तैयार होता है उतना इँगलेंड में चार महीने में होता है। इन चार महीनों में एक हफ़्ता मज़दूरी के ख़र्च का जोड़ कर कुछ दिन और मुनाफ़े के भी जोड़ने चाहिए। अर्थात् उतना धान्य पैदा करने के लिए इँगलेंड को सवा चार

महीने से कुछ अधिक लगना चाहिए। ऐसा होने से कोयले और अनाज का बदला करने में हिन्दुस्तान को भी लाभ होगा और इँगलेंड को भी।

यही बात सब देशों के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जिस देश में जो चीज़ तैयार करने में अधिक सुभीता है वहीं उसे तैयार करना चाहिए। तभी माल अधिक तैयार होगा और तभी मेहनत और पूँजी का सदुपयोग भी होगा। इसी तरह जो चीज़ जिस देश में अच्छी बनती हो वहीं बनाने से उसके व्यवसाय की उन्नति होगी; क्योंकि उसे अधिक अच्छी बनाने की नई नई तरकीबें लोगों को सूझेंगी। इससे उत्पत्ति का ख़र्च कम हो जायगा और चीज़ कम लागत में तैयार होने लगेगी।

हिन्दुस्तान में यदि अनाज थोड़े ख़र्च में अधिक पैदा हो सकता हो, तो अनाज ही पैदा करना चाहिए। इँगलेंड में लोहे का सामान यदि और देशों से अच्छा और कम ख़र्च में तैयार हो सकता हो तो उसे उसी का व्यवसाय करना चाहिए। ऐसा करने से दोनों देशों को फ़ायदा होगा।

यदि किसी देश में एकाधिक चीज़ें तैयार होती हों और उनमें से एक सस्ती और दूसरी महँगी पड़ती हो तो समझना चाहिए कि एक की उत्पत्ति का ख़र्च दूसरी की उत्पत्ति के ख़र्च से अधिक है। परन्तु विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में एक बात यह भी याद रखनी चाहिए कि सब चीज़ों का मूल्य सिर्फ़ उनके उत्पादन-व्यय के ही ऊपर अवलम्बित नहीं रहता। कभी कभी और बातें भी उनके मूल्य के घटाने बढ़ाने में कारणीभूत होती हैं। बंबई और कानपुर में कपड़े बनाने के कितनेही कारख़ाने हैं। पर यहाँ विशेष करके मोटा ही कपड़ा तैयार होता है, बारीक नहीं। इसका कारण यह नहीं कि इन कारख़ानों में बारीक कपड़ा बन ही नहीं सकता। नहीं, बन तो सकता है; पर उसे बना कर बेचने में कारख़ानेदारों को मुनाफ़ा कम मिलता है। और कम मुनाफ़े से उन्हें संतोष नहीं होता। परन्तु इँगलेंड के कारख़ानों के मालिक थोड़े ही मुनाफ़े पर सन्तोष करते हैं। इसी से महीन कपड़ा विशेष करके इँगलेंड ही से हिन्दुस्तान में आता है। १९०५ ईसवी के दिसम्बर में जो कांग्रेस (जातीय महासभा) बनारस में हुई थी उसमें माननीय गोखले महाशय ने इस बात को बहुत अच्छी तरह से समझाया

था । इस देश में पूँजी बहुत ही कम है । इससे जिनके पास पूँजी है वे उस पर बहुत अधिक सूद पाने की इच्छा रखते हैं । और बारीक कपड़े के व्यवसाय में जितना मुनाफ़ा हो सकता है उससे अधिक और व्यवसायों में होने की संभावना रहती है । इसी से लोग बारीक कपड़ा बनाने का व्यवसाय नहीं करना चाहते । इस देश में सफ़ेद शक्कर भी बन सकती है, और कम सफ़ेद भी । पर कम सफ़ेद शक्कर बनाने में लागत अधिक नहीं लगती । इससे उसे तो लोग अधिकता से बनाते हैं, परन्तु ख़ूब स्वच्छ और सफ़ेद शक्कर कम बनाते हैं । जर्मनीवाले थोड़े ही मुनाफ़े से सन्तुष्ट हो जाते हैं ; इससे वहाँ की सफ़ेद शक्कर हिन्दुस्तान में ढोई चली आती है । यहाँ उसे बनाने का झंझट लोग कम करते हैं; क्योंकि थोड़े ही मुनाफ़े से उन्हें सन्तोष नहीं होता । जब उन्हें और व्यवसायों में अधिक मुनाफ़ा होता है तब थोड़े मुनाफ़े का व्यवसाय वे क्यों करें ? हिन्दुस्तान में विदेशी शक्कर अधिक आने के और भी कई कारण हैं; पर जिस कारण का उल्लेख यहाँ किया गया उसे सर्वप्रधान समझना चाहिए । ख़ुशी की बात है, कुछ दिनों से कम ख़र्च में अच्छी शक्कर बनाने की तरकीबें काम में लाई जाने लगी हैं । अतएव, आशा है, अब लोग पहले की अपेक्षा इस व्यवसाय में अधिक पूँजी लगावेंगे ।

जो देश जिस व्यवसाय में अधिक मुनाफ़ा देखता है उसी को करता है । स्पेन में शराब बहुत बनता है । उसे स्पेन वाले इँगलेंड भेजते हैं और उसके बदले इँगलेंड से कपड़ा मँगाते हैं । कपड़ा तैयार करने में जो ख़र्च इँगलेंड में बैठता है, स्पेन वाले यदि उसे अपने देश में तैयार करें तो वहाँ भी शायद वही ख़र्च बैठे । परन्तु कपड़े की अपेक्षा शराब तैयार करने में उन्हें अधिक लाभ होता है । इसी से वे शराब का ही व्यवसाय अधिक करते हैं । हिन्दुस्तान में चावल कम नहीं होता; परन्तु बहुधा वह ब्रह्म देश से बंगाल में आता है । इसका कारण यह है कि बंगाल में जूट बहुत होता है । जूट के व्यवसाय में वहाँ के व्यवसायी अधिक लाभ उठाते हैं । इससे वे चावल पैदा न करके जूट पैदा करते हैं और उसे ब्रह्मा को भेज कर बदले में चावल ले लेते हैं । सारांश यह कि जिस चीज़ के पैदा करने में लाभ अधिक होता

है वही चीज़ एक देश दूसरे देश को भेजता है। वैदेशिक व्यापार का—आन्तर्जातिक वाणिज्य का—यही मूल मंत्र है।

आन्तर्जातिक वाणिज्य से संसार का विशेष कल्याण होता है। जिस देश में जो चीज़ नहीं होती, या दुर्लभ होती है, वह इस वाणिज्य की बदौलत सुलभ हो जाती है। इसके सिवा वैदेशिक व्यापार के कारण पृथ्वी की उत्पादिका शक्ति भी बढ़ जाती है। यदि भिन्न भिन्न देशों में पदार्थों का विनिमय न हो तो उनका परिश्रम और मूल धन पूरे तौर पर फलदायक न हो। अर्थात् यदि प्रत्येक देश अपनी व्यावहारिक चीज़ें ख़ुद ही उत्पादन करे तो परिश्रम और मूल धन का बहुत कुछ अंश व्यर्थ जाय। यहां यह शंका हो सकती है कि कोई कोई देश दूसरे देश की अपेक्षा व्यावहारिक चीज़ों के उत्पादन में कम कुशल होते हैं। अतएव जो देश इस काम में अधिक कुशल होगा वह अपनी बनाई या तैयार की हुई चीज़ें कम कुशल देश को भेज कर वहाँ की चीज़ों की बिक्री को बन्द कर देगा। परन्तु इस तरह की शङ्का निराधार है। क्योंकि वाणिज्य का ठीक अर्थ अदला-बदल करना है। जो देश किसी देश को अधिक माल भेजेगा वह उसके बदले वहाँ से उसका उत्पादित कुछ न कुछ माल ज़रूर लेगा। अतएव उन्नति-शील देश का माल अधिक खपने से यह नहीं साबित होता कि अवनति-शील देश का माल नहीं खपता। नहीं, उसका भी माल बदले में ज़रूर जाता है। यदि ऐसा न होगा तो व्यापार जारी ही न हो सकेगा। जब तक उन्नति-शील देश को अपने माल के बदले माल न मिलेगा तब तक वह अपना माल भेजने में समर्थ ही न होगा। हाँ, कौन चीज़ों के बदले कौन चीज़ें लेनी चाहिए, यह दूसरी बात है। इसका विचार अवश्य करना चाहिए। इस पर इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और यह दिखलाया जा चुका है कि अन्न आदि जीवनोपयोगी चीज़ों के बदले विलास-सामग्री लेने में बड़ी हानि है। भारत जो कच्चा बाना इँगलेंड आदि देशों को भेज कर वहाँ से उन देशों की बनी हुई चीज़ें लेता है यह इस देश के लिए हितकर नहीं। अनाज, रुई, नील, जूट आदि के बदले विलायत से काँच का सामान, शराब, छाते, चित्र, खिलौने, शाल आदि लेने

से भारत की बड़ी हानि है । पर इससे आन्तर्जातिक वाणिज्य से होनेवाले साधारण लाभों में व्याघात नहीं आता । दो देशों में परस्पर व्यापार होने से दोनों को लाभ होता है, यह जो सर्वव्यापक सिद्धान्त है वह पूर्ववत् अटल रहता है । किस प्रकार की चीज़ें दूसरे देशों को बदले मे देनी चाहिए, इसका विचार इस सिद्धान्त की सत्यता में बाधा नहीं पहुँचाता ।

जिन देशों में शान्ति है—जिनमें राज्यक्रान्ति का कम डर है—उनमे यदि पूँजी का अभाव या कमी हुई तो दूसरे देश इस अभाव या कमी को पूरा कर सकते हैं । यही नहीं, किन्तु परिश्रम करनेवालों की कमी भी दूसरे देशों की बदौलत दूर हो सकती है । यदि ऐसे देशों में वैदेशिक व्यापार के सुभीते न हों, और दूसरे देशों के लोग न आ सकें, तो यह बात कभी न हो । दूसरे देशवालों के आवागमन से देश की पूँजी भी बढ़ सकती है, परिश्रम करनेवालों की संख्या भी बढ़ सकती है और विक्रेय या विनिमय-योग्य वस्तुओं की उत्पत्ति का परिमाण भी बढ़ सकता है । किसी देश में वाणिज्य-व्यवसाय करने से अधिक लाभ होता देख अन्य देशवाले वहाँ अपनी पूँजी लगा देते हैं । इससे उनको भी लाभ होता है और जिस देश में उनकी पूँजी काम में लाई जाती है उसको भी लाभ होता है । यदि इँगलेंड के साथ हिन्दुस्तान का व्यापार न होता, और दोनों देशों में आवागमन का सुभीता न होता, तो हज़ारों अँगरेज़ पूँजीवाले जो इस देश में कारोबार कर रहे हैं कभी न कर सकते । इससे यह न समझना चाहिए कि अकेले उन्हीं को लाभ होता है । नहीं, हज़ारों हिन्दुस्तानी व्यापारी भी उनके हाथ, या उनकी मारफ़त, माल बेंच कर बहुत कुछ लाभ उठाते हैं । हाँ, यदि ये सब व्यवसाय हिन्दुस्तानियों ही के हाथ में होते, और अँगरेज़ों की तरह वे भी उनके देश में जाकर व्यापार-व्यवसाय करते, तो उन्हें और भी अधिक लाभ होता ।

विदेशी माल पर कर अधिक होने से आन्तर्जातिक वाणिज्य को बहुत धक्का पहुँचता है । जिस माल की तैयारी में कम लागत लगती है और जिसके भेजने में भी कम ख़र्च पड़ता है उस पर बेहिसाब कर लगा दिये जाने से उसकी रफ़्नी बन्द हो जाती है । और यदि बन्द नहीं भी हो जाती तो कम ज़रूर हो जाती है । भारतवर्ष में किसी समय रेशमी और सूती कपड़े

का व्यवसाय बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इस व्यवसाय में उसकी बराबरी योरप का कोई देश नहीं कर सकता था। इँगलेंड, फ़्रांस, जर्मनी आदि में यहाँ के कपड़े का बेहद खप था। इस खप को कम करने और अपने देश के व्यापार को बढ़ाने के लिए इँगलेंड ने यहाँ के माल पर इतना अधिक कर लगा दिया कि उसकी रफ़्नी बन्द हो गई। यह प्रतियोगिता का फल है। यदि इँगलेंड इस देश के साथ चढ़ा ऊपरी करने की इच्छा न रखता तो उसे कर लगाने की ज़रूरत न पड़ती। इस कर के जवाब में हिन्दुस्तान को भी चाहिए था कि वह इँगलेंड के आयात माल पर कर लगा देता। पर इस देश का राज्यसूत्र अँगरेज़ों ही के हाथ में होने के कारण उन्होंने ऐसा करना मुनासिब न समझा। उन्होंने अपने देश के बने कपड़े का हिन्दुस्तान में अधिक खप होने का द्वार खोल कर यहाँ के कपड़े की रफ़्नी का द्वार प्रायः बन्द कर दिया। इससे यहाँ का वस्त्र-व्यवसाय मारा गया और इँगलेंड का चमक उठा। इस विषय पर, आगे चल कर, एक अलग परिच्छेद में, हमें बहुत कुछ लिखना है। इससे यहाँ पर अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं।

प्रतियोगिता के कारण विदेशी चीज़ों की आमदनी में बहुत बाधा आती है। कारख़ानेदारों अथवा पदार्थ-निर्माताओं में प्रतियोगिता होने से पदार्थों का मूल्य कम हो जाता है; और ख़रीदारों में प्रतियोगिता होने से बढ़ जाता है। इसी तरह जिन देशों में चीज़ें पैदा होती हैं और जो देश उन चीज़ों को लेते हैं उनमें प्रतियोगिता होने से चीज़ों के मूल्य में कमी-बेशी हो जाती है। भारतवर्ष, रूस, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में गेहूँ अधिक पैदा होता है। इनमें से जो देश कम मूल्य पर गेहूँ बेचने में समर्थ होगा उसी देश का गेहूँ इँगलेंड, जर्मनी और फ़्रांस आदि देशों को अधिक जायगा। और इन इँगलेंड, जर्मनी और फ़्रांस आदि देशों में से जो देश अधिक मूल्य पर गेहूँ ख़रीद करने पर राज़ी होगा उसी देश को भारतवर्ष, रूस, अमेरिका और आस्ट्रेलिया का गेहूँ अधिक रवाना होगा। अमेरिका में लोहे की अपेक्षा गेहूँ में अधिक लाभ है और इँगलेंड में गेहूँ की अपेक्षा लोहे में। इस से इँगलेंड का गेहूँ अमेरिका में नहीं बिक सकता। किन्तु

अमेरिका का गेहूँ इँगलेंड में बिक सकता है । गेहूँ के व्यवसाय में अमेरिका भारतवर्ष से प्रतियोगिता करता है ; इससे भारतवर्ष के गेहूँ की रफ़्नी इँगलेंड को हो सकेगी । इसी तरह इँगलेंड की अपेक्षा जर्मनी में लोहा कुछ सस्ता पड़ता है । इस से जर्मनी में बनी हुई लोहे की चीज़ें भारतवर्ष में आसकेंगी। परन्तु भारतवर्ष से इँगलेंड जानेवाले गेहूँ पर भेजने का ख़र्च यदि अमेरिका की अपेक्षा अधिक पड़ेगा तो भारत का गेहूँ न जाकर अमेरिका ही का जायगा । इसी तरह यदि जर्मनी में तैयार हुई लोहे की चीज़ें हिन्दुस्तान को भेजने में इँगलेंड की चीज़ों की अपेक्षा अधिक ख़र्च पड़ेगा तो इँगलेंड ही की बनी हुई चीज़ें यहाँ अधिक आवेंगी ।

जैसे एक आदमी अपनी उत्पन्न या तैयार की हुई कम आवश्यक चीज़ों के बदले दूसरों की उत्पन्न या तैयार की हुई अधिक आवश्यक चीज़ें लेता है, उसी तरह एक जाति या एक देश अपनी कम आवश्यक चीज़ों के बदले दूसरी जाति या दूसरे देश की अधिक आवश्यक चीज़ें बदले में लेता है। इस देश में रुई, रेशम और चाय बहुत होती है। उन सबकी इसे आवश्यकता नहीं । उधर इँगलेंड में यन्त्र आदि लोहे की चीज़ें इतनी होती हैं कि उन सब की उसे आवश्यकता नहीं । अतएव इन दोनों देशों की इन चीज़ों के प्रयोजनातिरिक्त अंश का परस्पर बदला होजाता है । कौन चीज़ कहाँ कम पैदा होती है और किस समय कौन चीज़ किस देश में भेजने से अधिक लाभ हो सकता है, ये बातें सिर्फ़ तजरुबेकार व्यापारी ही जान सकते हैं । जिस का तजरुबा और जिसका विदेश-व्यापार-ज्ञान जितनाही अधिक होता है वह वैदेशिक-व्यापार से उतनाही अधिक लाभ उठाता है । व्यापार-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का जानना सबका काम नहीं । कभी कभी बड़े बड़े तज-रुबेकार व्यापारियों से भी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण उन्हें बहुत नुक़-सान उठाना पड़ता है ।

दो देशों में व्यापार जारी होने से जो लाभ होता है उसका विवेचन यहाँ तक थोड़े में किया गया । वैदेशिक-व्यापार की बदौलत एक तो अपने देश में न होनेवाली चीज़ें विदेश से मिल जाती हैं; दूसरे प्रत्येक देश की उत्पादक शक्ति पूरे तौर पर उपयोग में आजाती है । श्रम-विभाग से जैसे

श्रम की उत्पादक शक्ति से पूरा पूरा लाभ होता है वैसे ही दो देशों के दरमियान परस्पर व्यापार होने से भी होता है। सब चीज़ें सब देशों में नहीं हो सकतीं और यदि हो भी सकती हैं तो अच्छी नहीं हो सकतीं। कुछ चीज़ें किसी देश में अच्छी होती हैं, कुछ किसी में। सब कहीं सब चीज़ें पैदा करने का सुभीता भी नहीं होता। जिस चीज़ के पैदा या तैयार करने का जहाँ अच्छा सुभीता नहीं वहाँ उसे पैदा या तैयार करने से मेहनत और पूँजी दोनों का बहुत कुछ अंश व्यर्थ जाता है। यदि सब देश अपने अपेक्षित सभी पदार्थ पैदा या तैयार करने का झंझट करने लगें तो उत्पत्ति का ख़र्च बढ़ जाय, सब चीज़ें महँगी बिकें, और सारे देश की हानि हो। वैदेशिक-व्यापार समाज की इन हानियों से रक्षा करता है।

तीसरा परिच्छेद।

विदेशी माल के भाव का तारतम्य।

जब विनिमय किये जानेवाले पदार्थ विनिमयकारी दोनों देशों में पैदा होते हैं और उनके उत्पत्ति-ख़र्च का परिमाण दोनों देशों में तुल्य होता है तब उनकी क़ीमत उनकी उत्पत्ति के ख़र्च के अनुसार स्थिर होती है। परन्तु जिन दो देशों की दशा ऐसी होती है उनमें तब तक व्यापार नहीं जारी होता जब तक विनिमय-योग्य पदार्थों के उत्पत्ति-ख़र्च में थोड़ा-बहुत अन्तर न हो। इस विषय का विवेचन इसके पहले परिच्छेद में किया जा चुका है। यद्यपि विक्रेय वस्तुओं की क़ीमत साधारण तौर पर उनके उत्पादन-व्यय के परिमाण पर ही अवलम्बित रहती है। यद्यपि क़ीमत के निश्चय का यही मुख्य नियम है, तथापि विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में यह नियम नहीं चल सकता। सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि विदेश से आने वाली चीज़ों की क़ीमत उस देश में लगे हुए उनकी तैयारी के ख़र्च के तारतम्य पर अवलम्बित नहीं रहती। किन्तु अन्य देश की जिन चीज़ों से उनका विनिमय होता है उन चीज़ों पर उस अन्य देश में जो लागत लगती है उसके तारतम्य पर अवलम्बित रहता है। कोयला

निकालने में जो ख़र्च इँगलेंड में पड़ता है उसके अनुसार उसकी क़ीमत मुक़र्रर नहीं होती; हिन्दुस्तान से उसके बदले जो गेहूँ जाता है उस गेहूँ के पैदा करने में जो ख़र्च हिन्दुस्तान में पड़ता है उसके तारतम्य पर मुक़र्रर होती है। यह बात ज़रा उलटी सी मालूम होती है, पर है ठीक। इसे एक विवेचनात्मक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने की ज़रूरत है।

कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान में इँगलेंड से कपड़ा आता है और उसके बदले हिन्दुस्तान से अनाज जाता है। एक गठरी कपड़ा इँगलेंड से लेने के लिए हिन्दुस्तान को सौ मन अनाज देना पड़ता है। अब यदि कोई पूछे कि इस कपड़े की हिन्दुस्तान में क्या क़ीमत हुई तो आप क्या उत्तर देंगे? क्या आप कह सकेंगे कि इँगलेंड में उसकी तैयारी में जितना ख़र्च पड़ा होगा, हिन्दुस्तान में उसकी क़ीमत उतनी ही होगी? कदापि नहीं। क्योंकि कपड़े की क़ीमत अनाज के रूप में दी गई है। अनाज का एक निश्चित परिमाण, अर्थात् सौ मन, हिन्दुस्तान ने दिया है। न उससे वह कम देने पर राज़ी है, न अधिक देने पर। अतएव यह कहना चाहिए कि एक गठरी कपड़े की क़ीमत इँगलेंड में चाहे जितनी हो, हिन्दुस्तान में सिर्फ़ सौ मन अनाज है। अथवा यों कहिए कि हिन्दुस्तान में सौ मन अनाज उत्पन्न करने में श्रम और पूँजी आदि मिला कर जो ख़र्च पड़ा है वही इस एक गठरी कपड़े की क़ीमत है। इँगलेंड में इतना कपड़ा तैयार करने में चाहे जितने दिन लगे हों—चाहे जितना परिश्रम और जितनी पूँजी लगी हो—उससे कुछ मतलब नहीं; वह हिसाब में न ली जायगी। एक गठरी कपड़ा तैयार करने में यदि पाँच दिन इँगलेंड में लगे हों, और सौ मन अनाज उत्पन्न करने में यदि पच्चीस दिन हिन्दुस्तान में लगे हों, तो पाँच दिन की मेहनत पच्चीस दिन की मेहनत के बराबर हो गई।

बहुत सम्भव है कि हिन्दुस्तान एक गठरी कपड़े के बदले सौ मन अनाज न देकर पचहत्तर ही मन दे; अथवा, कोई कारण उपस्थित होने पर, सवा सौ मन तक देने पर राज़ी हो जाय। अर्थात् इँगलेंड में पाँच दिन की मेहनत से तैयार हुई चीज़, हिन्दुस्तान में कभी पचीस दिन की मेहनत से कम हो जायगी, कभी ज़ियादह। इससे सिद्ध हुआ कि कपड़े के बदले

हिन्दुस्तान जितना अनाज देने को राज़ी होगा, या मजबूर होकर उसे जितना अनाज देना पड़ेगा, इँगलेंड के कपड़े की उतनी ही क़ीमत होगी। इँगलेंड और हिन्दुस्तान के दरमियान पहले ही से शर्त हो जायगी कि कपड़े और अनाज के अदला-बदल में इतना कपड़ा इतने अनाज की बराबर समझा जाय। अर्थात् इतने कपड़े की क़ीमत इतने अनाज के तुल्य मान ली जाय। यही शर्त क़ीमत की निर्णायक होगी। जितनी चीज़ों का इन दोनों देशों के दरमियान अदला-बदल होगा इसी तरह की शर्तों के अनुसार होगा।

अतएव वैदेशिक व्यापार में भिन्न भिन्न प्रकार की चीज़ों का जो अदला-बदल होता है वह अपने अपने देश के उत्पादन-व्यय के अनुसार नहीं होता। कपड़ा और अनाज दोनों चीज़ें यदि इँगलेंड अथवा हिन्दुस्तान में ही पैदा होतीं तो उनका अदला-बदल अपने अपने देश के उत्पत्ति-ख़र्च के अनुसार होता; पर यह कल्पना कर ली गई है कि कपड़ा इँगलेंड में होता है और अनाज हिन्दुस्तान में। इससे उत्पत्ति के ख़र्च के अनुसार इन चीज़ों के बदले की शर्तें नहीं हो सकतीं। अब विचार यह करना है कि दो देशों के दरमियान चीज़ों का बदला फिर होता किस आधार पर है? ऊपर विदेशी चीज़ों की क़ीमत के तारतम्य का तो विचार हुआ; पर किस सिद्धान्त के अनुसार क़ीमत निश्चित होती है, यह बतलाना अभी बाक़ी है। इँगलेंड से मँगाये गये एक गट्ठे कपड़े की क़ीमत हिन्दुस्तान के सौ ही मन अनाज के बराबर यदि कल्पना की जाय तो यह भी तो बतलाना चाहिए कि किस नियम के अनुसार इतने अनाज का देना निश्चित हुआ? विचारपूर्वक देखने से मालूम होगा कि यह निश्चय आमदनी और खप के ही पूर्व-परिचित नियमानुसार हुआ है।

कल्पना कीजिए कि एक हज़ार मन अनाज की क़ीमत हिन्दुस्तान में पन्द्रह गठरी कपड़े के बराबर है, और वही इँगलेंड में बीस गठरी कपड़े के बराबर है। इस स्थिति में इँगलेंड से कपड़ा मँगाने में हिन्दुस्तान को फ़ायदा होगा और हिन्दुस्तान से अनाज मँगाने में इँगलेंड को फ़ायदा होगा। यदि प्रत्येक देश दोनों चीज़ें ख़ुद ही तैयार करेगा तो हिन्दुस्तान में हज़ार

मन अनाज देने से पन्द्रह गठरी कपड़ा मिलेगा और इँगलेंड में बीस गठरी। अर्थात् दोनों देशों में जुदा जुदा भाव रहेगा। परन्तु कल्पना हमने यह की है कि प्रत्येक देश एक ही चीज़ उत्पन्न करता है और उसके बदले दूसरी चीज़ दूसरे देश से लेता है। अब देखना है कि किस सिद्धान्त के अनुसार दोनों चीज़ों का भाव मुक़र्रर होगा। यदि हज़ार मन अनाज के बदले पन्द्रह गट्ठे कपड़ा मिलने का भाव दोनों देशों में एक सा होगा तो हिन्दुस्तान को कुछ फ़ायदा न होगा। सारा मुनाफ़ा इँगलेंड ही ले जायगा; क्योंकि पन्द्रह गठरी कपड़े देकर हिन्दुस्तान से इँगलेंड हज़ार मन अनाज ले जायगा, जिस की क़ीमत इँगलेंड में बीस गट्ठे कपड़े के बराबर होगी। अर्थात् इँगलेंड पाँच गठरी कपड़े के फ़ायदे में रहेगा। यदि दोनों देशों में हज़ार मन अनाज के बदले बीस गठरी कपड़ा मिलेगा तो इँगलेंड को इस व्यापार से कुछ लाभ न होगा। सारा मुनाफ़ा हिन्दुस्तान ही ले जायगा; क्योंकि हिन्दुस्तान में हज़ार मन अनाज देने से सिर्फ़ पन्द्रह गठरी कपड़ा मिलता है। पर इँगलेंड से व्यापार करने में उसे बीस गठरी कपड़ा मिलेगा। अर्थात् हर खेप में उसे पाँच गठरी मुनाफ़ा होगा। परन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस दशा में व्यापार कभी जारी न होगा। यह नहीं हो सकता कि सारा मुनाफ़ा एक ही देश ले जाय, दूसरे को कुछ न मिले। अतएव हज़ार मन अनाज की क़ीमत न पन्द्रह ही गठरी कपड़े होगी और न बीस ही गठरी। यदि वह इन दोनों के दरमियान में होगी तभी व्यापार होगा। मान लीजिए कि यह दरमियानी भाव अट्ठारह हो गया। ऐसा होने से पन्द्रह गठरी की अपेक्षा तीन गठरी कपड़ा हर हज़ार मन पीछे हिन्दुस्तान को बतौर मुनाफ़े के मिलने लगेगा। इँगलेंड को हज़ार मन अनाज पैदा करने के लिए बीस गठरी कपड़े की क़ीमत के बराबर ख़र्च पड़ता है। पर अब उतना धान्य अट्ठारह ही गठरी कपड़ा देने से मिलेगा। अतएव इँगलेंड को भी हर हज़ार मन अनाज, अथवा हर अट्ठारह गठरी कपड़े, के पीछे दो गठरी कपड़े की बचत होगी। अर्थात् पाँच गठरी कपड़े का मुनाफ़ा दोनों देशों में बँट जायगा; तीन गठरी हिन्दुस्तान को मिलेगा, दो इँगलेंड को। परन्तु अब विचार इस बात का करना है कि अट्ठारह गठरी कपड़े का भाव मुक़र्रर किस

तरह होगा? सत्रह या उन्नीस गठरी का क्यों न होगा? और जो भाव मुक़र्रर होगा वह किन किन नियमों के अनुसार होगा?

पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर वही पूर्वपरिचित आमदनी और खप का समीकरण है। दो देशों में पैदा या तैयार होने वाली चीज़ों के परस्पर अदला-बदल होने का भाव, उन चीज़ों का जैसा खप और जैसी आमदनी होगी उसी के अनुसार निश्चित होगा। हज़ार मन अनाज के बदले अट्ठारह गठरी कपड़ा मिलने का भाव है। मान लीजिए कि इँगलेंड में जितने अनाज का खप है उतना हिन्दुस्तान में है, और हिन्दुस्तान में जितने कपड़े का खप है उतना इँगलेंड में है। अर्थात् आमदनी और खप मे तुल्यता है—उनका समीकरण है। तब हज़ार मन अनाज के बदले अट्ठारह गठरी कपड़े का भाव नियत हुआ है।

अब कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान में एक हज़ार गठरी कपड़े का खप है; तब पूर्वोक्त भाव से (अट्ठारह गठरी कपड़े के बदले हज़ार मन) अनाज हिन्दुस्तान को देना पड़ता है। पर, मान लीजिए, कि इतने अनाज की ज़रूरत इँगलेंड को नहीं है। हर दस गठरी पीछे अट्ठारह सौ मन के हिसाब से नौ सौ गठरी कपड़े का जितना अनाज मिलेगा उतना ही उसके लिए बस है। अतएव वह बाक़ी का सौ गठरी कपड़ा पहले भाव से न देगा। क्योंकि इँगलेंड में अधिक का खप नहीं। परन्तु हिन्दुस्तान को ये सौ गठरियाँ ज़रूर चाहिए। उनका वहाँ खप है। उनके बिना हिन्दुस्तान का काम नहीं चल सकता। यदि उसे हज़ार गठरी कपड़ा न मिले तो उसका काम ही न चले। अतएव ये सौ गट्ठे कपड़े के लेने के लिए उसे हर दस गठरी पीछे अट्ठारह सौ मन अनाज से कुछ अधिक देना पड़ेगा। अब मान लीजिए कि हिन्दुस्तान उन्नीस सौ मन अनाज, हर दस गठरी के लिए, देने को तैयार है। इस दशा में इँगलेंड उसे सौ गठरी अधिक कपड़ा ख़ुशी से दे देगा; क्योंकि उसे अनाज सस्ता मिलेगा। इस तरह अनाज का खप इँगलेंड में कम होने से वह सस्ता हो गया। कहाँ पहले दस गठरी देने से अट्ठारह सौ मन अनाज मिलता था कहाँ अब उन्नीस सौ मन मिलने लगा। अनाज का खप कम हुआ, इससे वह सस्ता हो गया। जो चीज़ सस्ती बिकती है उस

का खप बढ़ता ही है। अनाज सस्ता हो गया; अतएव फिर उसका खप इँगलेंड में बढ़ा।

जब हर दस गठरी कपड़े के बदले अट्ठारह सौ मन अनाज मिलता था तब आमदनी और खप मे तुल्यता थी। अनाज का खप कम होते ही वह सस्ता बिकने लगा; अर्थात् अट्ठारह सौ मन का भाव गिर कर उन्नीस सौ मन हो गया। उसका खप जो पहले कम हो गया था वह उसके सस्तेपन के कारण फिर बढ़ा। जिन लोगों ने उसे लेना बन्द कर दिया था वे लेने लगे। इस स्थिति में आमदनी और खप का फिर समीकरण हो गया और उन्नीस सौ मन का भाव मुक़र्रर हो गया।

अनेक कारणों से आमदनी और खप में फेरफार हुआ करता है। यह नहीं अनुमान किया जा सकता कि किस समय कितना खप होगा और किस समय कितनी आमदनी। अतएव दो विदेशी देशों के दरमियान अदला-बदल की जाने वाली चीज़ों का भाव पहले से नहीं निश्चित किया जा सकता। वह बहुत कम स्थिर रहता है। खप कम होने से भाव गिरता है और भाव गिर जाने से फिर खप अधिक होने लगता है। अर्थात् आमदनी और खप में जितनी कमी-बेशी होगी, भाव में भी उतना ही उतार-चढ़ाव होगा। हाँ सब से कम और सबसे अधिक भाव ज़रूर निश्चित किया जा सकेगा। ये भाव परस्पर बदला करने वाले देशों के उत्पत्ति-ख़र्च के अनुसार निश्चित होंगे। इन दोनों सीमाओं का निश्चय हो जाने पर यथार्थ भाव उन दोनों के बीच में कहीं पर निश्चित होगा। और वह आमदनी और खप की कमी-बेशी के अनुसार समय समय पर चढ़ता उतरता रहेगा।

जैसा एक जगह ऊपर लिखा जा चुका है विदेशी व्यापार से सब फ़ायदा एक ही देश को नहीं होता। दोनों देशों को होता है। वह थोड़ा थोड़ा दोनों के दरमियान बँट जाता है। किसी को कम होता है किसी को अधिक। पर इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि किसको कम मिलेगा और किसको अधिक। हाँ साधारण तौर पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि व्यापार करने वाले दो देशों में से प्रत्येक का फ़ायदा, उस देश में बाहर से आने वाले माल के खप के उलटे परिमाण के अनुसार होता है। जिस देश

के माल का खप विदेश में अधिक है उस देश को अन्य देश से व्यापार करने में अधिक फ़ायदा होगा। जो माल बाहर जाता है उसकी बाहर वालों अर्थात् विदेश-वासियों को ज़रूरत होती है। यदि उन्हें उसकी ज़रूरत न हो तो उसका वहाँ खप ही न हो। ज़रूरत होती है इसी से वे उसे लेते हैं। और ज़रूरत ऐसी चीज़ है कि उसे रफ़ा करने के लिए आदमी कुछ अधिक भी ख़र्च करना क़बूल करते हैं। इसी से वे बाहर से आनेवाले आवश्यक माल के बदले अपने देश का माल अधिक देते हैं। किसी देश से बाहर जाने वाले माल की जितनी ही अधिक ज़रूरत विदेश में होती है, अतएव जितना ही अधिक उसका खप वहाँ होता है, उसके बदले में मिलने वाला विदेशी माल उतनाही अधिक सस्ता पड़ता है। अर्थात् बाहर माल भेजने वाले देश को अधिक फ़ायदा होता है। इसके विपरीत दूसरे देश से आने वाले माल की यदि विशेष ज़रूरत न हुई, अर्थात् यदि उसका खप कम हुआ, तो वह सस्ता पड़ता है। जिसे दूसरे के माल की विशेष ज़रूरत नहीं वह सस्ता बिकेहीगा। जिस देश में विदेशी माल का खप बहुत ही कम, पर उसके माल की विदेश में बहुत ही अधिक ज़रूरत है, उसे विदेशी व्यापार से बहुत फ़ायदा होता है।

यन्त्रों की सहायता या और किसी नई युक्ति से माल अधिक तैयार होने और उसकी उत्पत्ति में लागत कम लगने से बहुत फ़ायदा होता है। जिस देश में यह स्थिति होती है वह अपने से पिछड़े हुए देश के साथ व्यापार करके मालामाल हो जाता है। यद्यपि सारा मुनाफ़ा अकेले उसी को नहीं मिलता, तथापि अवनत देश की अपेक्षा उसे ज़रूर ही अधिक मिलता है। थोड़ी ही लागत से चीज़ें तैयार होने से एक तो योंही मुनाफ़ा अधिक होता है; दूसरे कम ख़र्च में तैयार हुई चीज़ों की क़ीमत कम पड़ती है—वे सस्ती बिकती हैं। सस्ती होने के कारण उनका खप बढ़ता है; और खप बढ़ने के कारण उनकी उत्पत्ति या तैयारी दिनों दिन अधिक होती है। फल यह होता है कि ऐसा देश विदेशी व्यापार से बेहद फ़ायदा उठाता है। अतएव माल की तैयारी में यंत्रों का जितना ही अधिक उपयोग किया जाता है और चीज़ों के बनाने और तैयार करने के लिए जितनी ही

अधिक नई नई युक्तियाँ निकलती हैं उतना ही अधिक फ़ायदा देश को पहुँचता है ।

इन बातों के ख़याल से इँगलेंड और हिन्दुस्तान में ज़मीन-आसमान का फ़रक़ है । हिन्दुस्तान बहुत बड़ा देश है । योरप से यदि रूस निकाल डाला जाय तो हिन्दुस्तान बचे हुए सारे योरप की बराबर है । हिन्दुस्तान में कोई ३८ करोड़ आदमी रहते हैं । इँगलेंड में बनी हुई चीज़ों का यहाँ बेहद खप है । हिन्दुस्तान का अधिकांश व्यापार इँगलेंड की मुट्ठी में है । वहाँ प्रत्येक चीज़ बनाने और तैयार करने की नई नई युक्तियाँ निकला करती हैं; प्राय: सारे पदार्थ कलों की सहायता से बनाये जाते हैं । हज़ारों बड़े बड़े कार-ख़ाने जारी हैं । फिर, वहाँ पूँजी पानी की तरह बह रही है । इन्हीं कारणों से वहाँ की चीज़ें सस्ती पड़ती हैं और हिन्दुस्तान में ढोई चली आती हैं । सूती ही नहीं ऊनी भी कपड़े, लोहे लकड़ी और चमड़े की चीज़ें, काग़ज़, स्याही, काँच का सामान, लिखने का सामान, किताबें आदि सैकड़ों चीज़ों का खप हिन्दुस्तान में है । इनका खप अधिक होने से इँगलेंड का व्यापार दिनों दिन उन्नत होता जाता है और मुनाफ़े का अधिक अंश विदेशी व्यापा-रियों ही को मिलता है । हिन्दुस्तान से इन सब चीज़ों के बदले अनाज आदि जो इँगलेंड जाता है सो और देशों से भी वहाँ जाता है । यह नहीं कि इन चीज़ों के लिए इँगलेंड को हिन्दुस्तान ही का मुँह देखना पड़ता हो । अतएव उनका विशेष खप इँगलेंड में नहीं । पर इँगलेंड की चीज़ों का यहाँ विशेष खप है; बहुत अधिक खप है; उनकी यहाँ बड़ी ज़रूरत है । यही कारण है जो हिन्दुस्तान को अपना अनाज सस्ते भाव इँगलेंड को देना पड़ता है ।

हिन्दुस्तान की स्थिति बहुत ही बुरी है । राजकीय बाधायें यदि हिसाब में न भी ली जायँ तो भी इस देश की व्यापारिक अवनति को देख कर अनन्त परिताप होता है । देश में विदेशी माल का खप प्रति दिन बढ़ता जाता है । उसके बदले हिन्दुस्तान सिर्फ़ कृषि-प्रसूत अनाज देता है । इस अनाज की यहाँ भी बड़ी ज़रूरत रहती है, क्योंकि भारत में बार बार दुर्भिक्ष पड़ते हैं । दुर्भिक्ष के समय यदि देश में अनाज अधिक हो तो ज़रूर ही सस्ते

भाव बिके। पर वह सात समुद्र पार इँगलेंड भेज दिया जाता है और उसे पैदा करने वाले यहाँ भूखों मरते हैं। और भेजा न जाय तो हो क्या ? इँगलेंड की चीज़ों का खप जो बढ़ रहा है उसका बदला चुकाया किस तरह जाय ? इँगलेंड को गेहूँ अमेरिका और रूस से भी मिल सकता है। अतएव यदि हिन्दुस्तान गेहूँ न भी भेजे तो भी इँगलेंड का काम चल सकता है। अर्थात् इँगलेंड को हिन्दुस्तान के गेहूँ की बहुत ज़ियादह ज़रूरत नहीं। इससे उसे इँगलेंड में सस्ते भाव बिकना ही चाहिए। अपना अनाज सस्ते भाव बेचने के लिए हिन्दुस्तान को लाचार होना पड़ता है। जितना ही अधिक अनाज हिन्दुस्तान को देना पड़ता है उतनी ही अधिक पूँजी लगा कर उसे भली बुरी सब तरह की ज़मीन जोतनी पड़ती है। इससे ख़र्च अधिक पड़ता है; क्योंकि अच्छी ज़मीन सब पहले ही जोती जा चुकी है। इधर अनाज उत्पन्न करने में अधिक ख़र्च पड़ता है, उधर अनाज सस्ते भाव देना पड़ता है। दोनों तरह से बेचारे भारत को हानि उठानी पड़ती है। पूँजी का अधिकांश किसानी में ही लग जाता है। इससे और कोई व्यवसाय करने के लिए काफ़ी रुपया देश में नहीं रहता। अनाज ही जीविका का मुख्य साधन है। वह विदेश चला जाता है। जो रह जाता है, महँगा बिकता है। अनाज महँगा होने से प्रायः सभी चीज़ें महँगी हो जाती हैं। इससे हर आदमी का ख़र्च बढ़ जाता है। यही नहीं, किन्तु खाने पीने की चीज़ें महँगी होने से मज़दूरी का निर्ख़ भी बढ़ जाता है। इन कारणों से सब चीज़ों का उत्पत्ति-ख़र्च भी अधिक हो जाता है। फल यह होता है कि देश मे संचय की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है। संचय न होने से पूँजी नहीं एकत्र होती। फिर बड़े बड़े कल-कारख़ाने और उद्योग-धन्धे कहिए कैसे चल सकते हैं ? सब कहीं दरिद्र का अखण्ड साम्राज्य देख पड़ता है। अधिकांश लोगों को चौबीस घंटे में एक दफ़े भी पेट भर खाने को नहीं मिलता। यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है। अतएव प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य है कि वह भारत की इस हृदय-विदारी स्थिति के सुधारने का यथाशक्ति यत्न करे।

चौथा परिच्छेद ।

विदेशी यात और आयात माल की कमी-बेशी का परिणाम ।

जो माल विदेश को जाता है उसे यात और जो विदेश से आता है उसे आयात कहते हैं। इस परिच्छेद मे उनकी कमी-बेशी के परिणामों का विचार करना है ।

सम्पत्ति-शास्त्र पर पहला ग्रन्थ लिखने वाले ऐडम स्मिथ का यह मत था कि जो माल अपने देश में नहीं खपता वह विदेश से व्यापार करने में और और देशों में खप जाता है और उसके तैयार करने में लगी हुई पूँजी मुनाफ़े सहित वसूल हो जाती है । परन्तु यह मत भ्रामक है । क्योंकि किसी माल के जितने अंश की ज़रूरत किसी देश को नहीं, उसे वह तैयार, क्यों करेगा ? किसी देश पर कोई ज़बरदस्ती तो करता ही नहीं कि तुम अपने मतलब से ज़ियादह माल तैयार करो और फिर उसे खपाने के लिए विदेश का मुँह देखते बैठो । फिर, फालतू माल तैयार करने की क्या ज़रूरत ? ऐडम स्मिथ के कथन से तो यह मतलब निकलता है कि यदि फालतू माल का खप विदेश में न होगा तो वह बरबाद ही जायगा; अथवा मतलब से अधिक माल कोई तैयार ही न करेगा । अतएव पूँजी का बहुत सा अंश बेकार पड़ा रहेगा और कितने ही मज़दूरों को भूखों मरना पड़ेगा । परन्तु यह बात ठीक नहीं । कोई देश लाचार होकर फालतू माल नहीं तैयार करता; कोई किसी देश पर अधिक माल तैयार करने के लिए ज़बरदस्ती नहीं करता । अच्छा तो फिर फालतू माल क्यों तैयार किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि दूसरे देशों में बहुत सी चीज़ें ऐसी तैयार होती हैं जो अपने देश में सस्ती नहीं मिलतीं—अर्थात् उन्हें तैयार करने में लागत अधिक लगती है । अन्य देशों में तैयार हुई सस्ती चीज़ों के बदले में देने के लिए ही फालतू माल तैयार किया जाता है । यदि यह फालतू माल न उत्पन्न किया जायगा तो बाहर से आने वाली चीज़ों का बदला देने के लिए पास फालतू माल न होने से उनका आना भी बन्द हो जायगा । पर उन चीज़ों की है अपने देश को ज़रूरत । बिना उनके काम ही नहीं चल सकता ।

इससे उन्हें तैयार करने की योजना अपने ही देश में करनी होगी। ऐसा करने से, फालतू माल पैदा करना बन्द हो जाने पर, बची हुई पूँजी और मेहनत बाहर से आने वाला माल अपने ही यहाँ पैदा करने में ख़र्च होगी। यह न होगा कि ख़ाली हुए मज़दूरों को काम न मिले और बची हुई पूँजी बेकार पड़ी रहे। हाँ, यदि माल पैदा करने के यथेष्ट साधन अपने देश मे न होंगे तो उसे तैयार करने में ख़र्च ज़रूर अधिक पड़ेगा। अतएव वह महँगा बिकेगा। फल यह होगा कि जो लोग इस माल को मोल लेंगे उन्हें अधिक दाम देने पड़ेंगे; इससे उनकी हानि होगी। यह न हो, और विदेश में थोड़े ख़र्च से तैयार हुआ माल सस्ते भाव मिले, इसी लिए विदेश से व्यापार किया जाता है। विदेश में अपने फालतू माल का खप करने के लिए व्यापार नहीं किया जाता।

किसी निश्चित क़ीमत पर अपने देश में जितना माल मिल सकता है, उससे अधिक माल यदि विदेश से मिलेगा तभी अपना फ़ायदा है। अर्थात् बदले मे देने के लिए अपने पास जो माल है उसके बदले अपने ही देश में जो माल तैयार हो सकता है उसकी अपेक्षा विदेश से अधिक माल मिलना चाहिए। इसी बात को यदि और शब्दों में कहें तो इस तरह कह सकते हैं कि जो माल कोई देश विदेश को भेजे उसके बदले विदेश से अधिक माल आना चाहिए। यदि यात माल की अपेक्षा आयात माल अधिक मिलेगा तभी फ़ायदा होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। विदेश से आने वाला माल यदि कम होगा, अर्थात् यदि देश से बाहर अधिक माल जायगा और बाहर से देश में कम माल आवेगा, तो हानि होगी। कोई कोई यह समझते हैं कि देश से अधिक माल बाहर जाने ही में लाभ है—आयात की अपेक्षा यात माल का परिमाण अधिक होना ही अच्छा है। पर यह भूल है। क्योंकि, हम औरों को जितना माल देंगे, औरों से यदि उससे अधिक पावेंगे तभी हमें लाभ हो सकता है। पाँच मन माल देकर यदि उसके बदले छः मन पावेंगे तो एक मन के फ़ायदे में रहेंगे। यदि पाँच मन के बदले चार ही मन पावेंगे तो उलटा एक मन की हमारी हानि होगी।

यात की अपेक्षा आयात माल अधिक होने ही से देश को लाभ है। इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझाने की ज़रूरत है। इस विषय में एक बात ध्यान में रखने लायक़ है। वह यह है कि विदेश से कुछ भी माल अपने देश में न लाकर अपने ही देश से विदेश को माल भेजने का कोई अर्थ नहीं। यह हो ही नहीं सकता। व्यवहार शुरू होने पर जो माल हम किसी देश को देंगे उसके बदले उससे कुछ न कुछ लेना ही पड़ेगा। व्यापार, अर्थात् अदला-बदल, का अर्थ सिर्फ़ 'देना' ही नहीं. 'देना-लेना' दोनों है। यह बात 'लेन-देन' शब्द से ही सूचित होती है। यह शब्द ऐसा है कि इसका प्रति दिन प्रयोग होता है। देश से यदि माल भेजा जायगा तो उसके बदले बाहर से कुछ लिया भी ज़रूर जायगा। जो माल किसी देश को भेजा जायगा वह धर्म्मार्थ तो दिया जायगा नहीं; उसके बदले कुछ न कुछ आना ही चाहिए। अच्छा, तो अपने माल के बदले में कितना माल मिलना चाहिए? कम मिले तो अच्छा, या ज़ियादह मिले तो अच्छा? इसके उत्तर में एक बच्चा भी यही कहेगा कि किसी चीज़ के बदले में जितना ही ज़ियादह माल मिले उतना ही अच्छा। सम्पत्ति एक ऐसा शब्द है कि उसमें हर तरह की चीज़ों का—हर तरह के माल का—समावेश हो सकता है। यह सम्पत्ति बाहर से अपने देश में अधिक न लाकर, जहाँ तक हो सके, उसे अपने देश से निकाल बाहर करने से क्या कभी कोई देश अधिक समृद्ध और अधिक सम्पत्तिशाली हो सकता है?

एक उदाहरण लीजिए। दूसरे देश से होने वाला व्यापार साधारण तौर पर सम होना चाहिए। यात और आयात माल दोनों की मात्रा तुल्य होने, अर्थात् आयात माल सम्बन्धी देना, यात माल के बदले से चुकता हो जाने, का नाम सम-व्यापार या सम-व्यवहार है। कल्पना कीजिए कि सम-व्यापार की दशा में इँगलेंड से ६० लाख थान कपड़ा हिन्दुस्तान लेता है और उसके बदले ६० लाख मन अनाज देता है। अतएव हिन्दुस्तान का यात माल ६० लाख मन अनाज है और आयात माल ६० लाख थान कपड़ा है। अब मान लीजिए कि हिन्दुस्तान अपने यात माल का परिमाण बढ़ाकर ७० लाख मन करना चाहता है। परन्तु इस १० लाख मन अधिक अनाज

का खप इँगलेंड में नहीं है। इससे यह इतना अधिक माल पहले भाव से इँगलेंड कभी न लेगा। इस १० लाख मन अनाज के बदले १० लाख थान कपड़ा देना इँगलेंड न मंज़ूर करेगा। मान लीजिए कि यदि इँगलेंड ने १० लाख के बदले ८ लाख थान कपड़े के दिये तो दो लाख थान कपड़े की हानि हिन्दुस्तान को हुई। अर्थात् हिन्दुस्तान का यात माल ७० लाख मन अनाज होकर, उसके बदले उसे केवल ६८ लाख थान कपड़ा उसे मिला। आयात माल की अपेक्षा यात माल अधिक होने पर भी, हिन्दुस्तान उलटा दो लाख थान के घाटे में रहा। अतएव यह समझना बहुत बड़ी भूल है कि आयात माल की अपेक्षा यात माल अधिक होना चाहिए।

पूर्वोक्त उदाहरण का एक और तरह से विचार कीजिए। हिन्दुस्तान ६० लाख मन अनाज इँगलेंड को भेजता है। पर, कल्पना कीजिए कि इँगलेंड को अमेरिका से बहुत अनाज मिल गया। इस से उसे हिन्दुस्तान से अनाज लेने की विशेष ज़रूरत न रही। इधर हिन्दुस्तान को इँगलेंड से ६० लाख थान कपड़ा ज़रूरही चाहिए। बिना इतने कपड़े के हिन्दुस्तान का काम ही नहीं चल सकता। अतएव उसे ६० लाख मन अनाज की अपेक्षा बहुत अधिक अनाज देना पड़ेगा। तब कहीं उसे ६० लाख थान कपड़ा इँगलेंड से मिलेगा। अब, देखिए, यद्यपि हिन्दुस्तान का यात माल अधिक हो गया तथापि उसके बदले आयात माल पहले ही का इतना रहा। यात माल अधिक होने से उलटा हिन्दुस्तान का नुक़सान हुआ।

आयात माल की अपेक्षा यात माल अधिक होने से फ़ायदा होता है, इस बात को कुछ लोग एक निराली तरह से साबित करने की कोशिश करते हैं। उनका कहना यह है कि व्यापार में और लोगों के ज़िम्मे अपना 'पावना' बाक़ी रहना चाहिए। हिन्दुस्तान ने यदि एक करोड़ का माल इँगलेंड को दिया तो उसके बदले इँगलेंड से सिर्फ़ अस्सी लाख का ही माल लेना चाहिए; बीस लाख रुपये हिन्दुस्तान के इँगलेंड के पास 'पावने' की मद में रहने चाहिए। अर्थात् इँगलेंड को हमेशा हिन्दुस्तान का ऋणी रहना चाहिए। इसी में हिन्दुस्तान का फ़ायदा है। यह क़र्ज़, अन्त में इँगलेंड नक़द रुपये या सोने-चाँदी के रूप में अदा करेगा। अर्थात् हिन्दुस्तान की सम्पत्ति

में बीस लाख रुपये की वृद्धि होगी । परन्तु यह तर्कना बिलकुलही निराधार और भ्रममूलक है । क्यों, सो हम बतलाते हैं । पहले तो इस तर्कना से ही यह सिद्ध है कि आयात माल की अपेक्षा यात माल अधिक नहीं है । क्योंकि एक करोड़ रुपये के यात माल के बदले जब अस्सी लाख का आयात माल, और बाकी बीस लाख रुपये नक्द या उतने का सोना-चाँदी मिलेगा तब बाहर की आमदनी भी एक करोड़ की हो जायगी । अतएव यात और आयात दोनों मदें बराबर हो जायँगी । नक़्द रुपया, सोना-चाँदी या जवाहिरात भी एक प्रकार का मालही है । सोना-चाँदी, रुपया, पैसा, अशरफी और जवाहिरात ही का नाम सम्पत्ति नहीं है; व्यवहार की जितनी चीज़ें हैं सभी की गिनती सम्पत्ति में है । अतएव सोना चाँदी आई तो क्या, और दूसरा माल आया तो क्या । बात एक ही हुई । अर्थात् जितने का यात माल बाहर गया उतनेहीं का आयात माल बाहर से आया । देना और पावना बराबर हो गया । न हानि ही हुई, न लाभ ही हुआ । कपड़े, कोयले और लोहे आदि की जगह सोना-चाँदी आया । बस, अन्तर इतना ही हुआ । इससे यह समझना भूल है कि बीस लाख रुपये नक़्द आने से देश अधिक सम्पत्ति-शाली हो गया; यदि उतनी क़ीमत का माल आता तो देश को उतने अंश में हानि पहुँचती ।

अच्छा, अपने देश में बाहर के माल की आमदनी रोक कर उसके बदले रुपया पैसा लेने से क्या परिणाम होगा ? ऐसा करने से क्या देश अधिक सम्पत्ति-शाली हो जायगा ? अपने देश की चीज़ें बाहर भेज कर उसके बदले रुपया पैसा प्राप्त हुआ । इसका सिर्फ़ यही मतलब हुआ कि देश में सम्पत्ति जो एक रूप में थी उसका रूपान्तर हो गया । अर्थात् अन्य वस्तुरूपी सम्पत्ति को रुपये पैसे का रूप प्राप्त हो गया । जितनी सम्पत्ति बाहर गई थी उतनी ही अन्य रूप में बाहर से आगई; कुछ अधिक नहीं आई । इससे स्पष्ट है कि अपना देश पहले की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिमान् हरगिज़ नहीं हुआ । हाँ, देश में रुपया पैसा अधिक हो जाने से कुछ विलक्षण फेरफार ज़रूर होंगे । इस फेरफार के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन दरकार है ।

कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान ने एक करोड़ का माल इँगलेंड को भेजा ।

उसके बदले उसे इँगलेंड से अस्सी लाख का तो माल मिला: बाक़ी बीस लाख रुपये नक़द मिले। हिन्दुस्तान में बीस लाख रुपये अधिक हो जाने से रुपयों का संग्रह बढ़ गया। संग्रह अधिक हो जाने से रुपयों की क़ीमत कम हो गई। जिस चीज़ की क़ीमत पहले एक रुपया थी उसकी अब सवा रुपया हो गई। अर्थात् सब चीज़ें महँगी बिकने लगीं। रुपया अधिक होने से देश अधिक धनवान् तो हुआ नहीं, उलटा व्यवहार की चीज़ों की क़ीमत अधिक हो गई। चीज़ें महँगी बिकने से उनका खप कम हो जाता है। यह सर्व-व्यापक सिद्धान्त है। हिन्दुस्तान में माल महँगा बिकने से इँगलेंड में उसका खप कम हो जायगा। परन्तु इँगलेंड में इसका उलटा परिणाम होगा। वहाँ रुपये का जितना संग्रह था उसमें बीस लाख की कमी हो जाने से व्यावहारिक पदार्थ सस्ते बिकने लगेंगे। फल यह होगा कि उनका खप बढ़ जायगा। हिन्दुस्तान में महँगी होने से उसकी चीज़ों का खप कम हो जायगा और इँगलेंड में चीज़ें सस्ती बिकने से उनका खप अधिक होने लगेगा। जिस देश के माल का खप कम होता है उसे व्यापार मे हानि होती है और जिसके माल का खप अधिक होता है उसे लाभ होता है। सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार यह बात निर्विवाद है। अतएव हिन्दुस्तान को हानि और इँगलेंड को लाभ होगा। हिन्दुस्तान में माल के बदले रुपया आने से, देखिए, कितना अहितकारक परिणाम हुआ। अतएव जो लोग यह समझते हैं कि माल के बदले रुपया अधिक आने से देश को लाभ पहुँचता है वे सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों से बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं।

हिन्दुस्तान में माल के बदले रुपया आने से एक और अनिष्टकारक परिणाम होगा। हिन्दुस्तान में चीज़ें मँहगी और इँगलेंड में सस्ती होने से इँगलेंड के माल का खप हिन्दुस्तान में बढ़ने लगेगा और हिन्दुस्तान के माल की रफ़्नी कम होती जायगी। अर्थात् हिन्दुस्तान के यात माल की मात्रा कम होती जायगी और आयात की बढ़ती जायगी। इस तरह होते होते किसी दिन यात और आयात माल बराबर हो जायगा। अर्थात् कम माल लेकर इँगलेंड को बीस लाख रुपये का देनदार बना रखने का इरादा जो हिन्दुस्तान का था वह पूरा न हो सकेगा। दो देशों में व्यापार शुरू होने

से कभी न कभी यात और आयात माल में तुल्यता ज़रूर हो जायगी । ऐसे व्यापार में समता का होना स्वाभाविक बात है । कोई देश आयात माल की आमदनी को रोक कर यदि यात माल अधिक भेजने का यत्न करेगा तो उसकी यह युक्ति बहुत दिन तक न चल सकेगी । तराज़ू के पलरों की तरह ऊपर नीचे होकर कुछ दिनों बाद यात और आयात माल में ज़रूरही समता स्थापित हो जायगी । जब तक असमता की अवस्था रहेगी तब तक एक देश को फ़ायदा और दूसरे का नुक़सान होता रहेगा । कब किसे फ़ायदा होगा और कब नुक़सान, इस बात का विचार पहले ही किया जा चुका है । अर्थात् देश से बाहर जाने वाले की अपेक्षा बाहर से देश में आने वाला माल यदि कम होगा तो नुक़सान, और यदि अधिक होगा तो फ़ायदा होगा ।

हिन्दुस्तान के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में कुछ विशेषता है । यह विशेषता राजकीय कारणों से उत्पन्न हुई है । हिन्दुस्तान पराधीन देश है । यहाँ का राज्य-सूत्र अँगरेज़ों के हाथ में है । उसके प्रधान सूत्रधार इँगलेंड में रहते हैं । उनके ओहदे का नाम है सेक्रेटरी आव् स्टेट । उनका दफ़्तर लन्दन में है और वहीं उनके सलाहकारों की एक सभा भी है । इन सब की तनख़्वाह आदि हिन्दुस्तान के ज़िम्मे है । हिन्दुस्तान में जो हज़ारों अँगरेज़ अफ़सर काम करते हैं वे पेन्शन लेकर जब इँगलेंड जाते हैं तब पेन्शन भी उनको यहीं से दी जाती है । यहाँ के लिए बहुत सी फ़ौज भी इँगलेंड को भेजनी पड़ती है । हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए जहाज़ भी रखने पड़ते हैं । सरकार को न मालूम कितनी चीज़ें राजकीय कामों में ख़र्च करने के लिए विलायत से मँगानी पड़ती हैं । रेल आदि बनाने के लिए गवर्नमेंट ने बहुत सा रुपया विलायती महाजनों से क़र्ज़ लिया है; उसका सूद भी देना पड़ता है । इस सब ख़र्चे का सालाना टोटल कोई २० करोड़ रुपया होता है । वह सब हिन्दुस्तान से लिया जाता है । इसे एक प्रकार का 'कर' समझना चाहिए । अँगरेज़ी में इस 'कर' का नाम है 'होम चार्जेज़' (Home Charges) । इतना भारी कर हर साल देने से हिन्दुस्तान की कितनी सम्पत्ति इँगलेंड चली जाती है, और इस सम्पत्ति-धारा के संतत प्रवाह के कारण हिन्दुस्तान की साम्पत्तिक अवस्था कितनी हीन

होती जाती है, इसका विचार हमें यहाँ पर नहीं करना है। विचार हमें इस बात का करना है कि यह बीस करोड़ रुपया हर साल इँगलेंड को भेजा किस तरह जाता है और इसके कारण हिन्दुस्तान और इँगलेंड के व्यापार पर कितना असर पड़ता है। देखना यह है कि यह 'होम चार्जेज़' रूपी कर देने पर इन दोनों देशों के व्यापार में तुल्यता रहती है या नहीं; और नहीं रहती, तो कितनी विषमता रहती है और उसका मतलब क्या है। हिन्दुस्तान के व्यापार पर गवर्नमेंट हर साल एक पुस्तक प्रकाशित करती है। इस पुस्तक में सब तरह की यात और आयात वस्तुओं का लेखा रहता है। इस लेखे की एक समालोचना भी प्रकाशित होती है। इस समालोचना में यात और आयात माल की कमी-बेशी और उसके कारण आदि की विवेचना रहती है। १९०५–०६ ईसवी के लेखे की जो समालोचना गवर्नमेंट ने प्रकाशित की है उससे हम भारतवर्ष के तीन वर्ष के यात-आयात व्यापार का स्थूल लेखा नीचे देते हैं:—

	१९०३-०४	१९०४-०५	१९०५-०६
यात	१,६१,१०,८९,५५२	१,६५,४७,७१,६००	१,६८,१५,७८,४९८
आयात	१,१६,७६,६५,५५१	१,२९,७०,५८,१८२	१,२३,९८,७१,७१६
रु०	४४,३४,२४,००१	३५,७७,१३,४१८	४४,१७,०६,७८२

इँगलेंड ही से नहीं, किन्तु सारे योरप, अमेरिका और एशिया के देशों से हिन्दुस्तान का जो व्यापार हुआ है उसका हिसाब इस लेखे में है। अर्थात् हिन्दुस्तान ने विदेश को जितना माल भेजा वह यात में, और विदेश से जितना माल लिया वह आयात में शामिल है। और देशों की अपेक्षा इँगलेंड और हिन्दुस्तान ही के दरमियान अधिक व्यापार होता है। इस व्यापार का औसत कोई आधे के क़रीब है। जो कपड़ा विदेश से यहाँ आता है वह तो प्रायः सभी इँगलेंड से आता है। उसका औसत ८८ फ़ी सदी है। अर्थात् १०० थान या १०० गट्ठे कपड़े में १२ थान या १२ गट्ठे कपड़ा और देशों से आता है, बाक़ी ८८ थान या ८८ गट्ठे इँगलेंड से आता है। इसी तरह और माल में भी बहुत करके इँगलेंड ही का नम्बर ऊँचा रहता है। ख़ैर माल कहीं भी जाय, अथवा कहीं से आवे, फल प्रायः वही होता है।

ऊपर के हिसाब से मालूम होगा कि जितना माल हिन्दुस्तान से जाता है उससे बहुत कम विदेश से आता है। १९०३-०४ में यात की अपेक्षा आयात माल ४४ करोड़ का कम आया। १९०४-०५ में कुछ कमी रही। पर अगले साल, १९०५-०६ में, फिर भी ४४ करोड़ का माल कम आया। अर्थात् सम-व्यापार की बात तो दूर रही, बेचारे हिन्दुस्तान को कभी पैंतीस और कभी चवालीस करोड़ रुपये का माल उलटा कम मिला! १९०५-०६ में दिया उसने १ अरब ६८ करोड़ का माल; पाया सिर्फ़ १ अरब २४ करोड़ का !!!—हिन्दुस्तान ने भेजा अधिक, पर पाया कम माल। इससे शायद कोई यह न समझे कि इँगलेंड आदि देशों को उसका जितना माल अधिक गया उसके बदले उन देशों ने उसे सोना, चाँदी रुपया और जवाहिरात भेजे होंगे। संभव है, भेजे हों; परन्तु सोने, चाँदी आदि का हिसाब भी ऊपर दिये गये आयात माल के लेखे में शामिल है। इस से अधिक एक कौड़ी भी हिन्दुस्तान को नहीं मिली। अच्छा तो १९०५-०६ में यह ४४ करोड़ का अधिक माल गया कहाँ?

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान को हर साल कोई २० करोड़ रुपया होम चार्जेज़ के नाम से इँगलेंड को देना पड़ता है। यह इतना रुपया गवर्नमेंट जहाज़ में लाद कर इँगलेंड नहीं भेजती। यहाँ के व्यापारियों से वह कहती है कि हम तुमको यहीं २० करोड़ रुपया देते हैं। तुम हमारी तरफ़ से यह रुपया इँगलेंड में सेक्रेटरी आव् स्टेट को दे दो। व्यापारी भी नक़द रुपया इँगलेंड नहीं भेजते। वे इँगलेंड के व्यापारियों को माल भेजते हैं और कह देते हैं कि उस माल की क़ीमत तुम सेक्रेटरी आव् स्टेट को दे दो। तदनुसार वे रुपया दे देते हैं और सेक्रेटरी आव् स्टेट की भर-पाई हिन्दुस्तान के व्यापारियों को भेज देते हैं। यदि उतना रुपया देने के बाद कुछ बच रहता है तो उसका माल रवाना कर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान से भेजे गये माल के बदले इँगलेंड से २० करोड़ का माल कम आता है। अब ऊपर जो लेखा दिया गया है उसमें और देशों से आये हुए माल के साथ इँगलेंड से आया हुआ आयात माल भी शामिल है। पूरे आयात माल की क़ीमत में इन २० करोड़ रुपयों को जोड़ देने से हिन्दुस्तान

के यात और आयात माल का टोटल बराबर हो जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अर्थात् आयात माल की क़ीमत में फिर भी २४ करोड़ की कमी रही। यह कमी किसी साल कम हो जाती है, किसी साल ज़ियादह। पर रहती हर साल है। व्यापार की दृष्टि से हिन्दुस्तान के लिए यह बात बहुत हानिकारी है। यदि इस देश के हाथ मे यह बात होती तो किसी किसी माल पर कर लगा कर उसकी आमदनी या रफ़्तनी का प्रतिबन्ध कर दिया जाता। इससे धीरे धीरे हिन्दुस्तान के व्यापार में समता हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं है, इसीसे इस देश के विदेशी व्यापार में इतनी अस्वाभाविकता है।

पाँचवाँ परिच्छेद।

माल के मूल्य का विनिमय।

बड़े बड़े व्यापारी जो माल ख़रीदते हैं उसका मूल्य बहुधा नक़द रुपया देकर नहीं चुकाते। ख़रीद किये गये माल के बदले वे या तो और कोई माल दे देते हैं, या उसकी क़ीमत हुंडी से चुकाते हैं। इसका उल्लेख एक परिच्छेद में पहले हो चुका है। इस परिच्छेद में इसके सम्बन्ध की कुछ विशेष बातें और कहनी हैं। ऐसा करने में यदि कहीं पर पुनरुक्ति भी हो जाय तो हानि नहीं; बात अच्छी तरह समझ में आ जानी चाहिए।

कल्पना कीजिए कि दो आदमी कानपुर के रेलवे स्टेशन से ट्रामवे में सवार हुए। दोनों को गङ्गा के किनारे, सरसैया घाट, जाना है। ट्रामवे का किराया, स्टेशन से घाट तक, एक आदमी पीछे दो आना है। जो दो आदमी ट्रामवे में सवार हुए उनमें से एक के पास सिर्फ़ एक चवन्नी है। उसने वह चवन्नी ट्रामवे के "कांडक्टर" को दे दी। "कांडक्टर" को लेना चाहिए सिर्फ़ दो आने; परन्तु मिले उसे चार आने। अतएव दो आने उसे उस मुसाफ़िर को देने रहे। उसने वे दो आने उसे न देकर दूसरे मुसाफ़िर से कहा कि ये दो आने हम आपके किराये में मुजरा किये लेते हैं। आप दो आने अपने साथी को दे दीजिएगा। उसने इस बात को

मंजूर कर लिया। फल यह हुआ कि "कांडकृर" ने पहले मुसाफ़िर का ऋण भी चुका दिया और दूसरे से किराया भी वसूल कर लिया। यह एक प्रकार का विनिमय हुआ। व्यापार में देना-पावना यदि इस तरह चुकता किया जाता है तो वह मूल्य का विनिमय कहलाता है। इस विनिमय से हमारा मतलब "Exchange" से है। अँगरेज़ी शब्द "यक्सचेंज" (Exchange) से जो मतलब निकलता है, "मूल्य-विनिमय" से वही मतलब समझिए। इस प्रकार मूल्य लेने या देने वाले व्यापारी जब एक ही स्थान में होते हैं, अथवा एक ही देश के जुदा जुदा स्थानों में होते हैं, तब उनका यह व्यवहार अन्तर्विनिमय (Internal Exchange) कहलाता है। और जब वे जुदे जुदे देशों में होते हैं तब बहिर्विनिमय (Foreign Exchange) के नाम से बोला जाता है। इस विनिमय के विषय को महाजनी हिन्दी में भुगतान या हुंडियावन कह सकते हैं। अथवा माल के मोल का भुगतान कहने से भी सब तरह के व्यापारी और व्यवसायी आदमी इसका मतलब समझ सकते हैं।

इँगलेंड से कपड़ा हिन्दुस्तान आता है और हिन्दुस्तान से गेहूँ इँगलेंड जाता है। सम्पत्ति-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में जब यह बात कही जायगी तब इस तरह कही जायगी कि कपड़े और गेहूँ का बदला होता है। परन्तु यह बदला, प्रत्यक्ष बदला नहीं। यह नहीं होता कि गेहूँ पैदा करने वाले किसान ख़ुद ही गेहूँ इँगलेंड भेजते हों और उसके बदले कपड़ा वहाँ से मँगाते हों। यह बदला व्यापारियों के द्वारा परोक्ष रीति से होता है। व्यापारी ही गेहूँ ख़रीद कर इँगलेंड भेजते हैं और वही वहाँ से कपड़ा मँगाते हैं। इस क्रय-विक्रय के निमित्त रुपया नहीं भेजना पड़ता; हुंडी-पुरज़े से ही काम लिया जाता है। जितने देश हैं प्रायः सब के सिक्के जुदा जुदा हैं। और, व्यापार सब देशों से नहीं, तो अनेक देशों से अवश्य ही होता है। अतएव व्यापारियों और महाजनों को इस बात के जानने की हमेशा ज़रूरत रहती है कि भिन्न भिन्न देशों के सिक्कों का असल मूल्य कितना है और कहाँ के कितने सिक्के अपने देश के कितने सिक्कों की बराबर हैं। इसके सिवा ख़रीदे गये माल का जो मूल्य होता है उसके

भेजने का ख़र्च भी लगाना पड़ता है। यदि इँगलेंड के व्यापारियों को अपने कपड़े का मूल्य एक लाख पौंड पाना होगा तो हिन्दुस्तान के ख़रीदारों को उससे कुछ अधिक देना पड़ेगा; क्योंकि इँगलेंड के व्यापारी अपने ही देश में बैठे बैठे उतने पौंड लेंगे; पर हिन्दुस्तान के व्यापारियों को उतना धन भेजने का ख़र्च मिलाकर उनका ऋण चुकाना पड़ेगा। यह रुपया यद्यपि नक़द न भेजा जायगा तथापि उसे इँगलेंड में देने के लिए हुंडी-पुरज़े का व्यवसाय करनेवालों को जो कुछ देना पड़ेगा उसे भी ज़रूर हिसाब में लेना पड़ेगा।

एक देश के सिक्के के बदले दूसरे देश का जितना सिक्का मिलता है वही उन दोनों देशों के "मूल्य-विनिमय का भाव" कहलाता है। इसी को अँगरेज़ी में "रेट आव् यक्सचेंज" (Rate of Exchange) कहते हैं। इस भाव का निरूपण करने में भेजने का ख़र्च जोड़ लेने के सिवा इस बात का भी विचार करना होता है कि दोनों देशों में किस धातु के सिक्के हैं और उस धातु की असल क़ीमत कितनी है। अर्थात् उसमें कितनी असल धातु है और कितना मेल है। बिना इन बातों का विचार किये यह नहीं मालूम हो सकता कि इँगलेंड के सोने का एक पौंड हिन्दुस्तान के चाँदी के कितने रुपयों को बराबर है। अथवा हमारे देश के कितने रुपये अमेरिका के कितने डालर और फ़्रांस के कितने फ़्रांक के बराबर हैं। इँगलेंड के साव-रिन नामक सिक्के मे २२ भाग असल सोना और दो भाग मिश्रण है; अर्थात् ११/१२ भाग सोना उसमें रहता है। हिन्दुस्तान में जो रुपया चलता है उसमें भी १२ भागों में ११ भाग चाँदी है; बाक़ी एक भाग कृत्रिम धातु है। अथवा यों कहिए कि हमारे रुपये में १४ आने ८ पाई भर चाँदी और १ आना चार पाई भर ताँबा आदि का मेल है। टकसाल के नियमानुसार सिक्कों का जो मूल्य निर्दिष्ट है उसके अनुसार इँगलेंड और हिन्दुस्तान के सिक्कों का विनिमय करने में बड़ा झंझट होता है; क्योंकि इँगलेंड में सोने का सिक्का है और हिन्दुस्तान में चाँदी का। इसी झंझट को दूर करने के लिए इस समय गवर्नमेंट ने यहाँ के एक रुपये को इँगलेंड के १६ पेन्स के बराबर मान लिया है। दो देशों के सिक्कों के विनिमय का भाव बतलाने के

लिए एक देश के सिक्के की क़ीमत स्थिर रख कर दूसरे देश की सिक्के की क़ीमत की कमी-बेशी का हिसाब लगाया जाता है। हिन्दुस्तान और इँगलेंड के विनिमय का तारतम्य निश्चित करने में हिन्दुस्तान के रुपये को स्थिर रख कर यह देखा जाता है कि उसके बदले इँगलेंड के कितने पेन्स मिलते हैं। तदनुसार मूल्य-विनिमय का भाव निश्चित होता है। इँगलेंड में ब्रांज़ नामक धातु का भी पेन्स चलता है। परन्तु यहाँ पर उससे मतलब नहीं है। यहाँ पर सोने के पौन्ड नामक सिक्के के २४० भागों में से एक भाग के सूचक सिक्के से मतलब है। वही एक भाग यहाँ पेन्स समझा गया है।

व्यापार-सम्बन्धी मूल्य-विनिमय का प्रधान उद्देश यह है कि धातु के सिक्के न भेजने पड़ें; पर मोल लिये गये माल की क़ीमत चुकता होजाय। इस प्रणाली का आभास डाक द्वारा मनीआर्डर भेजने की प्रणाली में बहुत कुछ मिलता है। कल्पना कीजिए कि आपको कानपुर से १०० रुपये देवदत्त के नाम लखनऊ भेजना है। यदि आप इन रुपयों को डिब्बे में बन्द करके लखनऊ भेजेंगे तो अधिक ख़र्च पड़ेगा। इससे आप इतना रुपया कानपुर के डाकख़ाने में कमीशन-सहित जमा कर देंगे। डाकख़ाने वाले लखनऊ के डाकख़ाने को लिख देंगे कि हमें रुपया मिल गया है; तुम वहाँ अपने ख़ज़ाने से १०० रुपया देवदत्त को देदो। इससे क्या होगा कि कानपुर से लखनऊ रुपया भेजने की मेहनत बच जायगी और भेजने वाले का ख़र्च कम होगा। इसी तरह लखनऊ से जो मनीआर्डर कानपुर आवेंगे उनका रुपया कानपुर के ख़ज़ाने से दे दिया जायगा; लखनऊ से रुपया लद कर न आवेगा।

अब कल्पना कीजिए कि सौ आदमी सौ सौ रुपया कानपुर से बिँदकी भेजना चाहते हैं। उन्होंने दस हज़ार रुपया कानपुर के डाकख़ाने में जमा कर दिया, और साथ ही सैकड़ा पीछे एक रुपया कमीशन भी चुका दिया। पर बिँदकी एक छोटी जगह है। वहाँ के डाकख़ाने में दस हज़ार रुपया जमा नहीं रहता इससे वहाँ का पोस्ट-मास्टर फ़तेहपुर के पोस्ट-मास्टर को लिखेगा कि दस हज़ार रुपया भेज दो। फ़तेहपुर रुपया भेज देगा और

रास्ते में उसकी निगरानी और हिफ़ाज़त के लिए पुलिस आदि का भी प्रबन्ध कर देगा। इस तरह रुपया भेजने में डाक के महकमे का कुछ अधिक ख़र्च ज़रूर होगा; पर महकमा ठहरा सरकारी। इससे रुपया भेजने में जो ख़र्च अधिक पड़ेगा वह मनीआर्डर भेजने वालों से न लिया जायगा। यदि यह काम किसी कम्पनी को करना पड़ता तो वह इस अधिक ख़र्चे को भी रुपया भेजने वालों से ज़रूर वसूल कर लेती। डाकख़ाने के नियमानुसार कानपुर के १०१ रुपये (१०० रुपये मूल और १ रुपया मनीआर्डर का कमीशन) बिँदकी के १०० रुपये के बराबर हैं। इसी तरह बिँदकी के १०१ रुपये कानपुर के १०० रुपये के बराबर हैं। परन्तु यदि रुपया भेजने का काम गवर्नमेंट के हाथ में न होकर किसी कम्पनी के हाथ मे होता तो शायद कानपुर के १०२, या इससे भी अधिक, रुपये बिँदकी के १०० रुपयों के बराबर होते। यही नहीं किन्तु कम्पनी के गुमाश्ते शायद बिँदकी के ९९ ही रुपये देकर कानपुर के १०० रुपये चुकाने की चेष्टा करते। क्योंकि बिँदकी मे रुपया इकट्ठा करने में कम्पनी को अधिक आयास पड़ता। इन उदाहरणों को अच्छी तरह समझ लेने से मूल्य-सम्बन्धी अन्तर्विनिमय और बहिर्विनिमय के सिद्धान्त समझने में बहुत सुभीता होगा।

अब अन्तर्विनिमय का एक उदाहरण लीजिए। कानपुर के रघुनाथदास व्यापारी ने बम्बई के हरिनाथदास व्यापारी के हाथ कुछ गेहूँ बेचा। उसी समय, या दो चार दिन आगे पीछे, बम्बई के करीमभाई ने कानपुर के शिवनाथ रामप्रसाद के हाथ लोहे का कुछ सामान बेचा। कल्पना कर लीजिए कि गेहूँ और लोहे की चीज़ों का मूल्य बराबर है। इस दशा में न कानपुर के व्यापारी को बम्बई रुपया भेजना पड़ेगा और न बम्बई के व्यापारी को कानपुर। बम्बई का करीमभाई कानपुर के शिवनाथ रामप्रसाद को पत्र लिख देगा कि जो रुपया उसे पाना है वह कानपुर के रघुनाथदास को दे दिया जाय। इसी तरह कानपुर का रघुनाथदास भी बम्बई के हरिनाथदास को लिखेगा कि उसका रुपया उसे कानपुर न भेज कर वहीं करीमभाई को दे दिया जाय। अर्थात् रघुनाथदास बम्बई के हरिनाथदास के हाथ गेहूँ बेच कर उसके ऊपर बम्बई के करीमभाई को रुपया देने के लिए एक हुंडी लिखेगा। हरिनाथदास

उसे स्वीकार कर लेगा। इसी तरह करीमभाई कानपुर के रघुनाथदास को रुपया देने के लिए शिवनाथ रामप्रसाद के ऊपर हुंडी लिख कर उसे स्वीकार करने की प्रार्थना करेगा। इससे यह सूचित होता है, मानो ये चारों व्यापारी एक दूसरे से परस्पर परिचित हैं। परन्तु यह बात हमेशा सम्भव नहीं। परिचय हो या न हो, अन्तर्विनिमय और बहिर्विनिमय में माल के मूल्य का विनिमय प्रायः इसी तरह हो जाता है।

जिस तरह डाकख़ाने में रुपया जमा करके मनीआर्डर द्वारा रुपया भेजा जाता है, उसी तरह, जो लोग हुंडी का क़ारोबार करते हैं और भिन्न भिन्न शहरों में इस काम के लिए दुकानें रखते हैं, उनके द्वारा भी व्यापारी आदमी रुपया भेज सकते हैं। थोड़ा रुपया डाकख़ाने की मारफ़त भेजने से कम ख़र्च पड़ता है। पर यदि हज़ार दो हज़ार भेजना हो तो अधिक कमीशन देना पड़ता है; क्योंकि डाकख़ाने के कमीशन का निर्ख़ रुपया सैकड़ा है। अब यदि हुंडी का कारोबार करने वाले भी अपना निर्ख़ इतना ही रक्खेंगे तो क्यों कोई उनकी मारफ़त रुपया भेजेगा? फिर डाकख़ाने ही के द्वारा भेजने में लोगों को अधिक सुभीता होगा। अथवा, नहीं तो, अपने आदमी के हाथ लोग रेल से रुपया भेज देंगे। इसी से हुंडी के व्यवसायी कम ख़र्च पर रुपया भेजने का कारोबार करते हैं। यथार्थ में वे रुपया भेजते नहीं, किन्तु सैकड़े पीछे कुछ अधिक रुपया लेकर हुंडी लिख देते हैं। वह हुंडी ही रुपये का काम करती है। जब किसी जगह से व्यापारी लोग बहुत रुपया बाहर भेजने लगते हैं तब वहाँ हुंडी का कारोबार खुल जाता है। इस कारोबार के करने वाले हुंडियाँ (यहाँ पर 'ड्राफ्ट्स्' (Drafts) से मतलब है) बेंच कर व्यापारियों से रुपया ले लेते हैं। साथ ही सैकड़े पीछे कुछ अधिक हुंडियावन भी लेते हैं। अर्थात् जो लोग रुपया देकर किसी और देश या और शहर के लिए हुंडी ख़रीद करते हैं उनको, हुंडी का व्यवसाय करने वाले महाजन या बैंकर उस देश या उस शहर की अपनी गद्दी या दुकान के नाम, एक पत्र लिख कर दे देते हैं। उसमें लिखा रहता है कि जो रक़म उसमें लिखी है वह हुंडी ख़रीदने वाले को, या जिसे वह कह दे उसे, देदी जाय। इस प्रकार दूसरे देश या दूसरे शहर में इच्छानुसार रुपया

प्राप्त कराने का सुभीता कर देने के बदले महाजन लोग हुंडी ख़रीद करने वालों से सैकड़े पीछे कुछ अधिक लेते हैं। किसी ख़ास देश या ख़ास शहर के लिए हुंडियों की माँग जितनी ही अधिक होती है सैकड़े पीछे हुंडियावन भी उतना ही अधिक देना पड़ता है।

जितना माल कानपुर से बम्बई जाता है उतना ही यदि बम्बई से भी कानपुर आवे, अर्थात् यदि दोनों शहर परस्पर एक दूसरे के बराबर ऋणी हों, तो दोनों जगहों के ऋण का विनिमय बराबर होगा। विनिमय के इस समान भाव का नाम अँगरेज़ी में "एट पार" (at par) है। परन्तु यदि एक शहर का ऋण दूसरे की अपेक्षा अधिक होगा, अर्थात् पूर्वोक्त उदाहरण में कानपुर से बम्बई भेजे गये माल की क़ीमत की अपेक्षा बम्बई से कानपुर भेजे गये माल की क़ीमत यदि अधिक होगी, तो कानपुर को अधिक रुपया भेजना पड़ेगा। इस दशा में बम्बई से कानपुर के ऊपर की गई हुंडियों की दर की अपेक्षा, कानपुर से बम्बई के ऊपर की गई हुंडियों की दर अधिक हो जायगी। जिन लोगों को कानपुर से बम्बई रुपया भेजना होगा उनमें प्रतियोगिता उत्पन्न हो जायगी—उनमें चढ़ा ऊपरी होने लगेगी। फल यह होगा कि बम्बई के ऊपर की हुंडियों का निर्ख़ बढ़ जायगा। अर्थात् बम्बई पर हुंडी ख़रीद करने से हुंडी में लिखे हुए रुपये की अपेक्षा कुछ अधिक देना पड़ेगा। अतएव कानपुर और बम्बई का पारस्परिक मूल्य-विनिमय बम्बई के अनुकूल और कानपुर के प्रतिकूल होगा। मतलब यह कि कानपुर से जो लोग रुपया भेजेंगे, अर्थात् वहाँ हुंडी ख़रीद करेंगे, उनके लिए मूल्य-विनिमय का निर्ख़ सुभीते का न होगा। विपरीत इसके बम्बईवालों के लिए सुभीता होगा; उन्हें कानपुर पर हुंडी ख़रीद करने में कम ख़र्च पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि जब किसी शहर की हुंडियाँ, जिस पर वे लिखी गई हैं उसकी हुंडियों की अपेक्षा चढ़े दामों बिकें, तभी समझना चाहिए कि मूल्य-विनिमय उस शहर के प्रतिकूल है।

पूर्वोक्त उदाहरण में बम्बई के महाजन और बैंकर सस्ते भाव से कानपुर रुपया भेजेंगे। अर्थात् सैकड़े पीछे बहुत थोड़ा ख़र्च लेकर वे बम्बई के व्यापारियों को कानपुर पर हुंडी बेचेंगे। इस प्रकार जो रुपया बम्बई के

मनाजन लोग वहाँ के व्यापारियों से लेंगे उसीमें उस ऋण के चुकाने की चेष्टा की जायगी जो बम्बई के व्यापारियों का कानपुर के व्यापारियों पर होगा ।

किसी शहर पर जब हुंडियों की अधिक माँग होती है तब हुंडी की दर ज़रूर चढ़ जाती है। पर जितना ख़र्च डाक या रेल द्वारा नक़द रुपया भेजने मे पड़ता है, हुंडी का निर्ख़ प्रायः उससे अधिक नहीं होता। क्योंकि कम ख़र्च पड़ने ही के कारण लोग हुंडी ख़रीद करते हैं। यदि कानपुर से पाँच हज़ार रुपया किसी विश्वासपात्र आदमी के साथ कलकत्ते भेजने में रेल का किराया इत्यादि मिलाकर २० रुपये ख़र्च पड़ेगा, और इतने की हुंडी ख़रीदने मे २१ रुपया देना पड़ेगा, तो कोई हुंडी न ख़रीदेगा। अतएव हुंडी का भाव इतना नहीं चढ़ सकता कि वह रेल और डाक आदि के द्वारा रुपये भेजने के ख़र्च से अधिक हो जाय।

अन्तर्विनिमय के सम्बन्ध में जिन नियमों का ऊपर उल्लेख किया गया उन्हीं के अनुसार बहिर्विनिमय भी होता है। कानपुर और बम्बई के व्यापारी जिस तरह अपने माल के मूल्य का विनिमय हुंडी द्वारा करते हैं, कानपुर और लन्दन या कानपुर और पेरिस के व्यापारी भी उसी तरह करते हैं। दोनों तरह के मूल्य-विनिमयों का मूल सूत्र एकही है। विदेश के लिए विलायती या विदेशी हुंडी लेनी होती है और अपने देश के लिए स्वदेशी। विदेशी मूल्य-विनिमय में एक बात की विशेषता ज़रूर है। वह यह है कि विदेश में हिन्दुस्तानी सिक्का नहीं चलता। जितने देश हैं प्रायः सब के सिक्के जुदा जुदा हैं और सब का मूल्य भी प्रायः जुदा जुदा है। इससे मूल्य-विनिमय करने में, जैसा ऊपर एक जगह कहा जा चुका है, एक देश के सिक्के को स्थिर रखकर दूसरे देश के सिक्के का मूल्य उसके बराबर निश्चित करना पड़ता है। इँगलेंड के साथ व्यापार करने में हिन्दुस्तानी सिक्का, अर्थात् चाँदी का रुपया, स्थिर रक्खा जाता है। उसके बदले में कितने पेन्स आवेंगे, यह तत्कालीन विनिमय के निर्ख़ के अनुसार निश्चित किया जाता है।

इँगलेंड और हिन्दुस्तान के दरमियान मूल्य-विनिमय का एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान ने इँगलेंड को गेहूँ भेजा और

इँगलेंड ने हिन्दुस्तान को कपड़ा। कपड़े का जितना मूल्य हुआ गेहूँ का उससे अधिक हुआ। अर्थात् इँगलेंड पर हिन्दुस्तान का कुछ ऋण रहा। इससे जिन लोगों को इँगलेंड से हिन्दुस्तान मूल्य भेजना होगा उनमें परस्पर चढ़ा-ऊपरी होने लगेगी। फल यह होगा कि हिन्दुस्तान पर की विलायती हुंडी का भाव चढ़ जायगा। हिन्दुस्तान पर की गई १५०० रुपये मूल्य की हुंडी १०० पौंड सोने के सिक्के से कुछ अधिक मूल्य पर इँगलेंड में बिकेगी। परन्तु इँगलेंड से हिन्दुस्तान को सोने का सिक्का भेजने में जो ख़र्च पड़ेगा, उससे इस विलायती हुंडी का ख़र्च अधिक न होगा। क्योंकि यदि अधिक होगा तो हुंडी बिकेहीगी नहीं। इस उदाहरण में विनिमय इँगलेंड के प्रतिकूल होगा। अर्थात् विनिमय का निर्ख़ फ़ी रुपया १६ पेन्स से ऊपर चढ़ जायगा। याद रहे, ऊपर, एक जगह, रुपये को हम १६ पेन्स के बराबर बतला चुके हैं। अब यदि इँगलेंड से हिन्दुस्तान को अधिक माल आता और हिन्दुस्तान से इँगलेंड को कम जाता तो इँगलेंड का पावना हिन्दुस्तान के पल्ले रहता। इस दशा में हिन्दुस्तान पर की गई विलायती हुंडी का निर्ख़ गिर जाता। क्योंकि हिन्दुस्तान को इँगलेंड पर जितने की हुंडियाँ ख़रीदनी पड़तीं, इँगलेंड को हिन्दुस्तान पर तदपेक्षा कम की ख़रीदनी पड़तीं। यहाँ पर यह बात न भूलनी चाहिए कि प्रत्येक देश के प्रदत्त रुपये के द्वारा ही उस देश का प्राप्य रुपया चुकता हो जाता है। इँगलेंड को यदि १०० पौंड हिन्दुस्तान भेजना हो और इतनाही हिन्दुस्तान से पाना हो तो उसे हिन्दुस्तान को कुछ भी न भेजना पड़ेगा। हुंडी द्वारा इँगलेंड ही में इस लेन देन का भुगतान हो जायगा। परन्तु यदि हिन्दुस्तान से पाना अधिक होगा और देना कम तो हिन्दुस्तान पर की गई १०० पौंड, अर्थात् १५०० रुपये की हुंडी, इँगलेंड में १०० पौंड से कुछ कम की बिकेगी। इससे यह सूचित हुआ कि जब इँगलेंड में हिन्दुस्तान पर की गई हुंडी चढ़े भाव ख़रीद की जायगी तब हिन्दुस्तान में इँगलेंड पर की गई हुंडी बट्टा काट कर ली जाएगी। इसी तरह जब इँगलेंड में हिन्दुस्तान पर की गई हुंडी बट्टा काट कर ख़रीद की जायगी या बिकेगी तब हिन्दुस्तान में इँगलेंड पर की गई हुंडी चढ़े दामों बिकेगी।

हुंडी ख़रीद करके मूल्य भेजने का ख़र्च जब सोना या चाँदी भेजने के ख़र्च के बराबर होता है तब उसे अँगरेज़ी में "स्पीसी पाइंट" (Specie Point) कहते हैं।

हुंडी द्वारा जिस देश को रुपया भेजना है उस देश पर की गई हुंडियों का भाव चढ़ जाने पर एक और तरकीब से यदि रुपया भेजा जाय तो ख़र्च कम पड़ता है। इस अभीष्ट-सिद्धि के लिए एक और देश को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। जिस देश को रुपया भेजना है उसके और किसी दूसरे देश के दरमियान यदि विनिमय का निर्ख़ उस दूसरे देश के अनुकूल है तो उसे बीच में डाल कर हुंडी करने से ख़र्च कम पड़ता है। इस तरकीब को अँगरेज़ी में आरबिट्रेशन आव् यक्सचेंज (Arbitration of Exchange) कहते हैं। मान लीजिए कि इँगलेंड और हिन्दुस्तान के दरमियान मूल्य-विनिमय का भाव इँगलेंड के अनुकूल है। इस दशा में हिन्दुस्तान से इँगलेंड पर की गई हुंडियों का निर्ख़ चढ़ जायगा और हिन्दुस्तान के व्यापारियों को हुंडियाँ ख़रीदने में अधिक ख़र्च पड़ेगा। अब इसी समय यदि फ़्रांस और इँगलेंड के दरमियान विनिमय का निर्ख़ फ़्रांस के अनुकूल हो, और फ़्रांस और हिन्दुस्तान के दरमियान का विनिमय हिन्दुस्तान के अनुकूल हो, तो हिन्दुस्तानी व्यापारियों को फ़्रांस की हुंडी इँगलेंड पर ख़रीदने से फ़ायदा होगा। यदि किसी समय विनिमय का भाव इस प्रकार हो कि:—

हिन्दुस्तान के १५॥ रुपये इँगलेंड के १ पौंड सोने के सिक्के के बराबर हों
फ़्रांस के २४॥ फ़्रांक " "
हिन्दुस्तान के १५ रुपये फ़्रांस के २५ फ़्रांक के बराबर हों

तो फ़्रांस के २४॥ फ़्रांक ख़रीदने में हिन्दुस्तान के १५ रुपये से कम ही लगेंगे। उधर २४॥ फ़्रांक इँगलेंड के एक पौंड के बराबर हैं। अतएव इँगलेंड का १ पौंड चुकाने के लिए हिन्दुस्तान यदि १५॥ देगा तो उसे व्यर्थ हानि उठानी पड़ेगी। वह, यदि, इस दशा में, फ़्रांस की हुंडी इँगलेंड पर ख़रीदेगा तो फ़ी पौंड १५॥ रुपये न देकर, १५ रुपये से भी कुछ कम देने से उसका काम हो जायगा।

विनिमय-सम्बन्धी सब बातों का जानना व्यापारियों के लिए बहुत

ज़रूरी है। मूल्य-विनिमय के निर्ख़ की घटती बढ़ती का ज्ञान रखने से व्यापारियों को बहुत लाभ हो सकता है। प्रत्येक देश के विनिमय का निर्ख़ और प्रत्येक देश के सिक्के का धातुगत मूल्य जानने से वाणिज्य-व्यवसाय करने वाले यह फ़ौरन बतला सकते हैं कि कहाँ रुपया देने, कहाँ लेने और कहाँ की हुंडी कटाने से उन्हें लाभ होगा।

व्यापारियों को चाहिए कि वे व्यापार-विषयक गणित (Commercial Arithmetic) की किताबें पढ़ें। यदि वे ख़ुद न पढ़ सकते हों तो किसी अँगरेज़ीदां व्यापारी से उनके मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करलें। अन्यान्य देशों के सिक्कों के नाम और उनके धातुगत मूल्य का भी ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए बहुत ज़रूरी है। यदि वे ऐसा न करेंगे तो फ़्रांस के फ़्रांक (Franc), अमेरिका के डालर (Dollar), इटली के लाइरा (Lira), स्पेन के पेसेटा (Peseta), जर्मनी के मार्क (Mark), ग्रीस के लेप्टा (Lepta) और रूस के रुबल (Rouble) आदि सिक्कों के नाम और उनका मूल्य वे न जान सकेंगे। और बिना इन बातों के जाने मूल्य-विनिमय का तारतम्य जानना असम्भव है। जो इस तारतम्य को न जानेगा वह विदेश से व्यापार करके यथेष्ट लाभ भी न उठा सकेगा।

एक उदाहरण लीजिए। हिन्दुस्तान और इँगलेंड के पारस्परिक व्यापार मे यदि विनिमय हिन्दुस्तान के अनुकूल होगा, अर्थात् यदि एक रुपये के बदले १६ पेंस से अधिक मिलेंगे, तो जो लोग विलायती चीज़ें ख़रीद करेंगे वे फ़ायदे में रहेंगे। पर जिनका माल विलायत में—इँगलेंड में—बिकेगा उन्हें उसकी क़ीमत पहले की अपेक्षा कम मिलेगी; उतना रुपया उन्हें उसके बदले न मिलेगा जितना पहले मिलता था।

यदि विनिमय हिन्दुस्तान के प्रतिकूल होगा तो फल भी इसका विपरीत होगा। एक रुपये के बदले यदि १६½ पेन्स मिलेंगे, अर्थात् यदि एक रुपया १६ पेन्स से अधिक का हो जायगा, तो १६½ पेन्स क़ीमत की चीज़ें एकही रुपये में आजायँगी। परन्तु विनिमय प्रतिकूल होने से, अर्थात् एक रुपये के बदले १५½ ही पेन्स मिलने से, वही पूर्वोक्त १६½ पेन्स क़ीमत की चीज़ें ख़रीदने में एक रुपये से कुछ और अधिक देना पड़ेगा। अर्थात् विलायती

माल की क़ीमत चढ़ जायगी। विनिमय का निर्ख़ १४ पेन्स होने से १२ रुपये मन की रुई के दाम इँगलेंड के व्यापारी १४ शिलिंग देंगे। पर निर्ख़ १६½ पेन्स होने से उन्हें उसी रुई की क़ीमत १६½ शिलिंग देनी पड़ेगी। यदि किसी और देश में किसी साल अच्छी रुई पैदा होगी और उसकी कटती विलायत में अधिक होगी तो इस इतनी रुई की क़ीमत इँगलेंड के व्यापारी १६½ शिलिंग न देंगे। अतएव वह सस्ते भाव बिकेगी। इस दशा में हिन्दुस्तान के व्यापारी यदि और साल की तरह इस भरोसे रुई ख़रीद कर विलायत भेजेंगे कि इस दफ़े भी उन्हें एक मन के १६½ शिलिंग मिलेंगे तो उनको बहुत नुक़सान उठाना पड़ेगा। इसी से विदेश से व्यापार करने वाले व्यवसायियों के लिए विनिमय-सम्बन्धी ज्ञान का होना बहुत ज़रूरी है।

छठा परिच्छेद।

गवर्नमेंट की व्यापार-व्यवसाय-विषयक नीति।

हमारी गवर्नमेंट बन्धन-रहित, अर्थात् असंरक्षित, व्यापार के नियमों का अनुसरण करती है। उसका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा। परन्तु उसकी बातें अच्छी तरह समझ में आने के लिए इस देश के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाली गवर्नमेंट की नीति की आलोचना करना बहुत ज़रूरी है। इसीसे यह परिच्छेद लिखना पड़ा। इसमें जहाँ जहाँ हमने इँगलेंड का नाम लिया है वहाँ वहाँ अँगरेज़ों के द्वीप-समूह—इँगलेंड, स्काटलेंड, आयरलेंड और वेल्स सभी—से मतलब है।

हिन्दुस्तान की कला-कौशल-सम्बन्धिनी अवस्था इस समय बहुत ही शोचनीय है। उसकी औद्योगिक शक्ति यदि मृत नहीं तो म्रियमाण दशा को अवश्य ही प्राप्त है। एक समय था—और इस समय को हुए सौ डेढ़ सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए—जब इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी कपड़ों के लिए प्रायः सारा योरप लालायित था। इस व्यवसाय में कोई पश्चिमी देश भारतवर्ष की बराबरी नहीं कर सकता था। वस्त्रों के सिवा और भी कितनी ही चीज़ें ऐसी थीं जिनकी रफ़्नी योरप के भिन्न भिन्न

देशों को होती थी। यहाँ का व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा था। करोड़ों रुपये का माल विदेश जाता था। पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रभुत्व इस देश मे बढ़ते ही उसका ह्रास शुरू हुआ। इँगलेंड की पारलियामेंट ने १७०० और १७२१ ईसवी में क़ानून बना दिया कि वहाँ का कोई आदमी हिन्दुस्तान के बने हुए कपड़े व्यवहार में न लावे। इस क़ानून की पाबन्दी न करने वालों के लिए दण्ड तक का विधान हो गया। फल यह हुआ कि कुछ दिनों में इस देश का व्यापार-व्यवसाय नष्ट हो गया और इँगलेंड के कारख़ानेदारों की बन आई। वे लोग उलटा भारत को ही अपना कपड़ा भेजने लगे। इस विषय का सविस्तर वर्णन रमेशचन्द्र दत्त महाशय ने अपनी "इकनामिक हिस्ट्री आव् ब्रिटिश इंडिया" (Economic History of British India) नाम की पुस्तक में बड़ी योग्यता से किया है। उसका सारांश सुनिए।

अट्ठारहवीं शताब्दी में ही नहीं, उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भी, हिन्दुस्तान के माल को दबाने और विलायत के माल का ख़ूब प्रचार करने की कोशिश की गई। इसमें यथेष्ट कामयाबी हुई। ऐसी कामयाबी कि हिन्दुस्तानी माल का विलायत जाना ही बन्द हो गया। हिन्दुस्तान की बनी हुई जो चीज़ें योरप को जाती थीं उन पर इतना कर लगा दिया गया कि उनका जाना असंभव हो गया। विपरीत इसके विलायती चीज़ों पर नाम-मात्र के लिए कर लगा कर यहाँ उनकी आमदनी बढ़ाई गई। इँगलेंड ने क्या किया कि अपने कल-कारख़ानों को उन्नत करने के लिए हिन्दुस्तान में सिर्फ़ कच्चे बाने की उत्पत्ति को बढ़ाया। मतलब यह कि हिन्दुस्तान में कच्चा माल तैयार होकर इँगलेंड जाय। वहाँ उससे अनेक प्रकार की चीज़ें तैयार हों और वही चीज़ें फिर इस देश को आवें।

१८३७ ईसवी में इँगलेंड का राजासन महारानी विक्टोरिया को मिला। तब तक विलायत के व्यापारी अपना काम कर चुके थे; हिन्दुस्तान के माल की आमदनी वे बन्द कर चुके थे। तथापि तब भी पहले वाली नीति जैसी की तैसी बनी रही। उस समय भी हिन्दुस्तान के बने हुए रेशमी रूमालों का थोड़ा बहुत खप योरप में था। यह भी इँगलेंडवालों को असह्य हुआ। उन्होंने हिन्दुस्तान के रेशमी कपड़ों पर भारी कर लगा दिया। पार-

लियामेंट ने इस बात की तहक़ीक़ात शुरू की कि इँगलेंड के कारख़ानों में ख़र्च होने के लिए हिन्दुस्तान में कपास की खेती की उन्नति कैसे हो। पर उसने इस बात की जाँच न की कि हिन्दुस्तान के जुलाहे जिस प्रणाली से कपड़े बुनते हैं उसकी उन्नति किस तरह हो। १८५८ ईसवी में ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजसत्ता की हिन्दुस्तान में समाप्ति हो गई। पर उसके बहुत पहले ही हिन्दुस्तान के जुलाहे बेकार हो चुके थे; माल का तैयार होना बन्द हो चुका था; हिन्दुस्तानियों की जीवन-रक्षा का एक मात्र सहारा खेती का व्यवसाय हो गया था।

१८५८ ईसवी के बाद भी अँगरेज़-व्यापारियों का ध्यान हिन्दुस्तान से योरप जाने वाले माल पर बराबर बना रहा। हिन्दुस्तानी माल पर कर लगाने का कर्तव तब तक भी बराबर उन्हीं के हाथ में रहा। इँगलेंड में तैयार हुए माल पर जो महसूल लगता था उसे और कम करा के इन लोगों ने उसकी रफ़्तनी हिन्दुस्तान को बढ़ा दी। फल यह हुआ कि विलायत का माल, यहाँ के माल के मुक़ाबले में, सस्ता बिकने लगा। फिर भला हिन्दुस्तान की बनी हुई चीज़ें कोई क्यों ख़रीदता? इसके कुछ समय बाद बम्बई में कुछ मिलें खुलीं—वहाँ कपड़ा बुनने के कई कारख़ाने जारी हुए। इस से विलायत के कारख़ानेदार जुलाहे मत्सर की आग से और भी जल उठे। उन्होंने समझा कि कहीं हिन्दुस्तानी अपने ही देश का बना हुआ कपड़ा न व्यवहार करने लगें। ऐसा होने से उनके रोज़गार के मारे जाने का डर था। इसका भी उन्होंने शीघ्रही इलाज किया। उन्होंने पारलियामेंट में इस बात पर ज़ोर दिलाया कि विलायती माल पर उस समय तक जो कर लगता था वह और भी कम किया जाय। उनका मनोरथ सफल हुआ, और यहाँ तक सफल हुआ कि दो चार चीज़ों को छोड़ कर हिन्दुस्तान को भेजे जाने वाले सभी तरह के विलायती माल पर का कर एकदम ही उठा दिया गया। यह घटना १८८२ में हुई।

इस प्रकार हिन्दुस्तान का व्यापार अच्छी तरह नष्ट हो गया। विलायती कारख़ानेदारों की बन आई। उनके माल से हिन्दुस्तान भर गया। गाँव गाँव में विलायती कपड़ा देख पड़ने लगा। इस देश के कलाकौशल और

कपड़े आदि के कारोबार का नाश करने के लिए इँगलेंड के व्यापारियों ने जो जो उपाय किये उनका यह दिग्दर्शन मात्र है। परन्तु इस विषय के कुछ अधिक विस्तार से लिखे जाने की ज़रूरत है।

अट्ठारहवीं शताब्दी में जो माल जल या थल की राह से एक जगह से दूसरी जगह जाता था उस पर इस देश में महसूल लगता था। परन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी को शाही फ़रमान मिल गया कि उसके माल पर किसी तरह का महसूल न लगाया जाय। १७५७ ईसवी में, पलासी की लड़ाई के बाद, अँगरेज़ों की प्रभुता बंगाल मे बढ़ गई। इससे जो अँगरेज़ ईस्ट-इंडिया कम्पनी के नौकर थे वे भी अपना माल बिला महसूल दिये ही ले जाने लगे। ये लोग .खुद भी व्यापार करते थे; कम्पनी के व्यापार से उनका व्यापार जुदा था। इससे मुरशिदाबाद के नवाब नाज़िम को बड़ी हानि होने लगी। जो देखो वही "कम्पनी बहादुर" बन बैठा और माल पर महसूल देने से इनकार करने लगा। सब का माल विना महसूल दिये ही एक जगह से दूसरी जगह जाने लगा। पर बेचारे हिन्दुस्तानी व्यापारियों के माल पर पूर्ववत् ही महसूल लगता गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के व्यापारियों को भारी हानि होने लगी; वे बेचारे व्यर्थ ही पीसे जाने लगे। उधर अँगरेज़ व्यापारी मालामाल होने लगे। प्रायः सारा व्यापार इन्हीं विदेशी व्यापारियों के हाथ में चला गया। नवाब को माल पर जो महसूल मिलता था उसके कम हो जाने से बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुज़ारी घटते घटते बहुत ही घट गई।

अँगरेज़-व्यापारियों ने अपने माल पर महसूल देने से इनकार किया सो तो किया ही, उन्होंने प्रजा-पीड़न भी शुरू किया। नवाब के अफ़सरों और अधिकारियों तक के साथ वे ज़ियादती करने लगे। जिन चीज़ों का व्यापार करने की उन्हें इजाज़त न थी उनका भी वे व्यापार करने लगे। हर शहर, हर क़सबे, हर गाँव में अँगरेज़-व्यापारियों के एजंट और गुमाश्ते पहुँच गये। उन्होंने मनमाने भाव पर माल ख़रीदना और बेचना आरम्भ किया; जिसने उनके हाथ माल बेचने से इनकार किया उसे सज़ा देना शुरू किया; यदि नवाब के अफ़सरों ने कुछ दस्तंदाज़ी की तो उनकी भी ख़बर लेने से ये

लोग बाज़ न आने लगे । कलकत्ते से क़ासिमबाज़ार तक ही नहीं, ढाके और पटने तक सब कहीं इन लोगों ने अराजकता फैला दी । नवाब ने कई दफ़े इन लोगों की शिकायत कलकत्ते के अँगरेज़-गबर्नर से की, पर कुछ लाभ न हुआ । जहाँ इन लोगों की आमदरफ़्त अधिक थी वहाँ के मनुष्य अपना घर द्वार छोड़ कर भगने लगे; जिन बाज़ारों में पहले कंचन बरसता था वे धीरे धीरे उजड़ने लगे; हर पेशे के आदमियों पर सख़्ती होने लगी ।

जिस मंडी या जिस बाज़ार में अँगरेज़ व्यापारियों का गुमाश्ता पहुँचता था वहाँ वह एक जगह जाकर ठहर जाता था । उसे वह अपनी कचहरी कहता था । हर गुमाश्ते की कचहरी अलग अलग थी । वहीं बैठे बैठे वह अपने चपरासियों और हरकारों से दलालों और जुलाहों को बुला भेजता था । उनसे वह एक दस्तावेज़ लिखाता था कि इतना माल, इतने दिनों बाद, इस क़ीमत पर हम देंगे । इसके बाद उसे थोड़ा सा रुपया पेशगी दे दिया जाता था । यदि जुलाहा या कोली दस्तख़त करने से इनकार करता था तो ज़बरदस्ती उससे दस्तख़त कराये जाते थे । यदि वह पेशगी रुपया न लेता था तो वह ख़ूब ठोंका जाता था । इस तरह उसकी पूजा हो चुकने पर रुपये उसके कपड़े में ज़बरदस्ती बाँध दिये जाते थे । ये लोग गोया गुमाश्ते साहब के ग़ुलाम हो जाते थे; और लोगों का काम न करने पाते थे; और अनेक शारीरिक कष्ट सहने पर भी अपने कपड़े की उचित क़ीमत से वञ्चित रक्खे जाते थे । बाज़ार में जो माल १०० रुपये को बिक सकता था उसकी क़ीमत कभी कभी ६० ही रुपये उन्हें मिलती थी । बाज़ार भाव से क़ीमत का पन्द्रह बीस फ़ी सदी कम मिलना तो कोई बात ही न थी । परिणाम यह हुआ कि सारे बङ्गाल का व्यापार विलायती व्यापारियों के हाथ में चला गया । जब प्रजा पर ऐसी सख़्ती होने लगी तब वारन हेस्टिंगज़ और हेनरी वैनिस्टार्ट से न देखा गया । उन्होंने नवाब मीर क़ासिम से मिल कर यह फ़ैसला किया कि जो माल विलायत से यहाँ आवे, या यहाँ से विलायत जाय, उस पर महसूल न लगे । पर जो माल यहीं का हो, और एक जगह से दूसरी जगह भेजा जाय, उस पर महसूल दिया जाय ।

यह १७६३ ईसवी की घटना है । इसे कौन न्याय-सङ्गत न कहेगा ? पर

कलकत्ते के अँगरेज़ी कौन्सिल के अन्य सभ्यों को यह बात बहुत ही नागवार मालूम हुई। कौन्सिल की फ़ौरन ही एक बैठक हुई। उसमें निश्चय हुआ कि कम्पनी के मुलाज़िम अँगरेज़ों को बङ्गाल में बिना महसूल दिये ही व्यापार करने का पूरा हक़ है। हाँ नवाब की राजसत्ता क़बूल करने के लिए हम सिर्फ़ नमक पर ढाई फ़ी सदी महसूल देंगे। जैसा कि पूर्वोक्त दो साहबों ने नवाब से सहमत होकर ९ फ़ी सदी महसूल सब चीज़ों पर देना स्वीकार किया है, वह हम न देंगे। कौन्सिल के इस निश्चय से हेस्टिंग्ज़ और वैनिस्टार्ट सहमत नहीं हुए; पर वे कर क्या सकते थे? बहुमत उनके विपक्ष में था। इसकी ख़बर जब नवाब को पहुँची तब उसने आजिज़ आकर सभी के माल पर का महसूल उठा दिया। फल यह हुआ कि विदेशी और स्वदेशी वणिक् दोनों के लिए एक सा सुभीता हो गया। जो विदेशी व्यापारियों से महसूल न लिया जाय तो स्वदेशी व्यापारियों से ही लेकर क्यों उन्हें हानि पहुँचाई जाय? यह समझ कर नवाब ने ऐसा किया और बहुत मुनासिब किया। परन्तु कलकत्ते के कौंसिल वालों ने (पूर्वोक्त दोनों साहबों को छोड़ कर) नवाब के इस काम को बहुत ही अनुचित समझा। नवाब ने इन गोरे व्यापारियों के इस निश्चय को न माना। अन्त में युद्ध हुआ। विजय-लक्ष्मी ने अँगरेज़ व्यापारियों ही का पक्ष लिया। वृद्ध मीर जाफ़र फिर नवाबी मसनद पर बिठलाया गया। कम्पनी के मुलाज़िमों का व्यापार पूर्ववत् जारी रहा। यद्यपि कम्पनी के डाइरेक्टरों ने ऐसा करने से कई दफ़े मना भी किया; पर उनका हुक्म काग़ज़ पर ही रहा। उसकी तामील न हुई—तामील होने में एक मुद्दत लग गई।

१७६५ ईसवी तक ईस्ट इंडिया कम्पनी बङ्गाल में व्यापार ही करती रही। साथ ही उसके मुलाज़िम भी व्यापार करते रहे। पर इस साल लार्ड क्लाइव ने कम्पनी के लिए बङ्गाल, बिहार और उड़ीसे की दीवानी प्राप्त की। तभी से "कम्पनी बहादुर" की राज-सत्ता का बीज भारत में वपन हुआ। तभी से कम्पनी को शासन का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके आगे कम्पनी ने व्यापार करना छोड़ दिया; पर उसके मुलाज़िम, मना किये जाने पर भी, और भी दो तीन वर्ष तक व्यापार में लिप्त रहे। बड़ी मुश्किलों से

उन्होंने इस पेशे से अपना हाथ खींचा। तब तक इस देश का व्यापार-व्यवसाय बहुत कुछ बरबाद हो चुका था। तथापि जो कुछ बाक़ी था वह भी विलायत के जुलाहों और कल-कारख़ानेदारों को खटक रहा था। राज-सत्ता कम्पनी के हाथ में आ ही चुकी थी। इससे उन लोगों ने यहाँ के बचे बचाये व्यवसाय को भी, कम्पनी की क़ानूनी मदद से, नष्ट करने की ठानी। उनका प्रयत्न सफल भी हुआ। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने विलायत से हुक्म निकाला कि हिन्दुस्तान में कच्चा ही रेशमी माल तैयार करने वालों को उत्साह दिया जाय; उन्हीं के लिए सब तरह का सुभीता किया जाय। जो लोग रेशमी कपड़े ख़ुद ही बनाना चाहें उन्हें मदद न दी जाय। रेशमी तागा तैयार करने वालों से कम्पनी के कारख़ानों में ज़बरदस्ती काम लिया जाय। मतलब यह कि हिन्दुस्तानी व्यवसायी सिर्फ़ रेशम तैयार करके विलायत भेजे और विलायती व्यवसायी उसके कपड़े बना कर फ़ायदा उठावें। इस विषय की सब बातें कम्पनी के डाइरेक्टर्स ने अपनी १७ मार्च १७६९ की चिट्ठी में बङ्गाल के कौन्सिल को लिख भेजीं। यहाँ बड़ी ही सरगरमी से उसकी पाबन्दी हुई। परिणाम यह हुआ कि १८३३ ईसवी तक इस देश के कितने ही कारख़ाने टूट गये। रेशमी और सूती दोनों तरह का कपड़ा बनना बहुत कुछ बन्द हो गया। कहाँ हिन्दुस्तान से करोड़ों रुपये का कपड़ा योरप जाता था, कहाँ इँगलेंड वाले उलटा हिन्दुस्तान को अपना बनाया कपड़ा पहनाने लगे। जिस इँगलेंड ने १७९४ ईसवी में सिर्फ़ २३४० रुपये का सूती कपड़ा हिन्दुस्तान और इस तरफ़ के और देशों को भेजा था उसी ने, बीस ही वर्ष बाद, १८१३ ईसवी में, १६,३२,३६० रुपये का कपड़ा भेजा।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पारलियामेंट (हाउस आव् कामन्स) ने एक कमिटी नियत की। उस कमिटी ने हिन्दुस्तान से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों की जाँच की। इस देश का ज्ञान रखने वाले कितने ही अँगरेज़-अधिकारियों की साक्षी ली गई। इस कमिटी की काररवाई के काग़ज़-पत्र पढ़ने से दुःख होता है। कमिटी ने बार बार इस बात के जानने का यत्न किया कि किस तरकीब से विलायती कपड़े का ख़र्च हिन्दुस्तान में बढ़ सकता है और किस तरकीब से वहाँ कपड़ा बनना बन्द हो सकता है। इस कार्य्य-सिद्धि

की यही सबसे अच्छी तरकीब सोची गई कि हिन्दुस्तानी कपड़े पर इतना महसूल लगा दिया जाय कि उसका विदेश जाना बन्द हो जाय। यह तरकीब शीघ्र ही काम में लाई गई और इतना भारी कर लगा दिया गया कि हिन्दुस्तानी कपड़े के व्यापारियों और व्यवसायियों का कारोबार बैठ सा गया। हिन्दुस्तानी मसलिन यदि विलायत भेजा जाय तो १० फ़ी सदी महसूल और यदि वह विलायत ही में ख़र्च के लिए हो, वहाँ से अन्यत्र भेजे जाने के लिए न हो, तो २७ फ़ी सदी! यह २७ फ़ी सदी कुछ दिनों में बढ़कर ३१ फ़ी सदी हो गया! विलायत में ख़र्च होने वाले कैलिको नामक छापे हुए रङ्गीन कपड़े पर ७८ फ़ी सदी तक महसूल लगाया गया। अर्थात् १०० रुपये की चीज़ पर ७८ रुपया महसूल। उसमें यदि भेजने आदि का ख़र्च जोड़ लिया जाय तो १०० रुपये का कपड़ा विलायत में कोई २०० का पड़े!!! इस समय तक भी हिन्दुस्तानी कपड़ा विलायती कपड़े के मुक़ाबले में सस्ता बिकता था। लन्दन में हिन्दुस्तानी कपड़ा वहाँ के कपड़े की अपेक्षा ६० फ़ी सदी कम क़ीमत पर बिक सकता था और इस भाव भी बेचने से मुनाफ़ा होता था। इसी बिक्री को मारने के लिए फ़ी सदी ७० और ८० महसूल लगाया गया। यदि ऐसी अनुचित काररवाई न की जाती तो हिन्दुस्तानी कपड़े की आमदनी विलायत में कभी बन्द न होती और मैनचेस्टर के पुतलीघर कब के बन्द हो गये होते। पर जो व्यापारी—जो कारख़ानेदार—वही क़ानून बनाने वाले। उन्होंने अपने लाभ के लिए हिन्दुस्तानी कपड़े पर कड़े से कड़ा महसूल लगा कर यहाँ के व्यवसायियों के मुँह का ग्रास छीन लिया। यदि हिन्दुस्तान में भी विदेशी माल पर महसूल लगाने की शक्ति होती तो वह भी इस देश में आने वाले विलायती कपड़े पर महसूल लगा कर उसकी आमदनी रोक देता। पर ऐसा करना उसके लिए असम्भव था। विलायती व्यवसायियों ने अपने माल पर कुछ भी महसूल न रख कर, अथवा नाम मात्र के लिए उस पर महसूल लगा कर, उसे हिन्दुस्तान को पहुँचाया, और हिन्दुस्तानी माल का अपने देश में आना रोक दिया। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मिल ने अपने भारतवर्षीय इतिहास में इन बातों को बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में लिखा है।

कम्पनी के मुलाज़िम तो व्यापार करने से रोक दिये गये, पर बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी की सनद पाकर भी कम्पनी ने व्यापार करना बन्द नहीं किया। कम्पनी का व्यापार १८३३ ईसवी तक बराबर जारी रहा। साथ ही विलायत के अन्यान्य व्यापारियों को भी हिन्दुस्तान में व्यापार करने की आज्ञा मिल गई। कम्पनी के डाइरेक्टरों को जो माल जितना दरकार होता था उसकी एक फ़ेहरिस्त बना कर कलकत्ते भेजी जाती थी। कलकत्ते के अफ़सर कम्पनी की भिन्न भिन्न कोठियों को लिख देते थे कि इतना माल कम्पनी को चाहिए। कोठी वाले अँगरेज़, जुलाहों को पकड़ कर उन पर पहरा बिठा देते थे और जब तक वे इस बात को न क़बूल कर लेते थे कि हम कम्पनी के सिवा और किसी को माल न बेचेंगे तब तक वे हिलने न पाते थे। यदि माल देने में देरी होती थी तो वे पकड़े जाते थे और कचहरी में उन पर मुक़द्दमा चलाया जाता था। वक्त पर माल न पहुँचने पर कम्पनी का चपरासी दस्तक लेकर जुलाहों के घर पहुँचता था और बेचारे जुलाहों को एक आना रोज़ उसे देना पड़ता था। एक एक अँगरेज़ी कोठी के अधीन हज़ार हज़ार डेढ़ डेढ़ हज़ार जुलाहे रहते थे। उनका जान-माल इन्हीं कोठी वाले अँगरेज़ों के हाथ में था। सारांश यह कि जुलाहों पर बेहद अत्याचार होता था।

१८३३ ईसवी में विलायती पार्लियामेंट ने कम्पनी को व्यापार करने से रोक दिया। उसने कहा, कम्पनी को शासक होकर व्यापार न करना चाहिए। इससे उसे हिन्दुस्तानी व्यापार से हाथ खींचना पड़ा। अँगरेज़-व्यापारियों की बन आई। वे प्रतिबन्ध-रहित होकर हिन्दुस्तान में व्यापार करने लगे। हिन्दुस्तान से विदेश जाने वाले माल की रफ़्नी दिनों दिन घटती गई। शाल, मसलिन, रंगीन और सादा सूती कपड़ा, चटाइयाँ, रेशम और रेशमी कपड़ा, ऊन और ऊनी कपड़ा, शक्कर, कई तरह के अर्क़ आदि जो यहाँ से विलायत जाते थे, महसूल की अधिकता के कारण बहुत ही कम जाने लगे। रुई और रेशम के कपड़े की रफ़्नी बहुत ही कम हो गई। उसके बदले हज़ारों गट्ठे रुई और रेशम के जाने लगे और विलायत से कपड़ा उलटा हिन्दुस्तान आने लगा।

जब कम्पनी व्यापार करने से मना कर दी गई तब उसके हृदय में उदारता का अंकुर उगा। तब उसे भारतवासियों पर दया आई। कम्पनी ने १८४० ईसवी में पार्लियामेंट से प्रार्थना की कि जिस महसूल के कारण हिन्दुस्तानी कारोबार नष्टप्राय हो रहा है वह उठा दिया जाय। पार्लियामेंट के "हाउस आव् कामन्स" ने इस प्रार्थना पर विचार करने के लिए एक कमिटी बनाई। उसने जाँच आरम्भ की। अनेक लोगों ने गवाहियाँ दीं। किसी किसी ने इँगलेंड की उस व्यापार-विषयक नीति की बड़ी ही निर्भयता और स्पष्टता से निन्दा की जिसने हिन्दुस्तान के व्यवसाय को दबा कर विलायती व्यापार-व्यवसाय की बढ़ती की थी। इनमें से एक आध ऐसे भी थे जिन्होंने कहा कि हिन्दुस्तानी व्यवसायी और कारीगर, और उनके बाल-बच्चे मर जायँ तो कुछ परवा नहीं; हमें पहले अपने व्यवसाय और अपने बाल-बच्चों की रक्षा करनी चाहिए। हिन्दुस्तानी व्यवसायियों पर हमें दया ज़रूर आती है; पर अपने परिवार का उनकी अपेक्षा अधिक ख़याल है। हिन्दुस्तानियों की अवस्था हमसे ख़राब ही क्यों न हो, हम उनके लिए अपने कुटुम्ब को कदापि कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते!'

इस कमिटी की तहक़ीक़ात का फल यह हुआ कि लार्ड यलनबरा ने हिन्दुस्तान से जाने और यहाँ आने वाली तम्बाकू पर जो महसूल लगता था उसे बराबर कर देने की सिफ़ारिश की। पर "रम" नामक शराब पर लगने वाले महसूल को बराबर करने से इनकार कर दिया। हिन्दुस्तान में सूती कपड़ा बनना बन्द ही हो गया था; इस लिए इस कपड़े पर भी एक सा महसूल लगाने के लिए आपने सिफ़ारिश की। रेशमी कपड़ा तब तक भी थोड़ा बहुत हिन्दुस्तान से विलायत जाता था। अतएव यदि उस पर उतना ही महसूल कर दिया जाता जितना कि विलायती कपड़े पर था तो उसकी रफ़्नी बन्द न होती। परन्तु लाट साहब ने इस विषय में भी दस्तंदाज़ी करने से इनकार किया। अर्थात् जिस बात में इँगलेंड की हानि समझी गई वह न होने पाई।

१८३३ और १८५३ ईसवी के दरमियान कई दफ़े हिन्दुस्तानी और विलायती माल पर लगने वाले महसूल में फेरफार हुआ। विलायत से

हिन्दुस्तान आने वाली ख़ास ख़ास चीज़ों पर १८५२ में जो महसूल लगता था उसकी तफ़सील हम नीचे देते हैं:—

	फ़ी सदी
१ विलायत से आने वाली किताबें	कुछ नहीं
२ और देशों से आने वाली किताबें	३
३ सूती और रेशमी कपड़ा, विलायती	५
,, ,, और देशों का	१०
४ सूत—विलायती	३½
५ सूत—और देशों का	७
६ धात—विलायती	५
७ धात—और देशों की	१०
८ ऊनी कपड़ा—विलायती	५
९ ऊनी कपड़ा—और देशों का	१०

हिन्दुस्तान से विलायत जाने वाली चीज़ों पर जो महसूल लगता था उससे बहुत कम विलायत से आने वाली उन्हीं चीज़ों पर लगता था। हिन्दुस्तानी चीज़ों का विलायत जाना रोकने के लिए यह बन्दोबस्त था। यह पहली बात हुई। फिर, विलायत से मुक़ाबला करने वाले और देशों की चीज़ों पर दूना महसूल लगा कर उनका हिन्दुस्तान आना रोका गया। यह दूसरी बात हुई। हमीं हिन्दुस्तान में धात, सूत, कपड़ा, किताबें बेंचें; और कोई देश न बेचने पावे। मतलब यह। इसका परिणाम यह हुआ कि १८३४-३५ में सारे योरप से जितना माल इस देश में आया था, १६ वर्ष बाद, अर्थात् १८५० में, उससे दूना आया—दूना क्यों दूने से भी अधिक। बेचारे हिन्दुस्तान को इस माल का मोल अधिकतर अनाज, रुई, रेशम और ऊन आदि कच्चे बाने ही की रफ़्तनी से चुकाना पड़ा; क्योंकि और माल भेजने का तो द्वार ही विलायत वालों ने बन्द सा कर दिया था। फिर जितने का माल उसने विदेश से पाया उससे ड्योढ़ी क़ीमत का उसे विदेश भेजना पड़ा। जिसे "होम चार्जेज़" कहते हैं उस मद में उसे बहुत रुपया देना पड़ा, जिसके बदले माल के रूप में उसे कुछ भी न मिला। हिन्द-

स्तान के विदेशी व्यापार का अर्द्धांश अकेले विलायत से था। अतएव और देशों की अपेक्षा विलायत वालों ने ही इस व्यापार से अधिक लाभ उठाया।

१८५९ में लार्ड केनिंग को हिन्दुस्तान पर दया आई। उन्होंने विलायत, अर्थात् इँगलिस्तान, से आने वाली चीज़ों पर लगने वाले महसूल को बढ़ा कर योरप के अन्यान्य देशों की चीज़ों पर लगने वाले महसूल के बराबर कर दिया। इस पर विलायती व्यवसायियों ने हाहाकार मचाया। अतएव दूसरे ही साल, १८६० में, हिन्दुस्तान के आयात माल पर का महसूल फिर घटाया गया; और हिन्दुस्तान से जाने वाले कच्चे बाने पर जो महसूल था वह एक दम ही उठा दिया गया! फिर क्या था, विलायती व्यापारियों की ख़ुशी का ठिकाना न रहा। १८७० ईसवी मे फिर कुछ फेरफार हुआ। इस फेरफार से विलायत वालों में फिर असन्तोष फैला। इससे १८७१ में दुबारा फेरफार करना पड़ा। यह दूसरी दफ़े का फेरफार बहुत सोच समझ कर किया गया। हिन्दुस्तान के लाभ-हानि का ख़याल रक्खा गया। साथ ही विलायत वालों की जो शिकायतें मुनासिब थीं उन पर ध्यान भी दिया गया। हिन्दुस्तान से विदेश जाने वाले माल पर महसूल तो लगा, पर इतना नहीं कि हिन्दुस्तानी व्यापारियों को शिकायत की जगह रहे। उधर विदेश से आने वाले माल पर भी इतना महसूल रक्खा गया जो विलायत वालों को नागवार न हो। विलायत से आने वाले सूत पर ३½ फ़ी सैकड़ा और सूती कपड़े पर ५ फ़ी सैकड़ा महसूल लगाया गया।

इसी बीच में बम्बई मे कपड़े के दो एक कारख़ाने खुले। उनमें कपड़ा तैयार होने लगा। इस ख़बर से लङ्काशायर के जुलाहों ने समझा कि अब हमारे कपड़े का खप ज़रूर ही कम हो जायगा। चारों ओर से उन्होंने हौरा मचाना शुरू किया। उन्होंने अजीब अजीब दलीलें पेश कीं। कहने लगे, विलायती सूत और कपड़े पर जो इतना महसूल लगाया गया है वह हिन्दुस्तान के व्यापार को बढ़ाने—उसकी रक्षा करने—के लिए लगाया गया है। इससे विलायत का बड़ा नुक़सान है। लार्ड सैलिस्बरी उस समय सेक्रेटरी आव् स्टेट थे। उन्होंने यहाँ के गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रुक को सलाह दी कि विलायती सूत और कपड़े पर का महसूल कम कर

दो। पर लार्ड नार्थब्रुक ने ऐसा करना अनुचित समझा। उनके बाद, १८७९ में, जब लार्ड लिटन हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल थे, फिर विलायत के कर्ता-धर्ता महाशयों ने ज़ोर लगाया और लार्ड सैलिस्बरी ने फिर दबाव डाला। अन्त को लार्ड लिटन ने विलायत के मोटे कपड़े पर महसूल बिलकुल ही उठा दिया। विलायत वालों के पेट में जो इस कारण शूल उठा था कि हिन्दुस्तान मे कपड़े के पुतलीघर बढ़ते जा रहे हैं सो शान्त हो गया। हिन्दुस्तान की औद्योगिक उन्नति से ही उन्होंने अपनी हानि और उसकी अवनति से ही अपना लाभ समझा। इसी बात को मानो और भी अच्छी तरह स्पष्ट कर के दिखलाने के लिए, १८८२ ईसवी में, विलायत से आनेवाले नमक और शराब को छोड़कर प्रायः और सब चीज़ों पर का महसूल एक दम ही उठा दिया गया। हिन्दुस्तान से बाहर जाने वाले माल पर बेशक महसूल लगता रहा।

कोई १२ वर्ष तक यह दशा रही। इसके बाद फिर विलायत के आयात माल पर कर लगाया गया। तब से आज तक गवर्नमेंट की यह नीति रही है, और अब तक है, कि विलायती माल पर इतना महसूल न लगाया जाय कि उसकी आमदनी में ख़लल पड़े। पर उसके मुक़ाबले में हिन्दुस्तान से बाहर जाने वाले मोटे से मोटे कपड़े पर भी महसूल लगता है। हिन्दुस्तान में कलकारख़ाने अभी कल से खुले हैं। उनके मालिकों को उत्साह देने के लिए—इस उद्योग की जड़ जमाने के लिए—गवर्नमेंट को चाहिए था कि यहाँ की बनी हुई, विदेश जाने वाली, चीज़ों पर कुछ भी महसूल न लगाती। पर उसने ऐसा करना मुनासिब नहीं समझा। विलायत के व्यापारी चाहते हैं कि हिन्दुस्तान सिर्फ़ अनाज और तेलहन आदि ही भेजे; वह सिर्फ़ रुई, ऊन और नील आदि कच्चा बाना विलायत भेज कर वहाँ के कारख़ानेदारों को लाभ पहुँचावे।

ख़ुशी की बात है कि कुछ समय से गवर्नमेंट यहाँ वालों को उद्योग-धन्धे सिखाने की चेष्टा करने लगी है। यहाँ के नवयुवकों को विदेश भेज कर उन्हें औद्योगिक शिक्षा दिलाने का भी अब वह प्रयत्न कर रही है। ईश्वर करे उसकी यह नीति दिनों दिन अधिक उदार-भाव धारण करती जाय,

जिसमें प्रजा की वह और भी अधिक भक्ति-भाजन हो जाय। पर औद्योगिक शिक्षा और औद्योगिक कारोबार के लिए हम लोगों को गवर्नमेंट ही पर अवलम्बित न रहना चाहिए। हमें चाहिए कि हम ख़ुद ही इन बातों को करने का प्रयत्न करें।

सातवाँ परिच्छेद।

बन्धनरहित और बन्धनविहित व्यापार।

विदेश से जितना व्यापार होता है वह या तो बन्धनरहित होता है या बन्धन-विहित। अँगरेज़ी में जिसे "फ़्री ट्रेड" (Free Trade) कहते हैं उसे हिन्दी में अबाध, अप्रतिबद्ध, असंरक्षित, अथवा बन्धनरहित व्यापार कह सकते हैं। अथवा यदि उसे खुला हुआ या स्वतन्त्र व्यापार कहें तो भी कह सकते हैं। और जिसे अँगरेज़ी में "प्रोटेक्टेड ट्रेड" (Protected Trade) कहते हैं उसे हिन्दी में संरक्षित, प्रतिबद्ध, अथवा बन्धनविहित व्यापार कह सकते हैं। इन्हीं दोनों तरह के व्यापारों के विषय का थोड़ा सा विवेचन इस परिच्छेद में करना है।

दो देशों के दरमियान जो व्यापार होता है उसे कोई कोई देश किसी तरह की कृत्रिम—किसी तरह की बनावटी—बाधा नहीं पहुँचाते। उसे वे बिना किसी प्रतिबन्ध के होने देते हैं। आयात या यात माल पर कर लगा कर उसकी आमदनी या रफ़्तनी को रोकने या कम करने का कोई यत्न नहीं करते; अथवा यदि करते भी हैं तो इतना नहीं कि माल की आमदनी या रफ़्तनी में बाधा उत्पन्न हो। अपना माल वे अन्य देश को स्वतन्त्रतापूर्वक जाने देते हैं और अन्य देश का माल, जिसकी उन्हें ज़रूरत है, बे-रोकटोक आने देते हैं। इसी का नाम बन्धनरहित व्यापार है। विपरीत इसके जो देश अपने यहाँ के कला-कौशल और उद्योग-धन्धे को तरक्क़ी देने के लिए विदेशी माल पर कर लगा कर उसकी आमदनी को रोकने या कम करने की चेष्टा करते हैं उनके यहाँ का व्यापार बन्धन-विहित व्यापार कहलाता है। आवश्यकता होने पर ऐसे देश अपने यहाँ के माल के लिए विदेश जाने का सब

तरह का सुभीता भी करते हैं । उस पर कर नहीं लगाते, या लगाते हैं तो बहुत कम ।

व्यापार का प्रधान उद्देश यह है कि जो माल अपने देश में नहीं तैयार हो सकता, अथवा जिसकी तैयारी में अधिक लागत लगती है, वह दूसरे देशों से लिया जाय । क्योंकि जो व्यावहारिक चीज़ें अपने यहाँ नहीं पैदा होतीं, पर जिनके बिना आदमी का काम नहीं चल सकता, उन्हें ज़रूर ही लेना पड़ता है । इस दशा में यदि वे बाहर से न मँगाई जायँगी तो सब लोगों को उन से वञ्चित रहना होगा । या यदि अपने यहाँ पैदा करने से वे महँगी पड़ती होंगी और बाहर से न मँगाई जायँगी तो लेने वालों को व्यर्थ अधिक ख़र्च करना पड़ेगा । इसी सुभीते के लिए—इन्हीं हानियों से बचने के लिए—विदेश से व्यापार किया जाता है । अतएव विदेशी माल की आमदनी को रोकना, ऊपरी दृष्टि से देखने से, अस्वाभाविक और अनुचित मालूम होता है ।

कुछ लोगों की राय है कि बन्धन-रहित व्यापार अच्छा नहीं । व्यापार-संरक्षण को वे बहुत ज़रूरी समझते हैं । वे कहते हैं कि विदेश से माल आना बन्द हो जाने से वह अपने ही देश में तैयार होने लगेगा । अर्थात् स्वदेशी व्यापार को उत्तेजन मिलेगा—उसकी उन्नति होगी । जो कला-कौशल और जो उद्योग-धन्धे विदेश से माल आने के कारण न चल सकते होंगे वे चल निकलेंगे और जो बिलकुल ही अस्तित्व में न होंगे वे उत्पन्न हो जायँगे । इन लोगों का कथन है कि व्यवहार की ज़रूरी चीज़ों में से जो चीज़ें अपने यहाँ हो सकती हों उन्हें बाहर से न मँगा कर अपने ही देश में पैदा करने से देश को बहुत लाभ होगा; स्वदेशी व्यापार की बहुत बढ़ती होगी; देश की साम्पत्तिक अवस्था बहुत कुछ उन्नत हो जायगी । परदेश से माल मँगाने से अपने देश का बड़ा नुक़सान होता है; उद्योग-धन्धा करना लोग भूल जाते हैं; देश में आलस्य के साथ साथ दरिद्र बढ़ता है; अतएव विदेशी माल की आमदनी को हर तरह से रोकना प्रत्येक देश-वत्सल आदमी का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए ।

बन्धनविहित व्यापार के पक्षपातियों की तो समष्टि रूप में यह राय है । देश में सर्वसाधारण आदमियों की प्रवृत्ति और ही तरह की है । सर्वसाधा-

रख से यहाँ मतलब उन लोगों से है जो अपने लाभ को प्रधान और सारे देश के लाभ को अप्रधान समझते हैं। क्योंकि प्रायः सब लोगों की नज़र विशेष करके अपने ही फ़ायदे की तरफ़ अधिक जाती है। कुछ ही उदार-हृदय लोग ऐसे होते हैं जो अपनी निज की हानि की परवा न करके देश को लाभ पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। आप किसी बाज़ार या मंडी में जाकर देखिए। बहुधा आपको ऐसे ही ग्राहक देख पड़ेंगे जो सस्ती और अच्छी ही चीज़ें ढूँढ़ते होंगे, फिर चाहे वे स्वदेशी हों, चाहे विदेशी। साधारण आदमी यह नहीं समझते कि अपने देश की चीज़ें लेने से स्वदेशी व्यापार और स्वदेशी उद्योग-धन्धे को उत्तेजना मिलती है। अतएव यदि वे महँगी भी मिलें तो भी वही लेना चाहिए। माल स्वदेशी हो या विदेशी, सस्ता होना चाहिए। लोग सस्तेपन को देखते हैं। और उनकी यह समझ—उनका यह व्यव-हार—अस्वाभाविक भी नहीं। कौन ऐसा आदमी है जो अपने को व्यर्थ हानि पहुँचाना चाहेगा। देश-वत्सलता में मत्त होकर जो लोग सस्ती और अच्छी विदेशी चीज़ें न लेकर, अपने यहाँ की बुरी और महँगी चीज़ें लेते हैं उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ती है।

कल्पना कीजिए कि आपके घर के पास ही पानी का एक नल है। उसका पानी मीठा है; पर म्यूनिसिपैलिटी को १२ रुपये साल दिये बिना आपको वह पानी नहीं मिल सकता। कुछ दूर पर आपका एक बाग़ है; उसमें एक कुआँ है। उसका पानी उतना अच्छा नहीं जितना कि नल का पानी है। तथापि आप ठहरे अपनी चीज़ के प्रेमी। आपने एक कहार दो रुपये महीने पर पानी लाने के लिए नौकर रक्खा और उससे अपने बाग़ वाले कुवें का पानी मँगाने लगे। फल यह हुआ कि साल में १२ के बदले आपको २४ रुपये ख़र्च करने पड़े और फिर पानी भी अच्छा न मिला। यही नहीं, किन्तु नल की अपेक्षा कुँवें से भी पानी थोड़ा आया। अर्थात् तीन तरह से आपका नुक़सान हुआ। हाँ, उस कहार को आपने मज़दूरी दी; पर यदि वह आपसे दो रुपये महीने न पाता तो क्या वह भूखों थोड़े ही मर जाता? वह किसी का चौका-बर्तन करके दो रुपये कमा लेता।

इसी तरह के उदाहरण और चीज़ों के विषय में भी दिये जा सकते हैं।

जैसी अच्छी विदेशी फुलालैन हमें दो रुपये गज़ के हिसाब से मिल सकती है वैसी के लिए हमें कानपुर की "ऊलन मिल्स" को ३ या ४ रुपये गज़ तक देने पड़ते हैं। फिर भी कई बातों में वह विदेशी फुलालैन की बराबरी नहीं कर सकती। विदेशी ज़ीन या लट्ठे के बदले यदि हम कानपुर या नागपुर की ज़ीन या लट्ठा लेते हैं तो भी कई तरह से हम घाटे ही में रहते हैं।

यम० डी० फ़ासेट नाम की एक मेम ने अँगरेज़ी में सम्पत्ति-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक की नवीं आवृत्ति १९०४ में निकली थी। उसमें बन्धनविहित व्यापार की हानियों के कई उदाहरण दिये गये हैं। उनमें से एक उदाहरण जेठीमद नामक दवा का है। इसका पैाधा होता है। टर्की में स्मर्ना नगर के आस पास यह अधिकता से पैदा होता है। वहाँ यह चीज़ तैयार करके इँगलेंड भेजी जाती है। परन्तु अमेरिका ने इस पर कड़ा कर लगा दिया है। इससे वहाँ भेजने से परता नहीं पड़ता। इस कारण जेठीमद के पैाधे ही वहाँ भेजे जाते हैं। इन पैाधों में ९ अंश पानी रहता है, एक अंश दवा। पर कर से बचने के लिए यह नौ गुना पानी भी दवा के साथ अमेरिका भेजना पड़ता है। वहाँ ये पैाधे कुचले जाते हैं और आग पर चढ़ा कर इनका स्वरस औटाया जाता है। तब कहीं काम में लाने योग्य जेठीमद तैयार होता है। अब यदि इस चीज़ पर इतना कड़ा कर न होता तो पैाधे भेज कर एक गुना दवा के साथ नौ गुने पानी पर कर न देना पड़ता। इस पानी पर जो ख़र्च पड़ता है वह मानों व्यर्थ जाता है। अमेरिका के जो लोग यह दवा मोल लेते हैं उनसे उसकी कसर निकाली जाती है। अर्थात् उन्हें जेठीमद के दाम अधिक देने पड़ते हैं। यदि तैयार की गई जेठीमद पर कड़ा कर न लगाया जाता तो अमेरिका वालों को इतनी हानि व्यर्थ न उठानी पड़ती।

पूर्वोक्त मेम साहबा कहती हैं कि बन्धनविहित व्यापार से कभी कभी ऐसी हानियाँ हो जाती हैं जो इस प्रकार के व्यापार के पक्षपातियों के कभी ध्यान में भी नहीं आई होतीं। प्रमाण के लिए वे पेरिस के फ़िगारो नामक अख़बार का उदाहरण देती हैं। फ़्रांस ने विदेश से आने वाले यन्त्रों पर कड़ा कर लगा रक्खा है। इससे वहाँ इँगलेंड और जर्मनी आदि की बनी

हुई कलें नहीं जातीं। यह इसलिए फ़्रांस ने किया है जिसमें सब तरह के यन्त्र वहीं बनने लगें। परन्तु वहाँ के यन्त्र सस्ते नहीं पड़ते। इससे जब फ़िगारो के मालिकों ने उसे सचित्र निकालना चाहा तब उसे लन्दन में छपाया। इस पर फ़्रांस वालों ने यद्वा तद्वा कहना शुरू किया। उनकी शिकायत यह थी कि फ़्रांस ही में इसे क्यों नहीं छपाया? इसके उत्तर में फ़िगारो के मालिकों ने कहा कि हमारा पत्र फ़्रांस में ज़रूर छप सकता था; पर वहाँ छापने के लिए जिस यन्त्र की क़ीमत हमें ६ हज़ार रुपये देनी पड़ती वह लन्दन में हमें सिर्फ़ ३ हज़ार में मिल गया। फिर क्यों हम फ़्रांस में फ़िगारो छापते?

व्यापार की रक्षा सिर्फ़ अपने देश के कला-कौशल और उद्योग-धन्धे की वृद्धि के लिए की जाती है। इसके लिए विदेशी माल पर कड़ा कर लगाने के सिवा एक और भी तरकीब की जाती है। उसे अँगरेज़ी में बौंटी (Bounty) देना कहते हैं। इसका अर्थ पुरस्कार, पारितोषिक या इनाम देना है। जिस धन्धे की वृद्धि करनी होती है उसका कारोबार करनेवालों को गवर्नमेंट अपने ख़ज़ाने से कुछ रक़म देती है जिसमें वे लोग अपने व्यवसाय की उन्नति कर सकें। जर्मनी में चुक़न्दर बहुत होता है। उसकी शक्कर बनती है। जर्मनी ने इस शक्कर के उद्योग को बढ़ाने के लिए इसका व्यवसाय करनेवालों को कुछ पुरस्कार देना निश्चित किया। परिणाम यह हुआ कि इन लोगों ने हिन्दुस्तान को लाखों मन चुक़न्दर की शक्कर भेजना और कम क़ीमत पर बेचना शुरू किया। भाव में जितनी कमी उन्होंने कर दी उतना उन्हें जर्मनी की गवर्नमेंट से मिल गया। उतना ही क्यों। सम्भव है उससे भी अधिक उन्हें मिला हो। इस पुरस्कारदान के कारण हिन्दुस्तान में जर्मनी की शक्कर का ख़र्च बढ़ गया; यहाँ वालों को वह सस्ती मिलने लगी। उधर जर्मनी में शक्कर का रोज़गार तो ज़रूर चमक उठा; पर पुरस्कार वाला रुपया व्यर्थ गया। वह रुपया मानों जर्मनी की प्रजा को दण्ड देना पड़ा; क्योंकि गवर्नमेंट जो रुपया ख़र्च करती है वह प्रजा से ही कर के रूप में वसूल करती है। जब हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट ने देखा कि शक्कर के व्यवसायियों को पुरस्कार देकर जर्मनी की गवर्नमेंट हिन्दुस्तान की शक्कर के व्यवसाय का नाश किये देती है तब उसने वहाँ की

शक्कर पर कर लगा कर उसकी आमदनी रोकने की चेष्टा की। इस पुरस्कार के मामले ने हिन्दुस्तान ही में नहीं, और और देशों में भी व्यापार-सम्बन्धी बखेड़े पैदा कर दिये। अतएव उन्हें दूर करने के लिए शक्कर बनाने वाले कई देशों के प्रतिनिधियों ने बेलजियम के ब्रुसल्स नगर में एक सभा करके कुछ नियम बनाये। तिस पर भी व्यापार-बन्धन से होने वाले दोष अच्छी तरह दूर नहीं हुए। इन बातों से स्पष्ट है कि व्यापार का प्रतिबन्ध करने से कितनी ही अचिन्तनीय झमेले उठ खड़े होते हैं, और प्रतिबन्ध करने वाले देश का थोड़ा बहुत नुक़सान हुए बिना नहीं रहता। सारे देश को चाहे नुक़सान न भी हो, और यदि हो भी तो कुछ समय बाद चाहे उसकी पूर्ति भी हो जाय, पर प्रत्येक आदमी का अलग अलग विचार करने से यही सिद्धान्त निकलता है कि उनकी थोड़ी बहुत हानि ज़रूर ही होती है।

बन्धनविहित व्यापार के जो पक्षपाती हैं वे तो कहते हैं कि इस प्रकार के व्यापार से देश को फ़ायदा पहुँचता है; इधर जो लोग अपने देश की महँगी चीज़ें लेते हैं उनका नुक़सान होता है। यह कैसे ? जिस बात में देश का लाभ है उसमें व्यक्तिमात्र की हानि क्यों होनी चाहिए ? व्यक्तिमात्र के हित से ही देश का हित होता है और व्यक्तिमात्र के अहित से ही देश का अहित। विदेश से जो माल लाया जाता है वह उस देश के फ़ायदे के लिए नहीं, किन्तु अपने फ़ायदे के लिए लाया जाता है। वह यदि अपने ही देश में तैयार किया जाता तो अधिक मेहनत और अधिक पूँजी ख़र्च करनी पड़ती। उससे बचने और उससे कम मेहनत और कम पूँजी से कोई और माल तैयार करने के लिए विदेशी माल लिया जाता है। जो माल कम मेहनत और कम ख़र्च से अपने देश में पैदा हो सकता है उसे ही विदेश भेज कर, अधिक मेहनत और अधिक श्रम से अपने देश में पैदा होने योग्य माल बाहर से प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार के बदले से विदेशी माल सस्ता पड़ता है। यदि इस प्रकार का विदेशी माल लेना बन्द कर दिया जाय, या उस पर कड़ा महसूल लगा कर उसकी आमदनी रोक दी जाय, तो उसे अपने ही देश में तैयार करना पड़ेगा। क्योंकि उसके बिना अपना काम न चल सकेगा। अतएव उसे तैयार करने में मेहनत और पूँजी दोनों का दुरु-

पयोग होगा। अर्थात् उसका बहुत सा अंश व्यर्थ जायगा। उसकी तैयारी में अधिक मेहनत और पूँजी लगने से वह महँगा बिकेगा; लेनेवालों को व्यर्थ अधिक रुपया ख़र्च करना पड़ेगा। यह भी नहीं कि महँगा बिकने के कारण उसे तैयार करने और बेचनेवालों को अधिक मुनाफ़ा मिलता हो। नहीं, उसका भाव तो लागत के अनुसार ही निश्चित होता है। हाँ ग्राहकों का नुक़्सान ज़रूर होता है। थोड़े ख़र्च से विदेशी माल न लेकर अधिक ख़र्च से उसे अपने ही देश में पैदा करने के आग्रह का फल यह होता है कि जो लोग उसे ख़रीदते हैं उन सबको हानि पहुँचती है—उन सब का थोड़ा बहुत रुपया व्यर्थ जाता है।

यह बन्धनरहित व्यापार के पक्षपातियों की दलीलें हुईं। इसके उत्तर में बन्धनविहित व्यापार के अनुमोदनकर्ता कहते हैं कि आपकी दलीलें निःसार हैं। वे कहते हैं कि विदेशी उद्योग-धन्धे को उत्तेजन देकर वहाँ के कारख़ानेदारों और मज़दूरों की झोली भरने की अपेक्षा अपने देश के पूँजी-वालों, कारख़ानेदारों और मज़दूरों का पालन करना विशेष हितकारी है। इस से स्वदेशी उद्योगशीलता बढ़ती है। अपने देश को दूसरों पर कपड़े लत्ते आदि व्यावहारिक चीज़ों के लिए अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। स्वावलम्बन बड़ी चीज़ है। परावलम्बन की आदत छोड़ना ही अच्छा है। परन्तु दूसरे पक्षवाले इस कोटिक्रम का भी खण्डन करते हैं। उनकी उक्तियों का सारांश यह है कि विदेशी मज़दूरों के पेट की रोटी छिन कर स्वदेशी मज़दूरों को मिलेगी, यह समझना भ्रम है। दूसरे देश का माल लेने से उसे तैयार करने वाले मज़दूरों का पालन-पोषण नहीं होता। वहाँ पूँजी है; अतएव वहाँ माल तैयार होता है। वहाँ के मज़दूरों को भोजन-वस्त्र वहीं की पूँजी से प्राप्त होता है, अपने देश की पूँजी से नहीं। माल लेने के पहले ही वह विदेश में तैयार हो चुकता है और मज़दूरों को मज़दूरी मिल चुकती है; आपके रुपये से उन्हें मज़दूरी नहीं मिलती। विदेशी माल न लेने से सिर्फ़ इतना ही होता है कि अपने देश के एक वर्ग के मज़दूरों का काम उनके हाथ से निकल कर दूसरे वर्ग के मज़दूरों को मिल जाता है। जब तक विदेश से माल आता था तब तक उसके बदले में देने के लिए हमें और कोई माल तैयार करना पड़ता

था । उससे उन मज़दूरों का पालन होता था जो उस धन्धे में लगे रहते थे । अब यदि विदेशी माल न आवेगा तो उसके बदले में देने के लिए हमें भी माल न तैयार करना पड़ेगा । परिणाम यह होगा कि हमारे देश के मज़दूरों को काम न मिलेगा । हां जो माल हम विदेश से लेते थे उसे यदि अपने ही देश में तैयार करने लगें तो बेकार मज़दूरों में से कुछ को काम मिल जायगा । संभव है कुछ को नहीं, सभी को मिल जाय । पर जो माल थोड़ी मेहनत और थोड़ी पूँजी से तैयार किये जाने के कारण हमें सस्ता मिलता था वही अब हमें अधिक मेहनत और अधिक पूँजी से तैयार करना पड़ेगा । इस कारण बहुत करके जितने मज़दूरों को पहले काम मिलता था उतनों को अब न मिल सकेगा । हमारी पूँजी पहले की अपेक्षा अधिक तो हो न जायगी । वह तो जितनी की उतनी ही रहेगी । फिर मज़दूरों का अधिक पालन-पोषण किस तरह हो सकेगा । चल पूँजी से ही मज़दूरों को मज़दूरी मिलती है न । पर पूँजी अब अधिक ख़र्च होगी । इससे मज़दूरों को पहले की अपेक्षा कम ही मज़दूरी मिलना संभव है । अधिक नहीं ।

यहाँ पर एक और बात का भी विचार करना ज़रूरी है । विदेश से आने वाले माल में से कुछ माल की आमदनी यदि बन्द कर दी गई, या उस पर महसूल लगा कर उसकी आमदनी में बाधा डाली गई, परन्तु जो माल अपने देश से विदेश को जाता है उसकी रफ़्तनी न बन्द की जा सकी, तो क्या परिणाम होगा । कल्पना कीजिए कि हिन्दुस्तान ने विलायत से आने वाले विलास-द्रव्यों की आमदनी रोक दी । पर जो अनाज वह विलायत भेजता है उसकी रफ़्तनी न बंद कर सका । क्योंकि बिना अनाज बेचे किसान आदमी सरकारी लगान नहीं दे सकते । अतएव अनाज उन्हें बेचना ही पड़ता है । उधर विलायत वालों को हमेशा ही अनाज की ज़रूरत रहती है । वे हिन्दुस्तान से अपने लिए ज़रूर ही अनाज ख़रीद करेंगे । इस दशा में हिन्दुस्तान का माल विलायत अधिक जायगा । पर उसके बदले वहाँ से कम आवेगा । अतएव जितना माल इँगलेंड अधिक लेगा उतनी की क़ीमत उसे नक़द देनी पड़ेगी । फल यह होगा कि हिन्दुस्तान में नक़द रुपये की संख्या बढ़ जायगी और अनाज महँगा हो जायगा । उधर विलायत में रुपये

का संग्रह कम हो जाने से व्यवहार की चीज़ें सस्ती बिकने लगेंगी और जिन विलास-द्रव्यों की आमदनी को हिन्दुस्तान ने रोक दिया है उनके सिवा कपड़ा आदि और चीज़ें हिन्दुस्तान को सस्ते भाव मिलने लगेंगी। अर्थात् यदि ज़बरदस्ती महसूल लगा कर एक प्रकार के माल की आमदनी रोक दी जायगी तो दूसरे प्रकार का माल कुछ सस्ता मिलने लगेगा। परन्तु यह फ़ायदा तभी तक होगा जब तक दूसरे देश ने अपने देश से जाने वाले माल पर महसूल नहीं लगाया। यदि दोनों देश एक दूसरे के माल पर महसूल लगा देंगे तो दोनों को व्यर्थ हानि उठानी पड़ेगी।

बन्धन-विहित व्यापार के पक्षपाती इस तरह के व्यापार से चार प्रकार के लाभ बतलाते हैं। यथा (१) बन्धन-विहित व्यापार से स्वदेशवासी जनों को अन्न-वस्त्र के लिए मुहताज नहीं होना पड़ता; खाने, पीने और पह-नने आदि की चीज़ें वे ख़ुद ही पैदा कर सकते हैं। (२) अधिक ख़र्च कर के भी देश की रक्षा करना मनुष्य का कर्तव्य है; इससे देश में स्वातन्त्र्यभाव की वृद्धि होती है। (३) जहाँ कच्चा बाना उत्पन्न होता है वहीं माल तैयार करने से कच्चे माल के भेजने और तैयार माल के लाने में जो व्यर्थ ख़र्च पड़ता है वह बच जाता है। (४) जिस देश में अनाज अधिक पैदा होता है वह देश यदि अपना अनाज विदेश को अधिक भेजेगा तो उसे अधिक पैदा भी करना पड़ेगा। इससे ज़मीन की उपजाऊ शक्ति बहुत जल्द क्षीण हो जायगी और देश को सार्वकालिक हानि पहुँचेगी। इन बातों पर यथाक्रम संक्षिप्त विचार की ज़रूरत है।

पहले लाभ के विषय में कल्पना कीजिए कि इँगलेंड से कपड़ा मँगाने में वह सस्ता पड़ता है। इससे करोड़ों रुपये का कपड़ा हर साल इँगलेंड से यहाँ आता है। यदि यह स्थिति ऐसी ही रही तो दिनों दिन कपड़े की आम-दनी बढ़ती जायगी और जो दो चार कपड़े के कारख़ाने इस देश में हैं बन्द हो जायँगे। लोग कुछ दिनों में कपड़ा बनाना बिलकुल ही भूल जायँगे। परिणाम यह होगा कि हिन्दुस्तान को कपड़े के लिए हमेशा इँगलेंड का मुह-ताज रहना पड़ेगा। इस दशा में इँगलेंड यदि अपने कपड़े का भाव बढ़ा दे तो भी हिन्दुस्तान को उससे कपड़ा लेना ही पड़ेगा; क्योंकि उसे ख़ुद बनाने

का सामर्थ्य नहीं । और यदि किसी और देश से इँगलेंड की लड़ाई ठन गई और वहाँ से कपड़े का आना इस या और किसी कारण से बन्द हो गया तो हिन्दुस्तान वालों को नंगे रहने की नौबत आवेगी । परन्तु सोचना चाहिए कि आज कल की स्थिति में ये बातें संभव हैं या नहीं । इस समय कोई देश ऐसा नहीं जिसे अन्य देश में व्यापार करने का हक़ न प्राप्त हो । इँगलेंड ही से सारा कपड़ा हिन्दुस्तान को लेना चाहिए, इस तरह का कोई नियम तो है नहीं । यदि इँगलेंड से कपड़ा आना बन्द हो जाय, या बहुत महँगा मिलने लगे, तो हिन्दुस्तान के निवासी जापान, अमेरिका, फ़ांस और जर्मनी आदि से कपड़ा मँगा सकते हैं । जब इन देशों को मालूम हो जायगा कि हमारे कपड़े का खप हिन्दुस्तान में है और वहाँ से व्यापार करने में अपना फ़ायदा है तो वे दौड़ते हुए अपना कपड़ा हिन्दुस्तान पहुँचावेंगे ।

देश की रक्षा के लिए अधिक ख़र्च करना पड़े तो भी आगापीछा न करना चाहिए । जब देश ही अपना न रहेगा तब उसकी उन्नति क्या होगी ख़ाक ! पर यह बात राजकीय व्यवहारों से अधिक सम्बन्ध रखती है; इससे इसका विचार यहाँ नहीं हो सकता । स्वतन्त्र देशों के लिए गोला, बारूद, तोप, बन्दूक़, जहाज़ आदि अपने ही यहाँ तैयार करना उचित है । इनके लिए अन्य देशों पर अवलम्ब करना अच्छा नहीं । ऐसे मामलों में ख़र्च की कमी-बेशी का विचार नहीं किया जाता । परन्तु हिन्दुस्तान ऐसे परतन्त्र देश के लिए इन चीज़ों के बनने से क्या लाभ ? चाहे वे यहाँ बनें, चाहे इँगलेंड में । बात एक ही है । दोनों हालतों में ख़र्च यद्यपि हिन्दुस्तान ही के सिर रहेगा पर विशेषता कुछ न होगी ।

कच्चे बाने से अपने ही देश में माल तैयार करने से आने जाने का ख़र्च ज़रूर बच जाता है । पर स्वदेश में माल तैयार करने पर भी यदि विदेश का माल सस्ता पड़े तो क्यों न उसे लेना चाहिए ? सम्पत्ति-शास्त्र के किन नियमों के अनुसार उनका त्याग आप उचित समझते हैं । रुई विदेश न भेज कर आप यहीं कपड़े तैयार कीजिए और देखिए कि स्वदेशी कपड़े विदेशी कपड़ों से सस्ते पड़ते हैं या महँगे । यदि महँगे पड़ें तो यहीं कपड़ा बनाने से क्या लाभ ?

जो देश कृषि-प्रधान है वह यदि और कोई व्यवसाय न करके सिर्फ़ अनाज ही पैदा करेगा तो कुछ समय में उस देश की ज़मीन ज़रूर ही निःसत्त्व हो जायगी। उसकी पैदावार कम हो जायगी। पर, इससे संरक्षण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। ज़मीन की उर्वरा शक्ति कम हो जाने पर बिना अधिक ख़र्च के यथेष्ट अनाज न पैदा होगा। जब खेत की पैदावार से लगान आदि सब ख़र्च न निकलेगा तब लोग लाचार होकर आप ही खेती करना बन्द कर देंगे। वे खेती के व्यवसाय से अपनी पूँजी निकाल कर किसी और धन्धे में लगावेंगे। जो नया व्यवसाय वे करेंगे उससे तैयार होने वाली चीज़ें जब स्वदेश ही में मिलने लगेंगी तब विदेश से उनकी आमदनी आप ही बन्द हो जायगी। अतएव व्यर्थ व्यापार प्रतिबन्ध करने की ज़रूरत नहीं। बन्धनरहित व्यापार ही स्वाभाविक व्यापार है। जो बात स्वाभाविक होती है उसी से लाभ भी होता है। अस्वाभाविक से हमेशा हानि ही की संभावना रहती है। इस दशा में बन्धन-विहित व्यापार कदापि लाभकारी नहीं हो सकता। वह व्यापार के मुख्य उद्देशों के सर्वथा प्रतिकूल है। इससे उसका त्याग ही उचित है।

बन्धनविहित और बन्धनरहित व्यापार से सम्बन्ध रखने वाली सर्व-साधारण बातों का यहाँ तक विचार हुआ। दोनों पक्षों की बातों के विचार और विवेचन का यहाँ तक दिग्दर्शन किया गया। उनसे बन्धनरहित व्यापार ही की श्रेष्ठता साबित हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर ही ऊपर विचार करने से बन्धनविहित व्यापार की अपेक्षा बन्धनरहित व्यापार ही अच्छा मालूम होता है। परन्तु सूक्ष्म विचार करने से बन्धनरहित व्यापार के सिद्धान्तों में थोड़ी सी बाधा आती है। बन्धनरहित व्यापार सब समय में सब देशों के लिए उपकारी नहीं हो सकता। इँगलेंड से बढ़ कर व्यापार-व्यवसाय करने वाला देश पृथ्वी की पीठ पर और कोई नहीं। फिर उसने हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में बन्धन-विहित व्यापार के नियमों का क्यों अनुसरण किया? यदि इस प्रकार के व्यापार से कोई लाभ नहीं हो सकता तो क्यों उसने इस देश के माल पर कड़ा कर लगा कर उसकी आमदनी को रोका? क्यों इस प्रकार व्यापारप्रतिबन्ध करके उसने अपने कला-कौशल और उद्योग

धन्धे की वृद्धि की ? इसके पहले परिच्छेद में इँगलेंड की व्यापार-विषयक जिस नीति की आलोचना की गई है उसे अब आप याद कीजिए । उसे विचार की कसौटी पर कसिए और देखिए कि उसका क्या फल हुआ । बन्धनरहित व्यापार करना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि जिस देश में उद्योग-धन्धे की अवस्था अच्छी नहीं, जिसे व्यापार-व्यवसाय में अपने से अधिक उद्योगशील और व्यापारवृद्ध देश का मुक़ाबला करना है, उसे कुछ काल के लिए व्यापार-बन्धन ज़रूर करना चाहिए । आस्ट्रेलिया की तरह जो देश थोड़े ही समय से आबाद हुआ है, अथवा हिन्दुस्तान की तरह हज़ारों वर्ष से आबाद हुए जिस देश की प्रायः सारी ज़मीन जोती जा चुकी है, वहाँ यदि खेती के सिवा और किसी उद्योग-धन्धे की वृद्धि करना अभीष्ट हो तो बन्धनविहित व्यापार की प्रथा जारी करने से बहुत लाभ हो सकता है । ऐसे देशों में नये नये धन्धे करने का चाहे जितना अच्छा सुभीता हो, तथापि बहुत दिनों से उद्योग-धन्धा करने वाले देशों से मुक़ाबला करने का सामर्थ्य उसमें एकदम नहीं आ सकेगा । जब तक नये जारी किये गये उद्योग-धन्धे अच्छी तरह चल न निकलें तब तक उनकी उन्नति के लिए विदेशी माल का प्रतिबन्ध करना बहुत ज़रूरी है । परन्तु व्यापार-बन्धन चिरकाल तक नहीं रखना चाहिए । जहाँ अपने देश के कला-कौशल को उत्तेजना मिल चुके, जहाँ अपने देश का उद्योग जड़ पकड़ ले, जहाँ व्यापार-व्यवसाय में अपना देश दूसरे देशों से मुक़ाबला करने योग्य हो जाय, तहाँ व्यापार-बन्धन को ढीला कर देना चाहिए । हमेशा के लिए उसे एकसा दृढ़ बनाये रखना अलबत्ते हानिकारी और सम्पत्ति-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल है । अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और आस्ट्रेलिया आदि देशों ने अचिरस्थायी व्यापार-बन्धन से बड़े बड़े फ़ायदे उठाये हैं । ये देश अब तक किसी किसी विदेशी माल की आमदनी का प्रतिबन्ध बराबर करते जाते हैं ।

ऐसा करना सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से भी बुरा नहीं । इँगलेंड के प्रसिद्ध ग्रन्थकार "मिल" ने सम्पत्ति-शास्त्र-सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा है । यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक माना जाता है । इसमें उसने अचिरस्थायी व्यापार-प्रतिबन्ध के अनुकूल राय दी है । उसके कथन का सारांश यह है:—कुछ

देश ऐसे हैं जहाँ कुछ विशेष विशेष प्रकार का माल अधिक तैयार होता है। वह माल तैयार या उत्पन्न करने में और देश उन देशों की बराबरी नहीं कर सकते। इसका सिर्फ़ यही कारण है कि इन देशों ने यह विशेष विशेष प्रकार का माल तैयार करने का आरम्भ और देशों की अपेक्षा पहले किया था। उस माल के तैयार करने, या उन चीज़ों के पैदा होने, के सुभीते वहाँ अधिक न समझिए। यह बात नहीं है कि अधिक सुभीता होनेही के कारण वे चीज़ें वहाँ अच्छी होती हैं। नहीं, बहुत दिनों तक उन चीज़ों को बनाने या पैदा करने के कारण उनका तजरिबा बढ़ जाता है—वे अधिक कुशल हो जाते हैं। इसीसे और देशों की अपेक्षा वे चीज़ें वहाँ अधिक अच्छी तैयार होने लगती हैं। बस इसका यही कारण है, और कुछ नहीं। जिस देश को कोई नया उद्योग पहले ही पहल करना है, और इस नये उद्योग में किसी बलिष्ठ देश से स्पर्धा करने की ज़रूरत है, उसमें सिर्फ़ तजरिबा और कार्य्य-कौशल नहीं होता। परन्तु और सुभीते पुराने देश की अपेक्षा भी अधिक हो सकते हैं। नये काम में बहुत दिन तक लाभ होने के बदले हानि ही होने की अधिक सम्भावना रहती है। अच्छा, तो यह हानि किसे उठानी चाहिए? कारख़ानेदार पर इस हानि का बोझ डालना मुनासिब न होगा। और यदि डाला जायगा तो कौन कारख़ानेदार ऐसा होगा जो हानि उठाकर भी अपना उद्योग-धन्धा जारी रक्खेगा? कोई नया कारख़ाना खोलने—कोई नया उद्योग-धन्धा जारी होने—से अकेले कारख़ानेदारही को लाभ नहीं होता; लाभ सारे देश को होता है। अतएव हानि भी सारे देश को ही उठानी चाहिए। सारे देश का मालिक राजा होता है। इससे इस हानि को पूर्ण करने की व्यवस्था भी राजा ही को करनी चाहिए—गवर्नमेंट ही को यह देखना चाहिए कि किस तरह इस हानि से कारख़ानेदारों का बचाव किया जाय। इस तरह की हानि को सारे देश में बराबर बाँट देने का एक मात्र उपाय, विदेश से आने वाले माल पर महसूल लगा कर उसकी आमदनी को रोक देना है। विदेशी माल की आमदनी बन्द हो जाने पर लोगों को अपनेही देश का माल लेना पड़ेगा। फिर यदि वह महँगा बिकेगा तो भी बिना उसे लिये लोगों का काम न चल सकेगा। इससे सब को बराबर

हानि उठानी पड़ेगी; पर यह सब बखेड़ा सारे देश के ही लाभ के लिए है। इससे हानि भी सारे देश को ही उठानी चाहिए। इस तरह का व्यापार-प्रतिबन्ध सम्पत्ति-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल नहीं। हाँ उसे हमेशा न जारी रखना चाहिए, और ऐसे ही उद्योग-धन्धे की उन्नति के लिए जारी करना चाहिए जिसके चल निकलने की पूरी उम्मेद हो। जहाँ नया काम चल निकले और विदेशी माल से मुक़ाबला करने की शक्ति उसमें आजाय तहाँ प्रतिबन्ध दूर कर देना चाहिए।

मिल साहब की यह राय सर्वथा यथार्थ है। छोटा लड़का जवान आदमी के बराबर काम नहीं कर सकता। यदि उससे जवान आदमी के बराबर काम लेना हो तो उसका पालन-पोषण करके बड़ा करना चाहिए और लड़कपन से ही उसे काम करने की आदत डालनी चाहिए। ऐसा करने से जैसे जैसे वह बड़ा होगा तैसेही तैसे जवान आदमी की बराबरी कर सकेगा। पर यदि लड़कपनही में जवान आदमी का इतना काम उससे लिया जायगा तो उसका नाश हुये बिना न रहेगा। ठीक यही हाल नये और पुराने उद्योग-धन्धे का भी है।

जैसा कि इसके पहले परिच्छेद में लिखा गया है ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में हिन्दुस्तान से अनेक प्रकार का माल और कपड़ा इँगलेंड जाता था। यह देख कर वहाँ वालों ने अनेक बार यहाँ का माल व्यवहार में न लाने का निश्चय किया। पर जब इससे कार्य्य-सिद्धि न हुई तब गवर्नमेंट ने यहाँ का माल व्यवहार करने वालों के लिए दण्ड तक देने का क़ानून बनाया। हिन्दुस्तान से जाने वाले माल पर कड़ा महसूल लगाया गया। इस बीच में कपड़े आदि के कारख़ाने इँगलेंड में खुलने लग गये थे। हिन्दुस्तान से माल की आमदनी बन्द होने से इन कारख़ानों की शीघ्र ही उन्नति हो गई। वहाँ बहुत अच्छा कपड़ा बनने लगा। जब देश ही में सब तरह का माल तैयार होने लगा तब हिन्दुस्तान के कपड़े को वहाँ कौन पूछता है? उलटा इँगलेंड का कपड़ा हिन्दुस्तान आने लगा। अतएव हिन्दुस्तान से जाने वाले माल के प्रतिबन्ध की फिर ज़रूरत न रही। मिल के मत का जो आशय हमने ऊपर दिया है उसकी यथार्थता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस समय इँगलेंड ने व्यापार-बन्धन किसी अंश में बन्द कर दिया है, सो उचित ही किया है। उससे जो कार्य्यसिद्धि होने को थी वह हो चुकी। यदि अब तक भी व्यापार का प्रतिबन्ध होता तो उससे इँगलेंड को हानि उठानी पड़ती। क्योंकि इस तरह का बन्धन सार्वकालीन न होना चाहिए। इसी से स्वदेश के उद्योग-धन्धे को उन्नत करने के लिए पहले तो इँगलेंड ने व्यापार-प्रतिबन्ध की नीति का अनुसरण किया, और जब उसका अभीष्ट सिद्ध हो गया तब वह बन्धनरहित व्यापार का पक्षपाती हो गया। व्यापार-बन्धन से हानि होने की संभावना रहती है; पर विशेष विशेष अवस्थाओं में देश की दशा देखकर व्यापार-प्रतिबन्ध करने से देश को बहुत लाभ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

"मिल" ही नहीं, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक "ल्यकी"ने भी इस बात को बड़ी ही ज़ोरदार भाषा में दिखलाया है कि इँगलेंड की बन्धनरहित व्यापार-नीति अभी कल की है। जब उद्योगशीलता और कल-कारख़ानेदारी में वह और देशों से बराबरी करने लायक़ हो गया, यही नहीं किन्तु किसी किसी अंश में वह उनसे बढ़ भी गया, तब उसने बन्धनरहित व्यापार का पक्ष लिया, पहले नहीं। और अब भी क्या वह व्यापार-बन्धन से बाज़ थोड़े ही आता है। हिन्दुस्तान से जाने वाले कितने ही प्रकार के माल पर जो कर लगाया गया है वह और किसी कारण से नहीं; इँगलेंड के व्यापार को अधिक सुभीता पहुँचाने ही के इरादे से लगाया गया है। हिन्दुस्तान के कल-कारख़ानों के लिए नये नये नियम बनाने और उनमें काम करने वालों के घंटे नियत करने की जो खटपट हुआ करती है, और इस समय, नवम्बर ०७ में, भी जो इस विषय की जाँच पड़ताल हो रही है, उसका आन्तरिक आशय एक बच्चा तक समझ सकता है। इस दशा में यदि हम लोग स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम करें और स्वदेशी उद्योग-धन्धे को उन्नत करने की तरकीबें सोचें तो सर्वथा उचित है। गवर्नमेंट भी इसका विरोध नहीं करती। वह तो उलटा हम लोगों को उत्साह देती है—अनेक तरह की मदद देती है—कि हम अपने देश में उद्योगशीलता की वृद्धि करें; नये नये कारख़ाने खोलें; नये नये व्यापार-व्यवसाय जारी करें। हाँ बात यह है कि हमारे इस स्वदेश-

वस्तु-प्रेम में राजनीति का कोई रहस्य न होना चाहिए। उससे राजनैतिक बू न आनी चाहिए। गवर्नमेंट को हानि पहुँचाने, उसे चिढ़ाने, या उससे किसी बात का बदला लेने के इरादे से यह काम न करना चाहिए।

सम्पत्ति-शास्त्र के ज्ञाता इस देश के जिन विद्वानों ने व्यापार-विषयक समस्या का विचार किया है, सब की यही राय है कि यहाँ के उद्योग-धन्धे की उन्नति के लिए अचिरस्थायी व्यापार-प्रतिबन्ध की बड़ी ज़रूरत है। दक्षिण में एक जगह पालघाट है। वहाँ के विक्टोरिया कालेज के प्रधानाध्यक्ष जी० बार्लो साहब एम० ए० ने "इंडस्ट्रियल इंडिया" नाम की एक किताब लिख कर बड़ा नाम पाया है। उनकी किताब के एक अध्याय का मतलब इस पुस्तक के एक परिच्छेद में हमने दिया भी है। आपने १९०७ में कनानूर की प्रदर्शिनी में एक लेख पढ़ा था। उसमें आपने बहुत ज़ोर देकर कहा है कि जब तक गवर्नमेंट विदेशी माल की आमदनी से इस देश के उद्यमों की कुछ काल तक रक्षा न करेगी तब तक उनके उन्नत होने की बहुत कम आशा है। पहले जो माल दूसरे देशों से यहाँ आता था उस पर ख़र्च बहुत पड़ता था। जहाज़ चलाने वाली कम्पनियाँ बहुत किराया लेती थीं। इससे विदेशी माल यहाँ महँगा पड़ता था। उस समय व्यापार-प्रतिबन्ध की उतनी अधिक ज़रूरत न थी। पर अब किराया बहुत कम हो गया है। इससे विदेशी चीज़ें यहाँ बहुत सस्ती पड़ती हैं। इस दशा में यदि इस देश के नये उद्यम और नये कारोबार की रक्षा न की जायगी तो यहाँ का माल विदेशी माल के साथ स्पर्धा करने में कभी न ठहर सकेगा। नये कारख़ानों और नये उद्यमों की कामयाबी के लिए कमसे कम १० वर्ष तक विदेशी माल का प्रतिबन्ध ज़रूर करना चाहिए। इसके बाद उस प्रतिबन्ध को क्रम क्रम से शिथिल करके कुछ दिनों में बिलकुल ही उठा देना चाहिए। यदि १० वर्ष में कोई नया रोज़गार या उद्योग न चल निकले तो समझ लेना चाहिए कि वह कभी न चल सकेगा।

करोड़पती कारनेगी साहब का नाम पाठकों ने सुना होगा। अमेरिका में लोहे का रोज़गार करके इन्होंने अनन्त धन कमाया है और अब शिक्षा-प्रचार आदि के लिए करोड़ों रुपया दान देकर उस रुपये का सदुपयोग

कर रहे हैं। आप की राय है कि अमेरिका के संयुक्त राज्यों ने व्यापार-व्यवसाय में जो इतनी उन्नति की है उसका मुख्य कारण व्यापार-प्रतिबन्ध है। जर्मनी की सम्पत्ति-वृद्धि का कारण भी आप यही बतलाते हैं। यदि इन देशों ने विदेशी माल की आमदनी का प्रतिबन्ध करके अपने यहाँ के उद्योगधन्धे की वृद्धि न की होती तो ये कभी इतने सम्पत्तिशाली न होते, कभी यहाँ का रोज़गार और व्यापार इतना न चमकता, कभी इनकी इतनी उन्नति न होती। अमेरिका में इस बात के कितने ही उदाहरण विद्यमान हैं कि जब जब वहाँ विदेशी माल के प्रतिबन्ध में शिथिलता हुई है तब तब उस देश को हानि उठानी पड़ी है—तब तब उस देश के व्यापार-व्यवसाय को धक्का पहुँचा है। यदि प्रतिबन्ध की नीति अमेरिका के लिए लाभदायक साबित हुई है तो इँगलेंड के लिए भी वह लाभदायक होनी चाहिए। कुछ लोगों की राय है कि बन्धनरहित व्यापार का पक्षपाती बनने से इँगलेंड को कुछ समय से बड़ी हानि पहुँच रही है। व्यापार-व्यवसाय में जर्मनी और अमेरिका उससे बढ़े जा रहे हैं। अतएव जब तक वह अपनी नीति को न बदलेगा तब तक वह इन देशों की बराबरी न कर सकेगा। अन्य देश वाले जो माल अब तक इँगलेंड से मँगाते थे अब अमेरिका और जर्मनी से मँगाने लगे हैं। इस कारण इँगलेंड के कुछ विचारशील लोगों का ध्यान इस तरफ़ गया है। चेम्बरलेन साहब इन लोगों के मुखिया हैं। आज कई वर्षों से वे इँगलेंड की व्यापार-नीति में परिवर्तन कराने के लिए जी जान तोड़ कर उद्योग कर रहे हैं। उनका पक्ष अब प्रबल होता दिखाई देता है। सम्भव है, उन्हें अपने उद्योग में कामयाबी हो और इँगलेंड को अपनी नीति बदलनी पड़े। इससे हिन्दुस्तान को भी कुछ लाभ होगा या नहीं, सो तो अभी दूर की बात है। पर सम्भावना यही है कि न होगा और होगा भी तो बहुत कम। क्योंकि हिन्दुस्तान की राज-सत्ता पारलियामेंट (हाउस आव् कामन्स) के हाथ में है। और पारलियामेंट मे इँगलेंड के व्यापारियों और कारख़ानेदारों के प्रतिनिधियों का ज़ोर है। वे कोई क़ानून क्यों ऐसा जारी होने देंगे जिससे विलायती माल का खप हिन्दुस्तान में कम हो जाय? हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात है।

बन्धनरहित व्यापार बुरा नहीं । सम्पत्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार उसमें कोई दोष नहीं । पर यदि बन्धनरहित व्यापार के पक्षपाती यह कहें कि हमारे मत को आप आँख बन्द करके मान लीजिए, अपनी स्थिति का कुछ विचार न कीजिए, तो सरासर उनकी ज़बरदस्ती नहीं तो नादानी ज़रूर है । अर्थशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त यह है कि व्यवहारोपयोगी चीज़ों की उत्पत्ति और व्यापार में कोई बाधा न डालनी चाहिए । उसमें कोई प्रतिबन्ध न करने से उत्पत्ति अधिक होती है और व्यापार बढ़ता है । पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि जिस देश को अपनी स्थिति सुधारना हो उसे यह सिद्धान्त एकदम ही स्वीकार कर लेना चाहिए । यदि सम्पत्ति-शास्त्र इस तरह की ज़बरदस्ती करेगा तो उसे शास्त्र ही न कहना चाहिए ।

बन्धनरहित व्यापार के सिद्धान्तों का अनुसरण करने से कितने ही पुराने देशों को हानि उठानी पड़ी है । तथापि ऐसे उदाहरणों से बन्धन-रहित व्यापार के सिद्धान्त भ्रमपूर्ण नहीं साबित हो सकते । प्रत्येक देश की अवस्था भिन्न भिन्न होती है । अतएव, जैसा इस पुस्तक के आरम्भ में एक जगह प्रतिपादन किया गया है, हर एक देश के लिए सम्पत्ति-शास्त्र के नियमों में थोड़ा बहुत फेर फार करने की ज़रूरत होती है । बन्धनरहित व्यापार के नियम और सिद्धान्त सब देशों के लिए समान रूप से सदा लाभ-दायक नहीं हो सकते । अपनी अपनी स्थिति के अनुसार उनमें कभी कभी परिवर्तन भी करना पड़ता है । इसका एक उदाहरण लीजिए ।

जैसे हिन्दुस्तान पुराना देश है वैसे ही इटली भी है । इटली पहले स्वतन्त्र था; बीच में परतन्त्र हुआ; अब फिर स्वतन्त्र है । इस देश में बन्धनरहित व्यापार के नियम पूरे तौर पर जारी किये गये । पर कुछ काल बाद लोगों को अपनी भूल मालूम हुई । वे समझने लगे कि व्यापार के सब बन्धन दूर करके हम लोगों ने देश को बड़ी हानि पहुँचाई । उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास हो गया कि इस प्रकार के व्यापारिक नियमों में कुछ फेर फार किये बिना अपने देश के उद्योग-धन्धे को कभी उत्तेजना न मिलेगी । उन्होंने इस विषय में फ्रांस का अनुकरण करने ही में अपनी भलाई सोची, इँगलैंड का अनुकरण करने में नहीं ।

इटली में जनसंख्या बहुत है। कलाकौशल और कल-कारखानों की कमी है। पूँजी बहुत नहीं है। गवर्नमेंट पर क़र्ज़ भी है। बहुत दिन तक राजव्यवस्था अच्छी न रहने के कारण देश की दशा उन्नत नहीं है। उसे अच्छी करने के लिए रेल, सड़कें, पुल, पाठशालायें आदि बनाना वर्तमान गवर्नमेंट के लिए ज़रूरी बात है। फ़ौज, जहाज़ आदि के लिए भी ख़र्च दरकार है। उसके दक्षिणी भाग में हिन्दुस्तान की तरह खेती के सिवा और कोई उद्योग-धन्धा नाम लेने लायक़ नहीं। अकेली खेती से देश का ख़र्च चलना असम्भव है। अतएव इटली के समझदार आदमियों की राय है कि हमारे देश के लिए बन्धनरहित व्यापार सर्वतोभाव से उपयोगी नहीं। विदेशी व्यापार का अचिरस्थायी प्रतिबन्ध करके हमें अपने देश के कला-कौशल को उन्नत करना चाहिए। इटली के दक्षिण में पहले कुछ कारोबार होता भी था; पर व्यापार-प्रतिबन्ध दूर करने से वह भी बन्द हो गया। इँगलेंड और अमेरिका आदि से प्रतिस्पर्धा करना उसके लिए असम्भव हो गया। इन देशों ने यन्त्रों की सहायता से माल तैयार करके इटली को तोप दिया और सस्ते भाव उसे बेचने लगे। परिणाम यह हुआ कि इटली वालों के लिए खेती के सिवा और कोई धन्धा न रहा। दक्षिण में सब लोग खेती ही करने लगे। फ़सल अधिक उत्पन्न करने की कोशिश में ज़मीन का उपजाऊपन कम हो गया। बहुत ख़र्च करने पर भी ज़मीन उर्वरा न हुई। ज़मींदार और किसान दोनों को भूखों मरने की नौबत आई। व्यावहारिक चीज़ों की क़ीमत बढ़ गई। पर मज़दूरी का निर्ख़ पूर्ववत् ही रहा। इससे बेचारे मज़दूरों को भी पेट भर खाने को न मिलने लगा। इन सारी आपदाओं का एक मात्र कारण बन्धनरहित व्यापार की नीति का अवलम्बन समझा गया। यह दुरवस्था इटली के केवल दक्षिणी भाग की हुई, उत्तरी भाग की नहीं। वहाँ की स्थिति दक्षिणी भाग की स्थिति से भिन्न प्रकार की थी। वहाँ का उद्योग-धन्धा प्रौढ़ावस्था को पहुँच गया था; आबादी भी बहुत घनी न थी; पूँजी भी कम न थी। इस कारण उत्तरी प्रान्तों के निवासियों को ज़मीन ही की पैदावार पर अवलम्बन करने की ज़रूरत न पड़ी। बन्धनरहित व्यापार की बदौलत उन्होंने अपने उद्योग-

धन्धों में उन्नति की । इससे उनकी दशा तो सुधर गई, पर दक्षिणी प्रान्तों की दशा शोचनीय हो गई । वहाँ कुछ ही समय से लोगों का ध्यान कल-कारख़ानों की तरफ़ गया था । वह सब उद्योग बाल्यावस्था ही में नष्ट हो गया । इटली की गवर्नमेंट इन दोनों प्रकार के व्यापारों के हानि-लाभ को अब अच्छी तरह समझ गई है । इससे उसने अपनी व्यापार-विषयक नीति में परिवर्तन आरम्भ कर दिया है । इसका फल भी अच्छा हो रहा है ।

इटली के दक्षिणी विभाग की स्थिति हिन्दुस्तान की स्थिति से बहुत कुछ मिलती है । अतएव हिन्दुस्तान के लिए भी व्यापार-प्रतिबन्ध की बड़ी ज़रूरत है । पुराने और सघन बसे हुए देशों के लिए सिर्फ़ खेती पर अव-लम्ब करना अपने ही हाथ से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाना है । पानी न बरसने से इस देश की कितनी दुर्दशा होती है, कितने मनुष्य अकाल ही में काल-कवलित हो जाते हैं, गवर्नमेंट को भी कितनी हानि उठानी पड़ती है, सो हम लोग मुद्दतों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं । प्रायः हर साल किसी न किसी प्रान्त में दुर्भिक्ष बना ही रहता है । यदि खेती के सिवा और कारोबार भी यहाँ होते तो देश की अवस्था कभी इतनी हीन न हो जाती । जहाँ आबादी अधिक, देश पुराना, ज़मीन की उर्वरा शक्ति कम, पूँजी थोड़ी वहाँ जब तक अनेक प्रकार के धन्धे न होंगे तब तक कुशल नहीं । और नये कारोबार की रक्षा किये बिना उनका चलना असम्भव है । उन्हें चल निकलने के लिए उनका मुक़ाबला करने वाले योरप, अमेरिका और चीन, जापान आदि के माल पर कर लगा कर कुछ समय तक उनकी आमदनी का प्रतिबन्ध करना बहुत ज़रूरी है ।

चौथा भाग।

कर।

पहला परिच्छेद।

करों की आवश्यकता और तत्सम्बन्धी नियम आदि।

देश की राज्य-प्रणाली चाहे जैसी हो—चाहे सारी सत्ता राजा के हाथ मे हो, चाहे प्रजा के, चाहे थोड़ी थोड़ी दोनों के—प्रजा के जान-माल की रक्षा ज़रूर होनी चाहिए। यह बहुत बड़ा काम है। इसकी सिद्धि के लिए बड़े बड़े प्रबन्ध करने पड़ते हैं। क़िले बनाना, फ़ौज रखना, जहाज़ रखना, रेल और तार जारी करना, सड़कें बनवाना—ये सब काम देश की और प्रजा की रक्षा ही के लिए करने पड़ते हैं। इतने ही से गवर्नमेंट को फ़ुरसत नहीं मिल जाती। चोरी और डाकेज़नी आदि बन्द करने के लिए उसे पुलिस रखनी पड़ती है, अपराधियों के अपराधों का विचार करने के लिए न्यायाधीश रखने पड़ते हैं, हर एक महकमे का प्रबन्ध करने के लिए योग्य कर्म्मचारी नियत करने पड़ते हैं, प्रजा को शिक्षा देने के लिए स्कूल खोलने पड़ते हैं। बिना रुपये के—बिना ख़र्च के—ये सब काम नहीं हो सकते। यह सारी खटपट प्रजा ही के आराम के लिए की जाती है। अतएव प्रबन्ध-सम्बन्धी ख़र्च भी प्रजा ही को देना चाहिए। देश में अमीर, ग़रीब, बलवान्, निर्बल, व्यापारी, व्यवसायी आदि सब तरह के—सब पेशे के—लोग रहते हैं। उन सभी को गवर्नमेंट के राज्य-प्रबन्ध से लाभ पहुँचता है। इससे सरकार को जो ख़र्च करना पड़ता है वह भी उन्हीं से वसूल होना चाहिए। लाभ उठावें वे, ख़र्च कौन दे?

गवर्नमेंट के सुप्रबन्ध से व्यापार-व्यवसाय की भी उन्नति होती है। रेल, तार, डाकख़ाने, सड़कें, नहर आदि से व्यापारियों और व्यवसायियों को बहुत सुभीता होता है। जो चीज़ कानपुर में दो रुपये मन बिकती है रेल द्वारा कलकत्ते पहुँच कर वह ३ रुपये मन की हो जाती है। अर्थात् गमनागमन का सुभीता होने से व्यवहार की चीज़ें जिस जगह जाती हैं उस जगह की विशेषता के अनुसार अधिक मूल्यवान् हो जाती हैं। दुर्भिक्ष और महँगी के समय में जो चीज़ें अन्य प्रान्तों से नहीं आ सकतीं, रेलों और नहरों के द्वारा वे बिना विशेष प्रयास के चली आती हैं। इससे दुर्भिक्षग्रस्त प्रान्तों का अभाव बहुत कुछ दूर हो जाता है। इसके साथ ही व्यापार करने वालों को भी लाभ होता है। राजा ही के सुप्रबन्ध की बदौलत अनेक प्रकार की व्यावहारिक चीज़ें पैदा करने वालों और उन्हें एक जगह से दूसरी जगह भेजने वालों की रक्षा चोरों और लुटेरों से होती है। इसी राज्य-प्रबन्ध ही की कृपा से वे अपने परिश्रमजात कर्म्मफल का भोग करने में समर्थ होते हैं। अतएव व्यापारी और व्यवसायी आदमियों को भी देश की राज्य-व्यवस्था के लिए अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश ज़रूर ही देना चाहिए।

राज्य-प्रबन्ध में जो ख़र्च पड़ता है वह कर के—टिकस के—रूप में प्रजा से लिया जाता है। परन्तु सब लोगों को गवर्नमेंट के प्रबन्ध से एक सा फ़ायदा नहीं पहुँचता। कल्पना कीजिए कि प्रजा के फ़ायदे के लिए गवर्नमेंट ने एक सड़क बनवा दी। पर, संभव है, कुछ लोग उस सड़क से कभी न जायँ। अर्थात् उनके लिए उस सड़क का बनना व्यर्थ है। इस दशा में वे कह सकते हैं कि इस सड़क के लिए हम से जो रुपया कर के रूप में लिया गया वह अन्याय हुआ। पर यदि सैकड़े पीछे दो चार आदमी उस सड़क को काम में न लावें तो उनका उज़्र न सुना जायगा। यदि उससे ९५ आदमियों को लाभ पहुँचे और सिर्फ़ ५ को नहीं, तो ९५ के लाभ के लिए ५ को हानि उठा कर भी समाज का भला करना चाहिए। जो कुछ हो, देश-प्रबन्ध में जो ख़र्च पड़ता है उसे राजा को बहुत सोच समझ कर प्रजा से वसूल करना चाहिए। ऐसा न हो कि किसी से अन्यायपूर्वक कर लिया जाय। यदि सब अव-स्थाओं और सब श्रेणियों के लोगों से एकसा कर लिया जायगा तो प्रजा में

ज़रूर असन्तोष फैलेगा। क्योंकि सब की साम्पत्तिक अवस्था एकसी नहीं होती। सौ रुपये महीने की आमदनी वाला आदमी जितना कर दे सकेगा, पचास रुपये महीने की आमदनी वाला उतना न दे सकेगा। कर लगाने में भूलें होने से—किसी से कम किसी से अधिक कर लेने से—देश में असन्तोष फैल सकता है और विद्रोह हो सकता है। यहाँ तक कि बड़े बड़े राज्य उलट पुलट जा सकते हैं। फ़्रांस में जो राज्य-क्रान्ति हुई थी उसका कारण यही था कि अमीर आदमियों पर न लगा कर ग़रीबों पर कर लगाया गया था।

जैसे हर आदमी का ख़र्च उसी की आमदनी से चलता है वैसे ही राज्य का भी ख़र्च उसी की आमदनी से चलता है। परन्तु प्रत्येक राज्य और प्रत्येक आदमी या कुटुम्ब की आमदनी और ख़र्च में भेद है। आदमियों की आमदनी प्रायः बँधी होती है। जिसकी जितनी आमदनी होती है उतनी ही से उसका ख़र्च चलता है। अर्थात् आमदनी के अनुसार ख़र्च होता है। पर राज्यों की यह बात नहीं। उनकी आमदनी ख़र्च के अनुसार बाँधी जाती है। जिस राज्य को जितना ख़र्च करना पड़ता है उतनी ही आमदनी उसे बाँधनी पड़ती है। अर्थात् उतना ही रुपया उसे प्रजा से वसूल करना पड़ता है। तथापि कर लगा कर रुपया संग्रह करने की भी सीमा होती है। बेहिसाब ख़र्च करके यदि कोई राजा उसकी पूर्ति प्रजा से कराना चाहेगा तो प्रजा ज़रूर एतराज़ करेगी। टिकस लगाने के समय प्रजा या उसके प्रतिनिधि हज़ारों उज़्र करते हैं। उन सब का विचार करके कर लगाना पड़ता है। बचत को ख़र्च करने में दिक़्क़त नहीं होती; परन्तु करों से आमदनी बढ़ा कर कमी को पूरा करने में हमेशा दिक़्क़त होती है। ये सब बातें विशेष करके उन्हीं राज्यों के विषय में कही जा सकती हैं जहाँ राज्य-प्रबन्ध में प्रजा को दस्तन्दाज़ी करने या राय देने का हक़ होता है। जहाँ एकाधिपत्य राज्य है वहाँ प्रजा की बातों का कम लिहाज़ किया जाता है। उनके हानि-लाभ का विचार राजा ही कर डालता है। प्रजा के अगुवा एतराज़ करते ही रह जाते हैं। जहाँ इस तरह की राज्य-प्रणाली होती है वहाँ प्रजा के प्रतिवादों की—प्रजा के एतराज़ों की—अवहेलना करके राजा मनमाना कर लगा देते

है । परन्तु इससे राजा और प्रजा में वैमनस्य पैदा हो जाता है । परिणाम भी इसका अच्छा नहीं होता ।

जब किसी कर का लेना निश्चित हो जाता है तब उसे देना ही पड़ता है । यदि कोई देने से इनकार करे तो भी वह नहीं बच सकता । उससे ज़बरदस्ती कर वसूल किया जाता है । किसी किसी कर के वसूल करने मे ऐसी युक्ति की जाती है कि उसका देना किसी को न खले । यह न मालूम हो कि यह कर हम से ज़बरदस्ती लिया जा रहा है । नमक पर जो महसूल इस देश में लगता है वह भी एक प्रकार का कर है । जो व्यापारी साँभर या पचभद्रा आदि से नमक मँगाते हैं उन्हें वहीं पर सरकार को नमक का कर चुका देना पड़ता है । वे उस कर की रक़म को नमक की क़ीमत में शामिल करके ख़रीदारों से वसूल कर लेते हैं । एक पैसे का भी जो नमक मोल लेता है उसे अधिक क़ीमत के रूप में कर देना पड़ता है । पर उसे यह नहीं मालूम होता कि वह ज़बरदस्ती उससे वसूल किया जा रहा है । वह समझता है कि नमक का भाव ही यह है । और यदि समझ भी पड़ता है तो सिर्फ़ समझदार आदमियों को, जो जानते हैं कि सरकारी कर के कारण ही नमक महँगा बिक रहा है । इस तरह के कर से आदमी तभी बच सकता है जब ऐसी चीज़ों का बरतना छोड़ दे । शराब, अफ़ीम आदि पर जो कर पड़ता है उससे तो, इन चीज़ों का बरतना छोड़ देने से, बचाव भी हो सकता है । पर नमक ऐसी चीज़ नहीं । उसके बिना काम नहीं चल सकता । अतएव इच्छा न रहने पर भी वह देना ही पड़ता है । अर्थात् वह ज़बरदस्ती वसूल किया जाता है । यही हाल और भी कितने ही करों का है ।

प्रजा का वह रुपया जो सार्वजनिक लाभ के लिए लिया जाता है, और जिससे देने या लेने वाले का कोई ख़ास काम नहीं निकलता, उसी को कर कहना अधिक युक्तिसंगत है । हज़ार रुपये से अधिक आमदनी वालों से जो कर लिया जाता है, और जिसे "इन्कम टैक्स" कहते हैं, इसी तरह का है । माल पर चुंगी लेकर उससे म्युनिसिपल्टी नगर-निवासियों के लाभ के काम करती है । अतएव चुंगी के महसूल को भी कर कहना अधिक युक्तिपूर्ण है । पर यदि गवर्नमेंट हिन्दुस्तान की सरहद में कोई रेल बनावे,

और प्रजा से वसूल किया गया रुपया उसमें लगा दे, तो उसमें उसका विशेष स्वार्थ है, प्रजा का कम। अतएव वह "कर" की ठीक परिभाषा में नहीं आ सकता। हाँ, यदि, वह रेल फ़ौज या फ़ौज का सामान ले जाने के लिए नहीं, किन्तु व्यापार-वृद्धि के लिए बनाई जाय तो बात दूसरी है। उससे सर्व-साधारण को अधिक लाभ पहुँचेगा।

कर हमेशा आदमियों ही पर लगता है। अथवा यों कहिए कि करों का बोझ या असर हमेशा आदमियों ही पर पड़ता है। चीज़ों पर कर नाममात्र के लिए लगाया जाता है। क्योंकि चीज़ों पर लगाया गया कर बिकने के समय ग्राहक से वसूल कर लिया जाता है। अर्थात् कर के कारण चीज़ों की क़ीमत बढ़ जाती है।

अच्छा तो किस रीति से, किस ढँग से, किस तरकीब से कर वसूल करना चाहिए? उसका परिमाण क्या होना चाहिए? किन किन बातों को ध्यान में रख कर कर लगाना चाहिए? इस सम्बन्ध में सम्पत्ति-शास्त्र के प्रवर्त्तक एडम स्मिथ ने चार नियमों का उल्लेख किया है। उसका पहला नियम यह है—

(१) कर इस तरह लगाने चाहिए जिसमें उनका असर सब पर बराबर पड़े। ऐसा न हो कि किसी को कम कर देना पड़े, किसी को अधिक। जिसकी जितनी आमदनी हो उससे उसी के अनुसार कर लिया जाय। अथवा जिसे जितना लाभ गवर्नमेंट से पहुँचता हो, जिसकी जितनी रक्षा गवर्नमेंट को करनी पड़ती हो, उससे उसी के अनुसार कर लिया जाय।

इस नियम का परिपालन करना मुश्किल काम है। मान लीजिए कि एक कुटुम्ब में १८ आदमी हैं और दूसरे में सिर्फ़ दो। दोनों कुटुम्बों की आमदनी बराबर है। अब यदि नमक पर महसूल लगाया जायगा तो उसका बोझ अधिक मनुष्य वाले कुटुम्ब पर अधिक पड़ेगा और कम मनुष्य वाले पर कम। उधर आमदनी दोनों कुटुम्बों की बराबर है। इससे पहले कुटुम्ब को व्यर्थ अधिक कर देना पड़ेगा। क्योंकि आदमी अधिक होने से उस कुटुम्ब में अधिक नमक ख़र्च होगा। और ख़र्च अधिक होने से कर भी अधिक देना पड़ेगा। इधर दूसरे कुटुम्ब में कम आदमी होने से उसकी आमदनी पहले कुटुम्ब के बराबर होने पर भी उसे कम कर देना पड़ेगा। अतएव यह नहीं

कहा जा सकता कि दोनों कुटुम्बों से, आमदनी के हिसाब से, यह कर बराबर परिमाण में लिया गया। व्यवहार में ऐसे मौक़ों पर जो जितनी चीज़ खर्च करता है उसे उतना ही कर देना पड़ता है। अब यदि यह कहें कि जिसे जिस परिमाण में गवर्नमेंट से रक्षा की अपेक्षा हो उसे उसी परिमाण में कर देना चाहिए, तो यह होना भी कठिन है। क्योंकि इस नियम का अनुसरण करने से हर आदमी की प्राण-रक्षा के लिए कर लगाना पड़ेगा और हर एक के माल-असबाब की जांच करनी पड़ेगी कि किसके पास कितना माल है। यदि ऐसा न किया जायगा तो उसके माल-असबाब के परिमाण के अनुसार कर लगेगा किस तरह ? जान और माल की रक्षा के ख़याल से कर लगाने में बड़े बड़े झंझट पैदा होंगे। इस बात का फ़ैसिला कौन करेगा कि किसकी जान की कितनी क़ीमत है और किसके पास कितना माल-असबाब है। अतएव एडम स्मिथ के इस नियम के अनुसार व्यवहार करना बहुत मुश्किल काम है। यदि यह कहें कि इस नियम का व्यवहार में बहुत ही कम उपयोग हो सकता है तो भी विशेष अत्युक्ति न होगी। तथापि नियम की योग्यता अबाधित है। सब से बराबर कर लेना चाहिए, यह बात एक ही कर का विचार करने से ध्यान में नहीं आसकती। इस सम्बन्ध में प्रजा से वसूल किये जाने वाले सारे करों का विचार करने से ध्यान में आसकती है। संभव है, ग़रीब और अमीर दोनों को नमक पर तो बराबर कर देना पड़े; पर अमीर को विलास-द्रव्यों पर अधिक। इस से अमीरों के सब करों की रक़म ग़रीब आदमियों के करों की रक़म से अधिक हो सकती है। अर्थात् आमदनी के लिहाज़ से अमीरों को अधिक और ग़रीबों को कम कर देना पड़ता है। पर परता एकही पड़ता है।

(२) एडम स्मिथ का दूसरा नियम यह है कि कर की रक़म निश्चित होनी चाहिए। किस समय, किस तरह, और कितना कर देना होगा, ये बातें साफ़ साफ़ प्रजा पर प्रकट कर देनी चाहिए।

यह नियम बहुत ही अच्छा है। यदि प्रजा को ठीक ठीक यह न मालूम होगा कि कितना कर देना है तो बड़ी गड़बड़ पैदा होगी। कर वसूल करने वाले खाना चाहेंगे तो कर का बहुत कुछ रुपया खा सकेंगे। इस से व्यर्थ

प्रजा-पीड़न बढ़ेगा। यदि यह न बतलाया जायगा कि किस तरह कर देना होगा—अर्थात् रुपये के रूप में देना होगा या धान्य के रूप में—तो भी प्रजा को हानि और कष्ट पहुँचने का डर है। कर देने का समय भी सब को मालूम रहना चाहिए। समय मालूम रहने से सब लोग कर का प्रबन्ध कर रक्खेंगे और उसे यथासमय देने में उन्हें बहुत सुभीता होगा।

(३) तीसरा नियम एडम स्मिथ का यह है कि कर उसी समय लेना चाहिए जिस समय देने में प्रजा को सुभीता हो और उसी रीति से लेना चाहिए जिस रीति से देने में प्रजा को तक़लीफ़ न हो।

इस नियम की यथार्थता स्पष्टही है। कुसमय में कर लेने से प्रजा को बहुत तकलीफ़ हो सकती है। फ़सिल कटने के पहले ही किसानों से लगान लेने का यदि नियम किया जाय तो उन्हें क़र्ज़ लेकर या लोटा-थाली बेंच कर सरकारी लगान अदा करना पड़े। इससे बढ़ कर अन्याय और क्या हो सकेगा? सरकार का धर्म्म प्रजा की रक्षा करना है, उसे उजाड़ना नहीं। वह यदि प्रजा के सुभीते को देख कर कर का रुपया वसूल करेगी तो उसकी कोई हानि न होगी; पर प्रजा को बहुत आराम मिलेगा। इसी से सरकार बहुत करके किसानों से जिन्स तैयार होने पर लगान लेती है, या उसे कई क़िस्तों में, जैसे जैसे जिन्स तैयार होती जाती है, लेती जाती है। इस से किसान आदमियों को लगान देना खलता नहीं; क्योंकि वे अनाज बेच कर लगान दे देते हैं।

जैसा ऊपर एक जगह कहा जा चुका है, व्यवहार की चीज़ों पर लगाया गया कर, अन्त में, उन्हें मोल लेने वाले को देना पड़ता है। जिस समय वह उन चीज़ों को मोल लेता है उसी समय वह अपने हिस्से का कर देता है। पर सरकार को इस तरह का कर किस समय और किस तरकीब से वसूल करना चाहिए? यदि सरकार नमक बेचने वाले हर एक दुकानदार की दुकान पर अपना सिपाही बिठा दे और जो आदमी नमक लेने आवे उससे वह उसी समय उसके हिस्से का महसूल वसूल करे, तो बड़ा झंझट हो। ऐसा करने से सरकार को भी व्यर्थ कष्ट उठाना पड़े और ग्राहकों को भी। इससे, यद्यपि व्यावहारिक चीज़ें मोल लेनेवालों ही को उन पर लगाया गया

कर देना पड़ता है, तथापि सरकार बेचने वालों से पहले ही कर ले लेती है। बेचने वाले उस कर को बिक्री की चीज़ों की क़ीमत में शामिल करके, ग्राहकों से ले लेते हैं। इससे दोनों पक्षों को सुभीता होता है।

(४) एडम स्मिथ ने करों के सम्बन्ध में जो चौथा नियम बनाया है उसका आशय यह है कि कर इस तरह वसूल करने चाहिए जिसमें ख़र्च कम पड़े। ख़र्च कम पड़ने से करों का अधिकांश सरकारी ख़ज़ाने में जायगा और जिस अभिप्राय से कर लगाये जाते हैं उसकी पूर्त्ति में अधिक सफलता होगी।

इस नियम के अनुसार कोई कर ऐसा न लगाना चाहिए जिसके वसूल करने के लिए बहुत से अधिकारियों और कर्म्मचारियों की ज़रूरत पड़े; और जो रुपया वसूल किया जाय उसमें से बहुत कुछ व्यर्थ ख़र्च हो जाय; या उससे किसी व्यापार-धन्धे में बाधा आवे और व्यवहार की चीज़ें महँगी हो जाँय। इसके सिवा गवर्नमेंट को इस बात का भी ख़याल रखना चाहिए कि कर देने वालों का समय और रुपया व्यर्थ न ख़र्च हो। इस पिछली बात के ख़याल से गवर्नमेंट ने जो दस्तावेज़ों को "स्टाम्प" क़ागज़ पर लिखने और उन्हें रजिस्टरी कराने का नियम किया है उससे प्रजा को तकलीफ़ होती है। क्योंकि पहले तो प्रजा को स्टाम्प ख़रीदने में, फिर रजिस्टरार के आफ़िस में दस्तावेज़ों की रजिस्टरी कराने में अपना समय व्यर्थ ख़र्च करना पड़ता है। फिर रजिस्टरी के झमेले के कारण दस्तावेज़ लिखने वालों और वकीलों की फ़ीस भी देनी पड़ती है। इस तरह प्रजा का समय और रुपया दोनों थोड़े बहुत व्यर्थ नष्ट होते हैं। इसी ख़याल से सरकार ने "स्टाम्प" बेचने का जगह जगह पर प्रबन्ध किया है, जिसमें लेने वालों को विशेष कष्ट न हो। पर रजिस्टरी का झमेला बनाही हुआ है। संभव है किसी समय उसके भी नियमों में फेर-फार करके प्रजा के लिए अधिक सुभीता कर दिया जाय। आमदनी पर जो "इन्कम टैक्स" नाम का कर लिया जाता है उसके वसूल किये जाने में भी प्रजा को कभी कभी बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं। किस की आमदनी कितनी है, इस बात की जाँच करने में सरकारी अधिकारियों और कर देने वालों में विवाद खड़ा हो जाता है। इस से

कर देने वालों का बहुत सा समय भी नष्ट जाता है और कभी कभी रुपया भी।

चौथे नियम का मुख्य मतलब यह है कि व्यवहार की चीज़ों पर जो कर लगाया जाय वह कच्चे माल पर नहीं, किन्तु बिक्री के लिए तैयार किये गये माल पर लगाया जाय। कपास पर कर न लगा कर उससे तैयार किये गये कपड़े पर लगाना मुनासिब होगा। कपास पर लगाने से कर देने वालों की व्यर्थ हानि होगी; और सरकार को भी कुछ लाभ न होगा। कल्पना कीजिए कि रामदत्त ने बहुत सी कपास ख़रीद की। उस पर उसे १००० रुपये कर देना पड़ा। अब उसने वह कपास शिवदत्त के हाथ बेची और जो कर उसने दिया था उस पर १० रुपये सैकड़े के हिसाब से मुनाफ़ा लिया। अर्थात् शिवदत्त को उसे ११०० रुपये देने पड़े। इसके बाद शिवदत्त ने उस कपास को एक मिल (पुतली घर) को बेच दी। उसने भी दिये गये कर पर १० रुपये सैकड़े मुनाफ़ा लिया। अर्थात् मिल वालों ने उसे १२१० रुपये दिये। अब, देखिए असल मे गवर्नमेंट ने इस कपास पर केवल १००० रुपये कर लिया है, पर पुतली घर में पहुँचने तक उस पर कर की रक़म १२१० रुपये हो गई। अर्थात् गवर्नमेंट को जितना कर मिला, कपास लेने वालों को उससे २१० रुपये अधिक देना पड़ा। इस कपास का कपड़ा बन कर बिकने तक कर की रक़म इसी तरह बढ़ती जायगी। अन्त में उसका बोझ कपड़ा मोल लेने वालों पर पड़ेगा। कच्चे माल पर कर लगाने से असल कर की अपेक्षा बहुत अधिक रुपया ग्राहकों के घर से व्यर्थ जायगा। उधर गवर्नमेंट के ख़ज़ाने में कम रक़म पहुँचेगी। अतएव एडम स्मिथ के इस चौथे नियम के अनुसार कच्चे माल पर कर न लगा कर, बिकने के लिए माल तैयार हो जाने पर, कर लगाना राजा और प्रजा दोनों के लिए अच्छा है।

सम्पत्ति-शास्त्र-वेत्ताओं ने करों को दो बड़े विभागों मे बाँटा है—एक वास्तविक कर, दूसरे व्यक्तिगत कर। वास्तविक कर उन्हे कहते हैं जो व्यवहार की चीज़ों पर लगाये जाते हैं और जिनके लगाने या वसूल करने में इस बात का विचार नहीं किया जाता कि इन चीज़ों का मालिक कौन है, अथवा इन्हें व्यवहार में कौन लावेगा, अथवा करों का रुपया अन्त में किससे

वसूल किया जायगा । आयात और यात माल पर जो कर लगाया जाता है वह इसी तरह का है । व्यक्तिगत कर वे कहलाते हैं जो मनुष्यों पर, उनकी आर्थिक अवस्था और कारोबार आदि देख कर, लगाये जाते हैं । अर्थात् जिस पर करों का बोझ पड़ना चाहिए उसी से वे वसूल किये जाते हैं । उदाहरण के लिए—आमदनी पर कर, जिसे "इन्कमटैक्स" कहते हैं । करों के यही दो विभाग प्रत्यक्ष और परोक्ष भी कहे जा सकते हैं ।

किसी किसी ने करों को और ही तरह विभक्त किया है । उनके अनुसार कुछ कर मुख्य होते हैं, कुछ गौण । परन्तु इस विषय को हमें एक परिमित मर्य्यादा के भीतर रखना है । अतएव करों के मुख्य और गौण विभागों का विचार न करके सिर्फ़ प्रत्यक्ष और परोक्ष विभागों का ही विचार थोड़े में करेंगे ।

दूसरा परिच्छेद ।

प्रत्यक्ष कर ।

गवर्नमेंट को जब यह इच्छा होती है कि अमुक आदमी को ख़ुद ही कर देना चाहिए, और उसी से जब वह लिया भी जाता है, तब उस कर को प्रत्यक्ष संज्ञा प्राप्त होती है । अर्थात् जिसे कर देना चाहिए वही जब देता है तब वह प्रत्यक्ष कर कहलाता है ।

प्रत्यक्ष कर हर आदमी की आमदनी या ख़र्च के अनुसार लगाये जाते हैं । जिसकी जितनी आमदनी या जिसका जितना ख़र्च होता है उस से उतना ही कर लिया जाता है । इन्कमटैक्स, गाड़ियों पर टैक्स (अर्थात् ह्वील टैक्स) पानी पर टैक्स, घरों पर टैक्स, लाइसंस टैक्स प्रत्यक्ष करोंही की परिभाषा के भीतर हैं । ये सब प्रत्यक्ष कर हैं, क्योंकि जिस पर ये कर लगाये जाते हैं उसी को देने पड़ते हैं । यह नहीं होता कि करदाता इन करों को किसी और से वसूल करके अपनी क्षति को पूर्ण कर सके ।

आमदनी में तीन बातें शामिल हो सकती हैं । ज़मीन का लगान, मुनाफ़ा और मज़दूरी । अर्थात् इन्हीं तीन मदों से आमदनी हो सकती है ।

पानी आदि पर जो कर लगाया जाता है वह ख़र्च के हिसाब से लगाया जाता है। जो जितना पानी ख़र्च करता है, जो जितनी गाड़ियाँ व्यवहार मे लाता या रखता है. जिसके जितने घर होते हैं उसे उतना ही कर देना पड़ता है।

लगान पर जो कर लगाया जाता है वह ज़मीन के मालिक को ही देना पड़ता है। वह उससे किसी तरह नहीं बच सकता। क्योंकि उस कर को वह किसी और से नहीं वसूल कर सकता। यदि वह चाहे कि जितनी रक़म कर की मैंने सरकार को दी है उतनी अनाज महँगा बेच कर मोल लेने वालों से वसूल कर लूँ, तो ऐसा न कर सकेगा। क्योंकि, यदि वह अपना अनाज महँगा बेचेगा तो कोई क्यों उससे मोल लेगा? अनाज जब बिकेगा तब बाज़ार भाव से बिकेगा। और बाज़ार भाव का घटाना या बढ़ाना किसी के हाथ में नहीं। लगान पर कर लेने से अनाज के भाव में फेरफार नहीं हो सकता। अनाज का निर्ख़ निकृष्ट भूमि के उत्पादनव्यय के अनुसार निश्चित होता है। और निकृष्ट भूमि पर कुछ भी लगान नहीं लग सकता। अतएव लगान और अनाज के निर्ख़ में परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं। लगान पर जो कर लगाया जायगा वह हमेशा ज़मीन के मलिक ही को देना पड़ेगा। हिन्दुस्तान में प्रायः सारी ज़मीन की मालिक सरकार है। और कर भी सरकारही लगाती है। इससे वह अपने ही ऊपर कर लगाने से रही। हाँ, जहाँ जहाँ ज़मींदारी, तअल्लुक़ेदारी या इनामदारी प्रबन्ध है वहाँ वहाँ यदि लगान पर कर लगाया जाय तो ज़मीन के मालिकों ही को देना पड़े। यथार्थ में जो लगान सरकार या ज़मींदार को देना पड़ता है वह भी एक प्रकार का कर ही है। लगान के रूप में कर लेकर ही सरकार या ज़मींदार लोग अपनी ज़मीन किसानों को जोतने के लिए देते हैं। हिन्दुस्तान की प्रजा से यहाँ की गवर्नमेंट हर साल कोई २७ करोड़ रुपया कर लगान के नाम से वसूल करती है। यदि यह कर न लगता तो इतना रुपया प्रजा से और कोई कर लगा कर वसूल किया जाता। क्योंकि बिना रुपये के गवर्नमेंट का राज्य-प्रबन्ध न चल सकता।

मुनाफ़े पर लगाये गये कर का बोझ भी कर देने वाले ही पर पड़ता

है । परन्तु कर देने के कारण मुनाफ़े की मात्रा कम होती जाती है । मुनाफ़ा कम होने से संचय कम होता है । इससे पूँजी की वृद्धि नहीं होती । पूँजी कम हो जाने से बड़े बड़े कारोबार नहीं हो सकते और मज़दूरों को मज़दूरी भी कम मिलती है ।

मज़दूरी दो तरह की होती है । एक साधारण अशिक्षित मज़दूरों की मज़दूरी; दूसरी शिक्षित लोगों की और कलाकुशल कारीगरों की मज़दूरी । दूसरे प्रकार के लोगों को विद्या और कारीगरी आदि सीखने में जो ख़र्च और श्रम पड़ता है उसकी अपेक्षा उन्हें बहुधा अधिक आमदनी होती है । इससे वे अपनी आमदनी से सरकारी कर सहज में दे सकते हैं । परन्तु दूसरे प्रकार के मज़दूरों की कमाई कम होने के कारण उन्हें अपनी आमदनी पर कर देते खलता है । क्योंकि उन्हें जितनी आमदनी होती है वह खाने पीने और पहनने की चीज़ें ख़रीदने के लिए ही काफ़ी नहीं होती । और आमदनी पर जो कर लिया जाता है उसका बोझ दूसरों पर डालना असंभव है । वह सब लोगों को अपनी निज की ही आमदनी से निकाल कर देना पड़ता है । अतएव कम आमदनी वालों से कर लेना अन्याय है ।

इन्हीं बातों के ख़याल से इन्कमटैक्स, अर्थात् आमदनी पर कर, उन लोगों से नहीं लिया जाता जिनकी आमदनी एक निश्चित रक़म से कम होती है । अर्थात् यह देख लिया जाता है कि अमुक आमदनी होने से लोग बिना विशेष कष्ट उठाये सरकारी कर दे सकेंगे । जिस की आमदनी उससे कम होती है उससे यह कर नहीं लिया जाता । इस देश की गवर्नमेंट ने पहले इस आमदनी की सीमा ५०० रुपये रक्खी थी । उसका ख़याल था कि जिसकी सालाना आमदनी ५०० रुपये और उससे अधिक है उसे इस कर के देने में कोई तकलीफ़ न होगी । ५०० रुपये साल साधारण तौर पर खाने पीने आदि के ख़र्च के लिए उसने बस समझा था । पर तजरिबे से उसे जब मालूम हो गया कि ५०० रुपये की सीमा रखने से कम आमदनी वालों को कर देते खलता है, तब उसने इस रक़म को बढ़ा कर हज़ार रुपये कर दिया । अब जिसकी आमदनी हज़ार रुपये से कम है उसे यह कर नहीं देना

पड़ता। हज़ार और उससे अधिक आमदनी वालों ही से यह कर लिया जाता है।

यह कर लगाने के लिए आमदनी का निश्चय करने में कभी कभी बड़ी दिक्कतें पड़ती हैं। क्योंकि जो लोग व्यापार-व्यवसाय करते हैं उनकी आमदनी निश्चित नहीं होती। किसी साल उन्हें कम आमदनी होती है किसी साल अधिक। इससे कर की रक़म में फेर-फार की ज़रूरत हुआ करती है। और एक दफ़े जो कर लग जाता है उसे कम कराने में बड़े झंझट होते हैं।

जिन लोगों की आमदनी अधिक है उनकी अपेक्षा कम आमदनी वालों पर इस कर का बोझ अधिक पड़ता है। कल्पना कीजिए कि इन्कमटैक्स का निर्ख़ एक रुपया सैकड़ा है। अतएव हज़ार रुपये की आमदनी वाले को साल में दस रुपये कर देना पड़ेगा। इस हिसाब से जिसकी आमदनी दस हज़ार रुपये है उसे साल में १०० रुपये देना होगा। जिसका कुटुम्ब बड़ा है उसे साल में हज़ार रुपये घरही के साधारण ख़र्च के लिए चाहिए। अतएव यदि उससे १० रुपये लिये जायँगे तो ज़रूर उसे खलेगा और किसी ज़रूरी चीज़ के व्यवहार से वह वञ्चित रहेगा। परन्तु जिसके घर साल में दस हज़ार रुपये आते हैं उसे १०० रुपये सरकार को देते मालूम भी न पड़ेगा। बहुत होगा तो एक आध विलास-द्रव्य का ख़र्च कम कर देने ही से उसका काम निकल जायगा। इस दशा में यदि ऐसा नियम किया जाय कि एक अमुक रक़म पर बिलकुल ही कर न लगे तो अच्छा हो—तो फिर इस शिकायत के लिए जगह न रहे। जैसा ऊपर लिखा गया है, हिन्दुस्तान में इस कर के लिए हज़ार रुपये आमदनी की सीमा रक्खी गई है। पर उस पूरी आमदनी पर कर लगा लिया जाता है। यह नहीं कि जितनी आमदनी साधारण ख़र्च के लिए काफ़ी समझी जाय उतनी छोड़ कर बाक़ी पर कर लगाया जाय। जिसकी आमदनी हज़ार रुपये कूती गई उसे एक रुपये से हज़ार रुपये तक फ़ी रुपये एक निश्चित निर्ख़ के हिसाब से कर देना पड़ता है।

आमदनी पर जो कर लिया जाता है वह प्रत्यक्ष कर है। पर यदि यह कर संचित पूँजी से दिया जाता है तो परोक्ष हो जाता है। क्योंकि पूँजी से ही मज़दूरों का पालन होता है; उसी से उनको मज़दूरी मिलती है। इससे

ऐसे कर का भार मज़दूरों पर पड़ता है । इसी से वह परोक्ष हो जाता है; क्योंकि जिसका भार दूसरों पर पड़े, कर देने वालों पर नहीं, उसी को परोक्ष कर कहते हैं । कल्पना कीजिए कि किसी कारख़ानेदार को अपनी आमदनी पर हर साल हज़ार रुपये कर देना पड़ता है । अब यदि यह कर उसे न देना पड़ता तो इतना रुपया वह अपने कारख़ाने में लगा देता । अर्थात् वह उसकी पूँजी में शामिल हो जाता । ऐसा होने से अधिक मज़दूरों का पालन-पोषण होता । यह रुपया कारख़ाने में न लगाये जाने से मानों उतने मज़दूरों की मज़दूरी मारी गई । अर्थात् कर का भार जाकर उन पर पड़ा और वह परोक्ष हो गया । यदि कारख़ानेदार इस कर को अपनी पूँजी से न देकर अपने ऐश-आराम के ख़र्च से देगा तो वह परोक्ष न होकर पूर्ववत् प्रत्यक्ष ही बना रहेगा ।

प्रत्यक्ष करों में से जो कर आमदनी पर लगता है वही सबसे अधिक व्यापक है । अतएव उसी का विचार यहां पर किया गया है । अन्यान्य प्रत्यक्ष करों के विषय में विचार करने के लिए इस पुस्तक में जगह नहीं ।

तीसरा परिच्छेद ।

परोक्ष कर ।

जब गवर्नमेंट यह चाहती है कि जिससे कर लिया जाय उसी को वह अपने घर से न देना पड़े तब उसे परोक्ष कर कहते हैं । ऐसे करों का भार उस आदमी पर नहीं पड़ता जिससे वह वसूल किया जाता है । कर देने से उसकी जो हानि होती है उसे वह औरों के सिर ढाल देता है—उसे वह औरों से वसूल कर लेता है । अर्थात् जिस आदमी पर इस कर का प्रत्यक्ष बोझ पड़ता है, असल में उसे यह कर नहीं देना पड़ता । परोक्ष रीति से वह औरों ही को देना पड़ता है । एक उदाहरण लीजिए । विदेश से जो माल आता है उस पर सरकार कर लगा कर उस कर को माल पैदा करने या भेजने वालों से वसूल कर लेती है । पर यथार्थ में यह कर उन लोगों को

अपने घर से नहीं देना पड़ता। वे लोग कर की रक़म माल की क़ीमत में जोड़ते जाते हैं और अन्त को जो लोग वह माल मोल लेकर व्यवहार में लाते हैं उन्हीं पर सारे कर का बोझ पड़ता है। अर्थात् मानों उन्हों पर कर लगता है—परोक्ष भाव से उन्हीं को कर देना पड़ता है। बड़े बड़े शहरों में जो माल बाहर से आता है उस पर वहाँ की म्यूनीसिपैलिटी चुङ्गी लगाती है। यह चुङ्गी नाम का कर भी इसी तरह का परोक्ष कर है। उसका भी बोझ अन्त में माल लेने वाले पर पड़ता है।

इस तरह के कर वसूल करने के लिए गवर्नमेंट को अनेक प्रकार के नियम बनाने पड़ते हैं। अमुक रास्ते से माल लाना चाहिए, अमुक जगह पर उसे बेचना चाहिए, अमुक तरह से उसका व्यापार करना चाहिए— इस प्रकार की कितनी ही शर्तें गवर्नमेंट को करनी पड़ती हैं। यह सब इस लिए किया जाता है जिसमें कोई चालाकी या फ़रेब करके कर देने से बच न जाय। इससे व्यवसायियों और व्यापारियों को बहुधा तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं। माल की उत्पत्ति और बिक्री आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध होने के कारण कारख़ानेदारों और व्यापारियों को व्यर्थ अधिक ख़र्च करना पड़ता है। व्यापार-व्यवसाय की उन्नति में बाधा आती है। माल पर यथेष्ट नफ़ा नहीं मिलता। इन कारणों से, कर थोड़ा होने पर भी, माल की क़ीमत बहुत चढ़ जाती है और उसका बोझ अमीर-ग़रीब सब पर पड़ता है। इस प्रकार के कर देश में उत्पन्न होने वाली, बाहर से देश में आने वाली, स्वदेश से विदेश जाने वाली, अथवा अपने ही देश में एक जगह से दूसरी जगह भेजी जाने वाली चीज़ों पर लगाये जाते हैं। वे चाहे जिस समय वसूल किये जायँ उनके कारण उत्पत्ति और तैयारी का ख़र्च ज़रूर बढ़ जाता है और वे ज़रूर महँगी बिकती हैं। स्वाभाविक रीति से उत्पत्ति-ख़र्च बढ़ने से जो परिणाम होते हैं वही परिणाम कृत्रिम रीति से कर लगा कर उत्पत्ति-ख़र्च बढ़ाने से भी होते हैं। कर चाहे जिस समय लगाया जाय—चाहे वह माल तैयार होते समय लगाया जाय, चाहे भेजते समय, चाहे बेचते समय—फल उसका एक ही सा होता है। अर्थात् कर के कारण क़ीमत बढ़ जाती है। क़ीमत यदि अधिक नहीं बढ़ती तो जितना कर लगता है उतनी तो ज़रूर ही

बढ़ जाती है। परन्तु कर की अपेक्षा क़ीमत के अधिक बढ़ जाने ही की विशेष सम्भावना रहती है।

किसी व्यापार-व्यवसाय के करने का सब लोगों को एक सा अधिकार होने से थोड़ी पूँजी के आदमी भी उसे कर सकते हैं। परन्तु जब इस तरह के नियम बनाये जाते हैं कि अमुक चीज़ का व्यापार अमुक ही रीति से होना चाहिए, अमुक चीज़ को अमुक स्थान ही पर तैयार करना चाहिए, अमुक चीज़ के कारखानों की जांच अमुक अमुक अधिकारियों को करने देना चाहिए तब ऐसी चीज़ों का व्यापार-व्यवसाय करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी रह जाती है; क्योंकि सब लोग सरकारी नियमों का पालन नहीं कर सकते। जब किसी चीज़ के निर्माता या व्यापारी कम हो जाते हैं तब पारस्परिक स्पर्धा भी कम हो जाती है। इससे थोड़े ही आदमियों के हाथ में इस तरह के व्यापार-व्यवसाय रह जाते हैं; और चढ़ा-ऊपरी न रहने, या बहुत ही कम हो जाने, से वे लोग ऐसी चीज़ों की क़ीमत बढ़ा देते हैं। इसे करों ही की करामात का फल समझना चाहिए। करों के वसूल करने में सब तरह का सुभीता हो; ऐसा न हो कि कोई आदमी कर देने से बच जाय; इसलिए गवर्नमेंट को टेढ़े मेढ़े नियम बनाने पड़ते हैं। उन नियमों का पालन सबसे नहीं हो सकता। इससे व्यापारियों और व्यवसायियों का नम्बर कम हो जाता है और वे लोग कर की मात्रा से अधिक क़ीमत वसूल करके बेहद लाभ उठाते हैं। इस प्रकार के व्यापार या व्यवसाय को एकाधिकार-व्यापार या व्यवसाय कहते हैं। नमक, अफ़ीम और शराब पर कर लगा कर गवर्नमेंट ने इन चीज़ों के व्यापार-व्यवसाय एकाधिकार अपने हाथ में कर रक्खा है। इससे गवर्नमेंट को तो लाखों रुपये का लाभ होता है; पर इस एकाधिकार के कारण इन चीज़ों का व्यापार करने में प्रजा को यथेष्ट सुभीता नहीं होता। इसके सिवा करों के कारण इन चीज़ों की क़ीमत जो बढ़ जाती है उसे भी चुपचाप देना पड़ता है। इनकी उत्पत्ति में जो ख़र्च पड़ता है वह, और करों की रक़म, दोनों की अपेक्षा अधिक ख़र्च करने पर कहीं लोग इनका व्यापार करने पाते हैं। इस सब ख़र्च का बोझ अन्त में नमक, अफ़ीम और शराब मोल लेकर व्यवहार करने वालों पर पड़ता है। हमारी गवर्नमेंट हिन्दु-

स्तान में राज्य भी करती है और थोड़ा सा व्यापार भी करती है। अफ़ीम और शराब के व्यापार का प्रतिबन्ध करके उसे अपने हाथ में रखना तो किसी प्रकार न्याय-सङ्गत भी माना जा सकता है; क्योंकि गवर्नमेंट का प्रतिबन्ध दूर हो जाने से इन मादक चीज़ों के व्यवहार के बढ़ जाने का डर है। परन्तु नमक पर कर लगा कर गवर्नमेंट ने जो उसपर अपना एकाधिकार कर रक्खा है सो किसी तरह उचित नहीं।

सम्पत्ति-शास्त्र के वेत्ताओं की राय है कि जीवन-निर्वाह के लिए जिन चीज़ों की अमीर-ग़रीब सब को एक सी ज़रूरत रहती है उन पर कर न लगाना चाहिए। कर उन्हीं चीज़ों पर लगाना चाहिए जो निर्वाह के लिए अत्यावश्यक न समझी जाती हों। अर्थात् विलास-द्रव्यों पर ही कर लगाना मुनासिब है। इसके पहले परिच्छेद मे लिखा जा चुका है कि जितनी आमदनी जीविका-निर्वाह के लिए ज़रूरी समझी जाती है उस पर कर नहीं लगता। इसी नियम के अनुसार गवर्नमेंट हज़ार रुपये से कम आमदनी वालों से इन्कमटेक्स नहीं लेती। परन्तु इस नियम का परिपालन वह परोक्ष करों के विषय में नहीं करती। जो आदमी यह क़बूल करले कि जिन की आमदनी जीविका-निर्वाह ही भर के लिए है उनसे कर न लेना चाहिए, उसे यह भी क़बूल करना चाहिए कि जीविका-निर्वाह की आवश्यक चीज़ों पर भी कर लगाना अनुचित है। काच के सामान, रेशमी कपड़े, क़ीमती दवाइयां इत्यादि पर यदि कर लगाया जाय तो मुनासिब है। इन चीज़ों को सिर्फ़ समर्थ लोग ही ले सकते हैं। और जिनके पास इन विलास-द्रव्यों को लेने के लिए द्रव्य होगा वे इन पर का कर भी सहज ही दे सकेंगे। पर नमक ऐसी चीज़ है जिसे, दो आने रोज़ कमाने वाले मज़दूर ही को नहीं, किन्तु भीख माँग कर दो पैसे लाने वाले भिखारी को भी, मोल लेना पड़ता है। वह विलास-द्रव्य नहीं। अतएव उस पर कर लगाना अनुचित है।

उपजीविका के आवश्यक पदार्थों पर कर लगाने का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। कर लगाने से चीज़ों की क़ीमत बढ़ जाती है। इससे ग़रीब आदमियों को वे चीज़ें यथेष्ट नहीं मिल सकतीं। मान लीजिए कि चीज़ें महँगी बिकने पर भी, ग़रीब मज़दूरों की मज़दूरी का निर्ख़ बढ़ जाने

से, उनकी कोई हानि नहीं होती । तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि मज़दूरी अधिक होने से कारख़ानेदारों और व्यवसाइयों के मुनाफ़े की मात्रा कम हो जायगी । और मुनाफ़ा कम हो जाने से पूँजी कम होकर मज़दूरी का निर्ख़ भी कुछ दिन में ज़रूर ही कम हो जायगा । यदि कारख़ानेदार और व्यवसायी अपनी पूँजी से अधिक मज़दूरी न देकर अपने हिस्से की प्राप्ति से मज़दूरी देंगे तो ख़ुद उनकी हानि होगी । इन दो बातों में से एक बात अवश्य होगी । अर्थात् या तो मज़दूरों को हानि पहुँचेगी या जिनसे उन्हें मज़दूरी मिलेगी उन लोगों की हानि होगी । हानि से किसी तरह रक्षा न हो सकेगी । अतएव अनाज, नमक, तेल, लकड़ी, मोटा कपड़ा, पीतल के बर्तन आदि निर्वाहोपयोगी चीज़ों पर कभी कर न लगाना चाहिए । ऐसे करों से देश का कभी हित नहीं होता ।

पर, विलास-द्रव्यों पर कर लगाने से हानि के बदले लाभ होता है । क्योंकि ऐसी चीज़ों के लिए जो रुपया ख़र्च किया जाता है वह प्रायः अनुत्पादक होता है । इससे उनकी क़ीमत बढ़ भी जाय तो कोई अहितकारक परिणाम नहीं हो सकता । पहले तो ऐश-आराम की चीज़ें मोल लेकर व्यर्थ सम्पत्ति-नाश करना ही मुनासिब नहीं । पर जो लोग इतने धनी हैं कि ऐसी चीज़ें लेकर अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग कर सकते हैं, उन्हें इन चीज़ों पर लगाये गये कर देने में भी कोई विशेष कष्ट नहीं हो सकता ।

ज़िन लोगों का काम कर लगाना है उन्हें बहुत सोच समझ कर ऐसी ही चीज़ों पर कर लगाना चाहिए जिनकी मूल्य-वृद्धि का असर कम आमदनी के आदमियों पर न पड़े । बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं जिन पर कर न लगना चाहिए; परन्तु इस देश में उन पर भी लगता है । परिणाम भी इसका बुरा हो रहा है । तथापि कर जैसे का तैसा बना हुआ है । यह दुःख की बात है ।

प्रत्यक्ष कर देते लोगों को बहुत खलता है । ऐसे करों की रक़म निश्चित करने के लिए लोगों की आमदनी की जाँच करनी पड़ती है । कर वसूल करने वाले कर्म्मचारियों के बुरे बर्ताव के कारण लोगों का चित्त कलुषित हो जाता है । जिससे कर न लेना चाहिए उससे भी कभी कभी

ले लिया जाता है। इन कारणों से प्रजा में असन्तोष पैदा होने का डर रहता है और प्रजा को असन्तुष्ट करना राजा के लिए कभी हितकर नहीं। इससे दूरदर्शी राजे और शासनकर्ता यथासम्भव प्रत्यक्ष कर न लगा कर परोक्ष ही कर अधिक लगाते हैं।

परोक्ष कर बहुधा व्यवहारोपयोगी चीज़ों पर ही लगाये जाते हैं। कपड़े पर कर, शराब पर कर, नमक पर कर, अफ़ीम पर कर—ये सभी परोक्ष कर हैं। जो लोग ये चीज़ें लेकर ख़र्च करते हैं उनकी संख्या लाखों नहीं करोड़ों है। पर प्रत्यक्ष तौर पर उन सब से कर नहीं वसूल किया जाता। जो लोग इन चीज़ों का व्यापार करते हैं उन्हीं से इकट्ठा कर ले लिया जाता है। इससे कर वसूल करने में गवर्नमेंट का ख़र्च भी कम पड़ता है और कर देने वालों को तकलीफ़ भी कम होती है। कर के कारण इन चीज़ों का भाव महँगा ज़रूर हो जाता है; तथापि उसका बोझ उतना नहीं मालूम होता। इसके सिवा इस तरह कर वसूल करने से प्रजा का मन भी क्षुब्ध नहीं होता और होता भी है तो बहुत कम। क्योंकि इन चीज़ों को मोल लेते समय बहुत कम लोगों को इस बात का ख़याल होता है कि कर लगाने के कारण ही ये महँगी बिक रही हैं।

परोक्ष करों का बोझ अमीर आदमियों की अपेक्षा ग़रीबों ही पर अधिक पड़ता है। क्योंकि ऐसे कर प्रायः व्यवहारोपयोगी चीज़ों ही पर लगाये जाते हैं। यह बात एडम स्मिथ के कर-सम्बन्धी पहले नियम के प्रतिकूल है। उसका सिद्धान्त यह है कि जिसकी जितनी आमदनी हो उसे उसी के अनुसार कर देना चाहिए। पर अमीरों और साधारण स्थिति के आदमियों को व्यवहारोपयोगी चीज़ें बहुधा एक सी ख़र्च करनी पड़ती हैं। इससे पूर्वोक्त सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। अमीरों के यहाँ महीने में यदि आठ सेर शक्कर के लिए तीन रुपये देने पड़ते हैं तो उन्हें ज़रा भी नहीं खलता। परन्तु साधारण स्थिति के आदमियों को ज़रूर खलता है। उन्हें यदि तीन रुपये के बदले दो ही देने पड़ें तो शेष एक रुपया उनके किसी और काम आवे। शक्कर की बात जाने दीजिए। उसका तो हमने योंही, उदाहरण के तौर पर, उल्लेख किया। नमक को लीजिए। उस पर गवर्नमेंट कड़ा

कर लेती है। पर नमक ऐसी चीज़ है जिसके बिना किसी का काम नहीं चल सकता। गली गली भीख माँगने वाले घर-द्वार-हीन भिखारियों को भी नमक चाहिए। यदि एक आदमी महीने में आध सेर नमक खर्च करे तो साल भर के लिए उसे छः सेर नमक चाहिए। जिस कुटुम्ब में सिर्फ़ तीन आदमी हैं उसे साल में अठारह सेर नमक लेना पड़ता है। एक मन नमक तैयार करने में एक आने से अधिक खर्च नहीं पड़ता। पर गवर्नमेंट उस पर जो कर लेती है वह उसकी लागत से कई गुना अधिक है। जिसकी आमदनी १००० रुपये से कम है उसे अपनी आमदनी पर कर नहीं देना पड़ता। पर हज़ार, पाँच सौ, चार सौ, तीन सौ, दो सौ, सौ: पचास की बात जाने दीजिए, जिसकी आमदनी एक ही आना है वह भी इस कर से नहीं बच सकता। एक छदाम का भी नमक लेने में सरकार को कर देना पड़ता है। इस तरह का कर शायद ही पृथ्वी की पीठ पर और कहीं लिया जाता हो। इस बात को गवर्नमेंट समझती है। इसीसे वह इस कर को कम करती जाती है। गत पाँच सात वर्षों में दो दफ़े इस कर में कमी की गई है।

विलायत से जो कपड़ा इस देश में आता है उस पर साढ़े तीन रुपये सैकड़े के हिसाब से कर देना पड़ता है। इस देश में कपड़े के व्यवसाय की उन्नति करने के लिए यहाँ के कपड़े की मिलों की रक्षा के लिए यह कर नहीं लगाया गया। किन्तु थोड़ी सी सरकारी आमदनी बढ़ाने के लिए लगाया गया है। पर विलायत के व्यवसायियों ने इस कर का विरोध किया। उन्होंने कहा कि इस कर के कारण हमारा कपड़ा महँगा हो रहा है। अतएव उसका खर्च हिन्दुस्तान में कम हो जायगा। हिन्दुस्तान वाले अपने ही देश का कपड़ा अधिक लेंगे। उनकी बात मान कर गवर्नमेंट ने यहाँ के देशी कपड़े पर भी एक साइज़ टैक्स नाम का कर लगा दिया। यह बात गवर्नमेंट ने एडम स्मिथ के सिद्धान्त के खिलाफ़ की। क्योंकि यहाँ जो कपड़ा बनता है वह प्रायः मोटा होता है। उसे बहुत करके ग़रीब आदमी ही काम में लाते हैं। अतएव उस पर कर लगाना, मानों ग़रीब आदमियों पर कर लगाना है। इसके प्रतिकूल विलायत से जो कपड़ा आता है वह यहाँ के कपड़े की अपेक्षा विशेष अच्छा होता है। उसे अधिक आमदनी वाले लोग

ही ले सकते हैं। वह एक प्रकार का विलास-द्रव्य है। इससे उस पर कर लगाना सब तरह मुनासिब है। परन्तु हिन्दुस्तान का कपड़ा वैसा नहीं होता। इससे उस पर कर लगाना उचित नहीं।

ज़मीन का लगान जो गवर्नमेंट को देना पड़ता है वह भी एक प्रकार का कर है। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश है। यहाँ फ़ी सदी ८५ नहीं तो ८० आदमियों की जीविका किसानी से ही चलती है। हम सब को ज़मीन पर कर देना पड़ता है। एक भी आदमी उससे नहीं बचता। फिर यह कर घटता नहीं, दिनों दिन बढ़ता ही जाता है।

सारांश यह कि ज़मीन, नमक और कपड़े पर जो कर लिया जाता है उसका असर ग़रीब से ग़रीब आदमियों पर पड़ता है। इन करों का भार अन्य देशों पर ज़रा भी न पड़ कर कुल इसी देश की प्रजा पर पड़ता है। यह कहाँ तक उचित है, इसे और स्पष्ट करके समझाने की ज़रूरत नहीं।

चाथा परिच्छेद।

विदेशी व्यापार पर कर।

राज्य-प्रबन्ध के लिए रुपया दरकार होता है। बिना रुपये के गवर्नमेंट का काम नहीं चल सकता। यह रुपया प्रजा पर कर लगा कर वसूल किया जाता है। प्रजा ही के आराम के लिए—प्रजा ही की रक्षा के लिए—राज्य-स्थापना होती है। इससे राजा को ख़र्च भी प्रजा ही से मिलना चाहिए। इस बात का उल्लेख इस भाग के पहले परिच्छेद के आरम्भ में हो चुका है। अतएव फिर इस विषय में वही बातें लिख कर पुनरुक्ति करने की ज़रूरत नहीं।

देश-प्रबन्ध के लिए कर देना जैसे प्रजा का कर्तव्य है, वैसे ही प्रजा पर कर का अकारण बोझ न डालना राजा का कर्तव्य है। न्यायी और प्रजा-पालक राजा की सदा यही इच्छा रहती है कि यथा-संभव मेरी प्रजा सुखी रहे, और जहाँ तक हो सके मतलब से अधिक कर उससे न लिया जाय। वह इस बात को भी सोचता रहता है कि जो रुपया राज-प्रबन्ध के लिए दर-

कार है उसका कुछ अंश बाहर से भी मिल सकता है या नहीं। क्योंकि, जब तक विदेश से प्राप्ति हो सके तब तक स्वदेश का धन ख़र्च करना युक्ति-सङ्गत नहीं। इसी ख़याल से राजा विदेशी-व्यापार पर कर लगा कर देश की आमदनी बढ़ाने की कोशिश करता है।

जो चीज़ें विदेश जाती हैं और विदेश से जो अपने देश में आती हैं उन पर कर लगाने के दो उद्देश हो सकते हैं। एक तो यह कि अपनी प्रजा पर करों का बोझ कम पड़े, अर्थात् विदेशी माल पर कर लगाकर यथा-संभव विदेशियों ही से रुपया वसूल किया जाय। दूसरा यह कि विदेश से आने वाले माल पर कर लगा कर उसकी आमदनी रोकी जाय और तद्द्वारा अपने देश के व्यापार-व्यवसाय की उन्नति की जाय। इस पिछले उद्देश से विदेशी माल की आमदनी का जो नियमन या प्रतिबन्ध किया जाता है उसी का नाम बन्धन-विहित या संरक्षित व्यापार है। इस विषय का विचार किया जा चुका है। अतएव इस परिच्छेद में सिर्फ़ पहले उद्देश के सम्बन्ध में कुछ कहना है।

विदेशी-व्यापार की परिभाषा में आयात और यात दोनों तरह के माल का समावेश होता है। जो माल विदेश से आता है वह भी विदेशी-व्यापार के अन्तर्गत है, और जो विदेश जाता है वह भी। अर्थात् विदेशी व्यापार पर कर लगाने से मतलब आयात और यात दोनों प्रकार के माल पर कर लगाने से है। जो माल विदेश से आकर अपने देश में बिकता है उस पर लगाया गया कर अपने ही देश की प्रजा को देना चाहिए। इसी तरह जो माल अपने देश से अन्य देशों को जाता है उस पर लगाये गये कर का बोझ अन्य देश वालों पर पड़ना चाहिए। साधारण नियम यही है। अर्थात् अन्त में माल लेकर जो उसे काम में लावेगा उसी के घर से कर का रुपया जाना चाहिए। परन्तु विदेशी व्यापार की वस्तुओं पर लगाये गये कर का असर हमेशा एकसा नहीं पड़ता। कभी कभी साधारण नियम के प्रतिकूल फल होता है। अर्थात् स्थूल-दृष्टि से ऐसे करों का बोझ जिन पर पड़ना चाहिए उन पर नहीं पड़ता।

जो माल विदेश जाता है उस पर कर लगाने से उस कर का थोड़ा

बहुत असर विदेशियों पर ज़रूर पड़ता है। उस कर से अपने देश की आमदनी थोड़ी बहुत ज़रूर बढ़ जाती है। परन्तु यह तभी हो सकता है जब अन्य देशों को अपने माल की बहुत ही अधिक ज़रूरत हो—अर्थात् जब उसके बिना और देशों का कामही न चल सकता हो। जब अपने माल का विदेश में बेहद खप होता है, और कर लगाने से उसकी क़ीमत बढ़ जाने पर भी उसकी रफ़्नी के कम होने का डर नहीं होता, तभी उससे अपने देश को लाभ पहुँच सकता है। यदि यह बात न होगी तो अपने माल पर कर लगाने से लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना रहती है।

हिन्दुस्तान में अफ़ीम बहुत होती है और अच्छी होती है। इतनी अच्छी और इतनी अधिक अफ़ीम और कहीं नहीं होती। इस देश की गवर्नमेंट ने अफ़ीम पर अपना एकाधिकार कर रक्खा है। करोड़ों रुपये की अफ़ीम हर साल यहाँ की गवर्नमेंट चीन को भेजती है। उसका वहाँ बेहद खप है। अफ़ीम बिना चीनवालों का काम नहीं चल सकता। वे पहले दरजे के अफ़ीमची हैं। और हिन्दुस्तान की ऐसी अफ़ीम उन्हें और देशों से मिल नहीं सकती। इसीसे गवर्नमेंट ने अफ़ीम पर कस कर कर लगाया है। उससे कई करोड़ रुपये की आमदनी गवर्नमेंट को होती है और चीनवाले चुपचाप कर का रुपया देते हैं। इस कर का सारा बोझ चीनवालों ही पर पड़ता है। यदि वे इससे बचना चाहें तो नहीं बच सकते। क्योंकि उनके यहाँ अफ़ीम का जितना खप है उसे, और देश से अफ़ीम लेकर, वे नहीं पूरा कर सकते। हाँ यदि वे अफ़ीम खाना बन्द कर दें तो ज़रूर इस कर से उनका छुटकारा हो जाय। चीन की गवर्नमेंट वहाँ वालों की इस आदत को छुड़ाने का यत्न कर रही है। इससे धीरे धीरे अफ़ीम की रफ़्नी कम हो जायगी। पर जब तक चीनवालों की अफ़ीम खाने की आदत नहीं छूटती तब तक हिन्दुस्तान से अफ़ीम बराबर जाती रहेगी। विदेश जानेवाले जिस माल पर कर लगाने से कर का बोझ अन्य देशों ही पर पड़ता है, अफ़ीम पर लगाया गया कर उसका बहुत अच्छा उदाहरण है।

अच्छा, अब इसका उलटा उदाहरण लीजिए। हिन्दुस्तान से मोटा कपड़ा भी थोड़ा बहुत चीन को जाता है। कल्पना कीजिए कि यहाँ की गव-

र्नमेंट ने उस पर कम कर कर लगाया। परिणाम यह होगा कि चीनवालों को यहाँ का कपड़ा महँगा पड़ेगा। चीन में सिर्फ़ यहीं से कपड़ा तो जाता नहीं, और और देशों से भी जाता है। वहाँ के कपड़े पर कर न होने, या कम होने, से वह सस्ता बिकेगा। इससे हिन्दुस्तान के कपड़े का खप कम हो जायगा। अर्थात् अधिक कर लगाने का फल यह होगा कि यहाँ का कपड़ा चीन को कम जाने लगेगा। अपना मोटा कपड़ा देकर चीन से जो रेशमी कपड़ा हमें मिलता था वह भी अब कम मिलने लगेगा। क्योंकि जब हमारे माल की रफ़्नी कम होजायगी तब उसके बदले में मिलनेवाले माल की आमदनी भी कम होजायगी। इस कारण दोनों तरह से हमारी हानि होगी—यात और आयात दोनों तरह के माल का परिमाण कम हो जायगा। विदेशी व्यापार कम होने से व्यापारियों और व्यवसायियों का मुनाफ़ा कम हो जायगा। अर्थात् देश की सम्पत्ति को धक्का पहुँचेगा। पूँजी कम हो जायगी। मज़दूरों को मज़दूरी कम मिलने लगेगी। अतएव विदेश जाने वाले जिस माल की स्पर्धा करनेवाले और देश भी हों उस पर कर लगाना कभी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता। उस पर कर लगाने से लाभ के बदले हानि उठानी पड़ती है।

अच्छा, अब, विदेश से आनेवाले आयात माल पर जो कर लगता है उसका विचार कीजिए। ऐसे माल पर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दो उद्देशों से कर लगाया जाता है। एक तो अपने देश के उद्योग-धंधे और कला-कौशल को उन्नत करने के लिए, दूसरे अपने देश की आमदनी बढ़ाने के लिए। यदि पहले उद्देश से कर लगाया जाय तो हमेशा के लिए उसे न लगाना चाहिए। स्वदेश के जिस व्यवसाय—जिस उद्योग—की वृद्धि के लिए कर लगाया गया हो उसके चल निकलते ही कर उठा लेना चाहिए या कम कर देना चाहिए; और सिर्फ़ उसी माल पर कर लगाना चाहिए जिसके अपने देश में तैयार होने या तरक्की पाने की उम्मेद हो। इस समय हिन्दुस्तान में कपड़े की बहुत सी मिलें चलने लगी हैं। पर उनका कपड़ा विलायती कपड़े का मुक़ाबला नहीं कर सकता। अतएव विलायती कपड़े पर जो कर लगता है वह यदि कुछ बढ़ा दिया जाय तो विलायती कपड़ा महँगा हो

जाय इससे उसकी आमदनी कम हो जाय और स्वदेशी कपड़ा लोग अधिक लेने लगें। जब यहाँ की मिलें विलायती मिलों का मुक़ाबला करने लायक़ हो जायँ तब विलायती कपड़े पर लगाया गया अधिक कर उठा दिया जाय। इससे हिन्दुस्तान को बहुत फ़ायदा हो सकता है।

यदि सिर्फ़ देश की आमदनी बढ़ाने के लिए विदेशी आयात माल पर कर लगाया जाय तो कर इतना न होना चाहिए कि माल की आमदनी बिलकुल ही बन्द हो जाय। वह इतना ही होना चाहिए जिसमें उस माल की आमदनी थोड़ी कम चाहे भले हो जाय, पर बन्द न हो।

आयात माल पर जो कर लगाया जाता है उस कर का बोझ अपने ही देश पर पड़ना चाहिए। पर कभी कभी फल इसका उलटा होता है। विदेश से जो माल आता है उसकी आमदनी कर लगाने पर भी यदि पूर्ववत् ही होती गई तो माल भेजने वाले देश की कुछ भी हानि नहीं होती। और होती भी है तो बहुत कम। खप बना रहने से वह माल आता ही जायगा और उसके बदले जो माल अपने देश से जाता होगा वह भी पूर्ववत् जाया ही करेगा। कर लगाने का परिणाम यह होगा कि माल की असल क़ीमत और कर, दोनों रक़में, अपने ही को देनी पड़ेंगी। कर के कारण माल महँगा हो जायगा। अतएव कर लगाने से उलटी अपनी ही हानि होगी। कर का सारा बोझ अपने ही देश पर पड़ेगा।

आयात माल पर कर लगाने से कर का बोझ साधारण तौर पर यद्यपि अपने ही ऊपर पड़ता है तथापि कर के कारण माल का ख़र्च थोड़ा बहुत ज़रूर कम हो जाता है। क्योंकि माल महँगा होने से कुछ लोग, ग़रीबी के कारण, उसे नहीं ले सकते। इस दशा में आयात माल पर लगाये गये कर का सब नहीं तो कुछ बोझ अन्य देश पर भी पड़ता है। अर्थात् वह दोनों देशों में बट जाता है।

मान लीजिए कि विलायत से हिन्दुस्तान में कपड़ा आता है और उसके बदले यहाँ से अनाज जाता है। विलायती कपड़े पर हमने कर लगा दिया। इस दशा में इँगलेंड को कपड़े के बदले मिलने वाली रक़म पहले ही की इतनी मिलेगी; पर इँगलेंड से कर के बराबर रक़म हिन्दुस्तान को अधिक

मिलेगी। कर के कारण विलायती कपड़ा पहले की अपेक्षा कुछ महँगा हो जायगा। इससे उसका खप थोड़ा बहुत ज़रूर कम होगा। खप कम होने से कपड़े के बदले जो रक़म हर साल इँगलेंड को हिन्दुस्तान से मिलती थी वह भी कम हो जायगी। अब मान लीजिए कि इँगलेंड में जितना अनाज खपता है उतना हिन्दुस्तान से बराबर जाता है। उसमें कमी नहीं हुई। अतएव उस अनाज के बदले जो रक़म हिन्दुस्तान को इँगलेंड से मिलती है वह बराबर मिलती रहेगी। पहले अनाज के बदले जो रक़म इँगलेंड को देनी पड़ती थी वह कपड़े के बदले की रक़म से पट जाती थी। अब वह बात न होगी। अनाज की क़ीमत कपड़े की क़ीमत से न पटेगी। हिन्दुस्तान से जितने का माल जायँगा उतने का माल इँगलेंड से न आवेगा। उससे कम का आवेगा। अर्थात् कुछ रक़म इँगलेंड से हिन्दुस्तान को नक़द मिलेगी। यह रक़म यदि बराबर मिलती जायगी तो हिन्दुस्तान में रुपया अधिक होजायगा। इस कारण व्यवहारोपयोगी चीज़ें पहले की अपेक्षा महँगी बिकने लगेंगी। उधर इँगलेंड में रुपये की तंगी होगी; क्योंकि उसे बहुत सा रुपया हिन्दुस्तान को नक़द भेजना पड़ेगा। इससे वहां व्यवहारोपयोगी चीज़ें सस्ती हो जायँगी। हिन्दुस्तान में अनाज महँगा बिकेगा। इँगलेंड में कपड़ा सस्ता होगा। अर्थात् हमारे अनाज के बदले इँगलेंड पहले की अपेक्षा अधिक क़ीमत देगा—हमें अधिक कपड़ा मिलेगा और सस्ता मिलेगा।

इससे सिद्ध है कि किसी किसी स्थिति में आयात माल पर कर लगाने से उस कर का सारा बोझ अपने ही देश पर न पड़ कर अन्य देश पर जा पड़ता है। अपने ही देश के आदमियों पर कर लगा कर आमदनी बढ़ाने की अपेक्षा, अवस्थाविशेष में, आयात माल पर कर लगाने से अपने देश को ज़रूर लाभ पहुँच सकता है। किसी किसी का ख़याल है कि विलायत से आने वाले कपड़े पर कर लगाने से माल महँगा बिकेगा; इससे अपने देश वालों के घर से अधिक रुपया जायगा और ग़रीब आदमियों को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ेगी। पर पूर्वोक्त उदाहरण से यह सम्भावना भ्रान्ति-पूर्ण मालूम होती है। कर लगाने से शुरू शुरू में यदि कपड़ा महँगा भी हो जायगा तो बहुत दिन तक महँगा न रहेगा। उसका खप ज्योंही कम होगा

त्योंही सस्ता बिकने लगेगा। अतएव अपने देश की हानि न होगी। कर लगाने के कारण उलटा अपने देश की आमदनी बैठे बैठाये बढ़ जायगी। इसके सिवा कपड़े के बदले में जाने वाला अनाज महँगा हो जाने से उसकी क़ीमत भी अधिक मिलने लगेगी। इस प्रकार अपने देश का दो तरह से फ़ायदा होगा।

कुछ समय से स्वदेश-वस्तु-व्यवहार की प्रीति भारतवासियों में थोड़ी बहुत जागृत हुई है। लोग अब विलायती कपड़ा कम पसन्द करने लगे हैं। फल यह हुआ है कि पहले की अपेक्षा विलायती कपड़ा सस्ता बिकने लगा है। यह पूर्वोक्त सिद्धान्त के सच होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विलायती कपड़े पर इस समय जो साढ़े तीन रुपये सैकड़े के हिसाब से कर लगता है वह बहुत कम है। उससे इस देश को यथेष्ट आमदनी नहीं होती। यदि वह कुछ बढ़ा दिया जाय तो इस कर-वृद्धि से हिन्दुस्तान की कुछ भी हानि न हो; उलटा लाभ की मात्रा और अधिक हो जाय। इससे स्वदेशी कपड़े के उद्योग-धन्धे की भी विशेष उन्नति हो। पर ऐसा होना सम्भव नहीं जान पड़ता। क्योंकि, हम लोगों की स्वदेश-वस्तु-प्रियता के कारण विलायती कपड़े का खप जो कम होने लगा है वह विलायती व्यापारियों और व्यवसायियों के हृदय में डाह उत्पन्न करने का कारण हो रहा है। वे लोग वर्तमान कर को बिलकुल ही उठवा देने की फ़िक्र में हैं। अभी कुछ समय हुआ, उन्होंने बम्बई के व्यवसायियों को लिखा था कि आवो हम तुम दोनों मिल कर कपड़े के कर को उठा देने के लिए गवर्नमेंट से प्रार्थना करें। हम लोग आयात कपड़े का कर उठाने के लिए लिखें; तुम लोग यात कपड़े का कर उठा देने के लिए। जो कपड़ा यहाँ से विदेश जाता है उस पर भी कर लगता है; पर विदेश से आने वाले कपड़े की अपेक्षा कम लगता है। अतएव, दोनों कर उठा दिये जायँ तो विलायत वालों ही को विशेष लाभ हो, इस देश वालों को उतना नहीं। विलायत वालों की यह चालाकी यहाँ वालों के ध्यान में आ गई। इससे उन्होंने उनके इस औदार्य्यपूर्ण काम में शरीक़ होने से इनकार कर दिया।

आयात और यात माल पर लगाये जाने वाले करों का यहाँ तक संक्षिप्त

विचार किया गया । इससे सिद्ध हुआ कि इस विषय में कोई ऐसे सर्व-व्यापक नियम नहीं निश्चित किये जा सकते कि किस तरह का कर लगाना अच्छा है—किस तरह का कर लगाने से अधिक लाभ पहुँचने की सम्भावना है। विदेशी-माल-सम्बन्धी करों के विषय में साधारण तौर पर सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि आवश्यक उपजीविका के पदार्थों पर कर न लगाना चाहिए। विलास-द्रव्यों पर ही कर लगाना मुनासिब है। जिन चीज़ों का खप कम है, ऐसी अनेक चीज़ों पर कर लगाने की अपेक्षा जिनका खप बहुत है, ऐसी थोड़ी चीज़ों पर कर लगाना अधिक लाभदायक है। ऐसा करने से कर वसूल करने में खर्च भी अधिक नहीं पड़ता और कर देने वालों को विशेष कष्ट भी नहीं होता। जिस समय ग्लैडस्टन साहब इँगलेंड के प्रधान मन्त्री थे उस समय वहाँ तीन चार सौ चीज़ों पर कर लगता था। पर उन्होंने उन सब के ऊपर का कर उठा कर सिर्फ़ चार ही पाँच मुख्य मुख्य चीज़ों पर कर लगाया। यह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि थोड़ी खर्च होने वाली बहुत सी चीज़ों पर कर लगाना राजा या प्रजा किसी के भी लिए हित-कर नहीं।

पाँचवाँ भाग।

देशान्तर-गमन।

मनुष्य को अनेक प्रकार की व्यवहारोपयोगी चीज़ें दरकार होती हैं। जो देश जितना ही अधिक सभ्य और शिक्षित है उसके लिए उतनी ही अधिक चीज़ें भी चाहिए। जो जितनी अधिक अच्छी दशा में है, ज़रूरतें भी उसकी उतनी ही अधिक हैं। जिसकी अवस्था या स्थिति समाज में जितनी ऊँची है, ख़र्च भी उसका उतना ही अधिक है। अधिक ख़र्च करने के लिए आमदनी भी अधिक चाहिए। मनुष्य-संख्या की वृद्धि के साथ साथ यदि आमदनी भी अधिक न होती गई तो व्यवहारोपयोगी चीज़ें पूर्ववत् नहीं प्राप्त हो सकतीं, और, अभावों की पूर्ति न होने से मनुष्य को सैकड़ों तरह की तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं। कल्पना कीजिए कि किसी कुटुम्ब में एक पुरुष और एक स्त्री, ऐसे सिर्फ़ दो मनुष्य हैं। समाज की वर्तमान अवस्था में प्रायः यही देखा जाता है कि पुरुष को अपनी स्त्री का भी पालन करना पड़ता है। उसकी सारी आवश्यकतायें दूर करनी पड़ती हैं। अब इस दम्पती से यदि दो लड़के और दो लड़कियाँ पैदा हों तो कुटुम्ब का ख़र्च बहुत बढ़ जायगा। बच्चों को खिलाने पिलाने और उनके लिए कपड़े-लत्ते का प्रबन्ध करने के सिवा, उनकी शिक्षा के लिए भी माँ-बाप को बहुत ख़र्च करना पड़ेगा। यदि इस कुटुम्ब की आमदनी बढ़ न जायगी, अथवा यदि इसकी जनसंख्या कम न हो जायगी, तो इसके कष्टों का ठिकाना न रहेगा। मान लीजिए कि इस कुटुम्ब के अधिकार में सिर्फ़ ५ बीघे पैत्रिक ज़मीन है। उससे स्त्री-पुरुष दो आदमियों का गुज़ारा तो किसी प्रकार हो भी सकता है; पर दो लड़के और दो लड़कियाँ मिल कर

छः आदमियों का गुज़ारा किसी तरह नहीं हो सकता । फल यह होगा कि पेट भर खाना न मिलने से इस कुटुम्ब के आदमियों की शारीरिक अवस्था ख़राब हुए बिना न रहेगी । वे कमज़ोर हो जायँगे और बहुत सम्भव है कि उन्हें अनेक प्रकार की बीमारियों के फन्दे में फँसना पड़े । कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनका असर बीमारों के वंशजों तक पहुँचता है । पुश्त दर पुश्त उन लोगों को भी उन बीमारियों का फल भोगना पड़ता है । यदि बीमारियाँ न भी हुईं तो काफ़ी ख़ूराक न मिलने से शरीर ज़रूर ही कमज़ोर हो जाता है और कमज़ोर आदमियों की सन्तान भी कमज़ोर ही होती है ।

यदि किसी देश या किसी जाति में मनुष्यों की संख्या स्वाभाविक सीमा से बढ़ जाती है तो प्रकृति को ख़ुद ही उसका इलाज करना पड़ता है । प्रकृति या परमेश्वर ने नियम कर दिया है कि मनुष्यों की वृद्धि अमुक संख्या से अधिक न हो । जब वह अधिक हो जाती है, और अधिकता के कारण मनुष्य की आवश्यकताओं के पूर्ण होने में बाधा आती है, तब दुर्भिक्ष, मरी, भूकम्प और युद्ध आदि के द्वारा प्रकृति देवी मनुष्य-संख्या को कम कर देती है । परन्तु सम्पत्तिशास्त्र के वेत्ता वाकर साहब की राय है कि प्रकृति का यह स्वाभाविक इलाज जन-संख्या को कम करने के लिए यथेष्ट नहीं है । हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि प्रति २५ या ३० वर्ष में जन-संख्या दूनी हो जाती है। परन्तु दुर्भिक्ष और मरी आदि से इतना जनसंहार नहीं होता जितने से कि मनुष्यों की साम्पत्तिक अवस्था में कुछ विशेष अन्तर हो सके । ईश्वरी नियमों के अनुसार जन-संख्या की कमी का असर बहुत दिनों तक नहीं रहता । कुछ ही काल बाद फिर जन-संख्या पूर्ववत् हो जाती है । अर्थात् जिस हिसाब से वृद्धि होती है उस हिसाब से ह्रास नहीं होता ।

पश्चिमी देशों के प्रायः सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि जितने प्राणी हैं सब का जीवनमरण एक विशेष सिद्धान्त के अनुसार होता है । इस सिद्धान्त का मतलब यह है कि जो सब से अधिक बलिष्ठ, सशक्त या योग्य है वही दुनिया में चिरकाल तक रह सकता है । इस सिद्धान्त का असर मनुष्यों ही पर नहीं, वनस्पतियों, पशुओं और पक्षियों तक पर पड़ता है । जिन बातों से जीवन की स्थिति है उनमें सदा फेरफार हुआ करता है ।

जीवन धारण करने के सामान, कारण या उपकरण सदा एक से नहीं रहते। जब उनमें सहसा परिवर्तन होता है तब जीवधारियों में भी उन्हीं के अनुकूल परिवर्तन होना चाहिए। परन्तु सब जीवधारियों की स्थिति एक सी नहीं होती। कोई उस परिवर्तित अवस्था में जीवित रहने की शक्ति रखते हैं, कोई नहीं रखते। जिनके शरीर, स्वभाव और निवासस्थान आदि तदनुकूल नहीं होते वे उस नई स्थिति में जीते नहीं रह सकते। यही कारण है जो आज तक कितने ही पुराने पशु-पक्षी और मनुष्य-जातियाँ नष्ट हो गईं। उनका कहीं पता नहीं चलता। रह सिर्फ़ वही प्राणी गये जो उस परिवर्तित अवस्था में जीते रहने की शक्ति या सामर्थ्य रखते थे। कल्पना कीजिए कि किसी देश-विशेष की आबोहवा में सहसा ऐसा परिवर्तन हो गया कि वह चौपायों के लिए बहुत ही हानिकारी है। इस दशा में जो चौपाये उस आबोहवा को सहन कर सकेंगे वही जीते रहेंगे, बाक़ी सब मर जायँगे। दुनिया में इस तरह का फेरफार बराबर होता रहता है। फल यह होता है कि परिवर्तित अवस्था में रह सकने योग्य सिर्फ़ सशक्त प्राणी बच रहते हैं; अशक्त, निर्बल, रोगी, बालक और बूढ़े सब नष्ट हो जाते हैं।

आबादी के कम करने का यह ईश्वर-निर्दिष्ट नियम मनुष्यों को छोड़ कर और प्राणियों के सम्बन्ध में अधिक कारगर होता है। क्योंकि ज्ञान की मात्रा कम होने के कारण और प्राणी अपने अशक्त और निर्बल सजातियों को रोग आदि से बचाने का सामर्थ्य नहीं रखते। चौपायों के बच्चे बड़े होते ही अपनी माँ से अलग हो जाते हैं। फिर चाहे वे भूखे रहें, चाहे प्यासे, चाहे मरें, चाहे जियें, माँ को उनकी कुछ भी परवा नहीं रहती। परन्तु मनुष्य का यह हाल नहीं। मनुष्य अपनी सन्तति की रक्षा करने की अधिक शक्ति रखता है। रोगी होने से दवा पानी करता है। भूखे-प्यासे होने से खिलाता पिलाता है। इससे पूर्वोक्त नैसर्गिक नियम का मनुष्यजाति पर कम असर पड़ता है। तथापि पड़ता ज़रूर है। क्योंकि हर कुटुम्ब अपने ही कुटिम्बियों की परवा करता है, औरों की नहीं। सब की यही इच्छा रहती है कि हमीं ख़ूब आराम से रहें। हमीं को सारी धन-दौलत

मिल जाय । बल में हमीं भीमसेन या रुस्तम हो जायँ । कोई कोई लोग तो यहाँ तक चाहते हैं कि इस दुनिया के अकेले हमीं वारिस बन जायँ । अतएव मानवी सहानुभूति की पहुँच दूर तक नहीं होती । उसकी सीमा बहुत परिमित है । वह अपने ही कुटुम्ब या अपने ही सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों तक पहुँचती है । इस कारण जन-संख्या के कम करने के जो नियम ईश्वर ने बनाये हैं उनमें विशेष बाधा नहीं आती । ईश्वरी नियमों में बाधा आनी भी न चाहिए । यदि ईश्वर के बनाये हुए नियम अचल न हों तो ईश्वर का ईश्वरत्व कहाँ रहे ?

ईश्वर के नियम यद्यपि निष्फल नहीं तथापि तजरिबे से यह मालूम होता है कि जितने मनुष्य पैदा होते हैं उतने मरते नहीं । माल्थस नाम के एक विद्वान् ने आबादी के सम्बन्ध में एक प्राय: सर्वमान्य ग्रन्थ लिखा है । उसमें उसने औसत लगा कर यह सिद्ध किया है कि हर स्त्री-पुरुष के चार बच्चे, दो लड़के दो लड़कियाँ, होती हैं और कोई २५ वर्ष में प्राय: प्रत्येक देश की आबादी दूनी हो जाती है । इस बात का उल्लेख पुस्तक के पूर्वार्द्ध में एक जगह किया जा चुका है । यदि इस जनसंख्या-वृद्धि को कम करने की कोई युक्ति न की जायगी तो कोई समय ऐसा आवेगा जब सब आदमियों के लिए रहने को काफ़ी जगह न मिलेगी । जितने ही अधिक आदमी होंगे उतने ही अधिक व्यवहारोपयोगी पदार्थ उनके लिए दरकार होंगे । भूमि की सीमा परिमित है । भूमि के आश्रय बिना कोई पदार्थ नहीं हो सकता । यदि यह मान भी लें कि कुछ पदार्थ भूमि के आश्रय के बिना भी हो सकते हैं, तो भी खाने की मुख्य चीज़ अनाज तो बिना भूमि के किसी तरह नहीं हो सकता । भूमि दिनों दिन निःसत्व होती जाती है और परती पड़ी हुई भूमि जुतती जाती है । वह हमेशा के लिए काफ़ी नहीं । क्योंकि आदमियों की संख्या तो बढ़ती जाती है, पर भूमि जितनी की उतनी ही है । अतएव सम्पत्ति-शास्त्र के ज्ञाता कहते हैं कि जनसंख्या कम करने के यदि उपाय न किये जायँगे तो किसी समय मनुष्य-जाति को बहुत बड़ी आपदाओं का सामना करना पड़ेगा । हमें ईश्वर के भरोसे बैठा रहना अच्छा नहीं । उद्योग भी हमें करना चाहिए ।

१८१५ ईसवी के अनन्तर फ्रांस देश में सम्पत्ति का ह्रास शुरू हुआ। कुछ समय बाद अमीर-ग़रीब सब की दुर्दशा होने लगी। अतएव प्रजावृद्धि का प्रतिबन्ध करना स्थिर हुआ। फ्रांस वालों ने निश्चय किया कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष के दो तीन से अधिक सन्तान न होनी चाहिए। इसकी पाबन्दी विवेकजन्य कृत्रिम उपायों द्वारा होने लगी। फल भी अच्छा हुआ। अर्थ-कृच्छ्रता बहुत कुछ कम हो गई। अब, इस समय, फ्रांस एक विशेष सम्पत्ति-शाली देश हो गया है। परन्तु अपत्य-प्रतिबन्ध की सीमा वहाँ अब इतनी बढ़ गई है कि कुछ समय से वहाँ के विचारशील जनों को बड़ी चिन्ता होने लगी है। उन्हें डर हो रहा है कि यदि यही हाल रहा तो किसी दिन फ़रासीसी जाति एक बार ही नष्ट हो जायगी। क्योंकि अब वहाँ फ़ौज में भरती होने के लिए काफ़ी जवान नहीं मिलते। अतएव वहाँ अब वंशवृद्धि करने की योजनायें हो रही हैं।

उधर अमेरिका के वर्तमान सभापति रूज़वेल्ट अपत्य-प्रतिबन्ध के बेहद ख़िलाफ़ हैं। वे कहते हैं कि कृत्रिम उपायों से वंश-वृद्धि रोकना ईश्वर के बनाये हुये नियमों का उल्लंघन करना है। अतएव स्वाभाविक तौर पर जितने बच्चे पैदा हों पैदा होने देना चाहिए। सभापति महाशय का कहना बेजा भी नहीं। अमेरिका में अधिक वंश-वृद्धि होने से कोई विशेष हानि की संभावना नहीं। वहाँ की बस्ती उतनी घनी नहीं। अमेरिका नया देश है। हिन्दुस्तान की तरह पुराना नहीं। वहाँ इतनी ज़मीन बेकार पड़ी हुई है कि सैकड़ों वर्ष तक वंशवृद्धि होने से भी ज़मीन की कमी के कारण किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। अतएव वहाँ अपत्य-प्रतिबन्ध करने की तादृश ज़रूरत भी नहीं। तथापि वहाँ के भी किसी किसी खण्ड में आबादी इतनी बढ़गई है कि सब को पेट भर भोजन नहीं मिलता। फल यह हुआ है कि हज़ारों आदमी योरप को जहाज़ों में भरे चले जा रहे हैं।

हिन्दुस्तान में वंशवृद्धि रोकना कठिन काम है। यहाँ की विवाह-प्रथा बहुत पुरानी है। अविवाहित रह कर जन-संख्या कम करने की युक्ति यहाँ नहीं कारगर हो सकती। हाँ, और उपायों से चाहे भले ही वंशवृद्धि कुछ कम हो जाय। यहाँ तो सन्तति के लिए एक नहीं अनेक विवाह करना शास्त्र-

सम्मत बात है। "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" प्रायः साधारण आदमियों के भी मुँह से सुनने में आता है। "पुत्रार्थे क्रियते भार्य्या पुत्रपिण्डप्रयोजनम्" यह एक प्रसिद्ध शास्त्र-वचन है। परन्तु जिस समय का यह वचन है उस समय यह विशाल भारतभूमि धन-धान्य से परिपूर्ण थी और लोक-संख्या भी कम थी। जीवन-संग्राम इतना भीषण न था। भारतवासियों की आवश्यकतायें कम थीं। बहुत ही थोड़ी व्यवहारोपयोगी [illegible] से काम निकल जाता था। परन्तु इस समय आवश्यकताओं के [illegible] लोक-संख्या अधिक हो जाने से इस देश के निवासियों की दशा दिनों दिन बिगड़ती जाती है। प्राचीन शास्त्रकार यदि इस देश की वर्तमान दुःख-दारिद्र-रूपिणी विभीषिका का दर्शन करते तो दयार्द्र हो कर उन्हें कोई नया शास्त्र-वचन ज़रूर विधिबद्ध करना पड़ता।

मनुष्यों की जितनी वंश-वृद्धि होती है, देश में यदि उसी वृद्धि के अनुसार धनागम न हुआ, तो एक ही वर्ष के दुर्भिक्ष से देश का देश उजाड़ हो सकता है। अन्न न मिलने, या बहुत ही थोड़ा मिलने, से शरीर दुर्बल हो जाता है; अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं; और बहुत ही थोड़ी शरीर-पीड़ा से मनुष्यों को इस लोक से प्रस्थान करना पड़ता है। अतएव जिस देश के लिए अधिक धनागम का द्वार खुला न हो उसके लिए वंश-वृद्धि का होना बहुत ही हानिकारी है।

भारत में धनागम बहुत कम होता है। पर वंश-वृद्धि बहुत अधिक होती है। फिर यहाँ की सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश हर साल विलायत चला जाता है। पाश्चात्य सभ्यता की कृपा से मनुष्यों का विलास-द्रव्य-प्रेम बढ़ता जाता है। आमदनी तो अधिक नहीं, पर ख़र्च अधिक होता जाता है। विवाह-प्रथा पूर्ववत् बनी हुई है। अतएव अविवाहित रहने से जन-संख्या की वृद्धि में जो प्रतिबन्ध होता है सो भी नहीं हो सकता। किसी और तरह से भी किसी विवेकजन्य प्रतिबन्ध द्वारा भी वंश-वृद्धि नहीं रोकी जाती। इस दशा में मनुष्य-संख्या कम करने का एक मात्र उपाय देशान्तर-गमन कहा जा सकता है। परन्तु जब तक विवेकजन्य अपत्य-प्रतिबन्ध न किया जायगा तब तक देशान्तर-गमन से भी विशेष लाभ होने की संभावना नहीं है।

क्योंकि चाहे जहाँ लोग जाकर रहें उनकी संख्या ज़रूर ही बढ़ेगी और कुछ दिनों में नई जगह में भी मतलब से अधिक आदमी हो जायँगे। वहाँ भी मनुष्य-संख्या बढ़ने से मज़दूरी का निर्ख़ कम हो जायगा; अनाज महँगा बिकने लगेगा; और व्यवहारोपयोगी चीज़ें काफ़ी तौर पर न मिलेंगी। फिर एक और बात यह है कि जिनको अपने ही देश में खाने पीने की चीज़ें यथेष्ट मिलती हैं वे विदेश जाना [illegible] नहीं करते। और जो ग़रीब हैं उन्हें अन्य देश वाले अपने देश में [illegible]। तथापि यदि जन-संख्या का कुछ अंश देशान्तर-गमन कर जाय तो थोड़े समय के लिए तो ज़रूर ही त्यक्त-देश को लाभ पहुँचे।

भारतवासियों को अपना देश बेहद प्यारा है। उसे वे मरते दम तक नहीं छोड़ाना चाहते। जहाँ तक उन्हें अपने घर, गाँव, नगर या देश में आधे पेट भी खाने को मिलता है वहाँ तक वे स्थानान्तर करना पसन्द नहीं करते। और करें भी तो उन्हें बड़े बड़े दुःख झेलने पड़ते हैं। इस समय हज़ारों भारतवासी मारिशस, डमरारा, ट्रीनिडाड, माल्टा, नट्टाल, ट्रान्सवाल और कनाडा में हैं। उनका जाना आना बराबर जारी भी है। वहाँ वे लोग पैदा भी ख़ूब करते हैं। इससे सिद्ध है कि यद्यपि यहाँ वाले बाहर जाना कम पसन्द करते हैं तथापि प्रबल दरिद्र अथवा और कारणों से प्रेरित होकर वे अब विदेश जाने भी लगे हैं। परन्तु कुछ दिनों से गोरे चमड़े वालों ने इन्हें निकाल बाहर करने की ठानी है। ट्रान्सवाल में भारतवासियों पर जो अत्याचार हो रहा है वह किसे नहीं मालूम? कनाड़ा में यहाँ वालों की जो बेइज़्ज़ती हो रही है उसका वर्णन सुन कर किस भारतवासी का चित्त नहीं सन्तप्त होता? आस्ट्रेलिया में भारतवासियों का प्रवेश-द्वार जो बन्द कर दिया है वह क्या कम अन्याय की बात है? भारत गोरे, अधगोरे, लाल, कम लाल, काले, सब तरह के चमड़े के आदमियों की बपौती है; पर भारत के आदमियों को कहीं अन्य देश में जाकर रहने का अधिकार नहीं! इस दशा में यदि देशान्तर-गमन से किसी विशेष लाभ की संभावना भी हो तो भी बेचारे भारत के लिए वह अप्राप्य नहीं तो दुर्लभ ज़रूर है।

सच पूछिए तो यहाँ वालों के लिए बाहर जाने की अभी वैसी ज़रूरत भी नहीं है। औसत लगाने से मालूम हुआ है कि सारे यूरप में जितने बच्चे पैदा होते हैं, हिन्दुस्तान में १००० पीछे ७५ वहाँ की अपेक्षा कम पैदा होते हैं। पर मरते अधिक हैं। यूरप के मुकाबले में यहाँ उत्पत्ति कम होती है, नाश अधिक होता है। इँगलेंड में एक वर्गमील में ५५० आदमी बसते हैं; हिन्दुस्तान में सिर्फ़ १७० ! यहा पर ४,५०,००० वर्गमील ज़मीन ऐसी पड़ी हुई है जिसमें खेती हो सकती है। हाँ यहा भी कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ कि बस्ती बहुत घनी है। पर कुछ भाग—विशेष करके देशी रियासतों में—ऐसा भी है जहाँ बहुत कम आबादी है। अतएव घने बसे हुए प्रान्तों से लोग यदि कम घने, या बिलकुल ही मनुष्यहीन, भागों में जा बसें तो जो लाभ देशान्तर-गमन से होता है वही भिन्न-प्रान्त-वास से भी हो। यदि ज़मीन का लगान कम हो जाय, सब कहीं इस्तमरारी बन्दोबस्त हो जाय, और अनाज की रफ़्तनी विदेश को कम कर दी जाय तो जितने आदमियों का गुज़ारा इस समय होता है उससे कहीं अधिक का होने लगे। एक बात और भी है। यहाँ के निवासी वैज्ञानिक रीति से खेती करना नहीं जानते। एक बीघे में यहाँ जितना अनाज पैदा होता है यूरप और अमेरिका आदि में उससे दूना, तिगुना होता है। यहाँ शिक्षा प्रचार और उन्नत-प्रणाली से, यंत्रों की सहायता द्वारा, खेती करना सिखलाने की बहुत बड़ी ज़रूरत है। यदि ये सब बातें, या इनमें से थोड़ी भी हो जायँ तो सम्पत्ति की वृद्धि होने लगे; आज कल की अपेक्षा अधिक अनाज पैदा हो; उपजीविका के साधन बढ़ जायँ; और बहुत काल तक देशान्तर-गमन की आवश्यकता न हो। इस कार्य्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न करना राजा और प्रजा दोनों का कर्तव्य है। मङ्गलमय भगवान् इस विषय में हमारी सहायता करें !